श्रीमद्भानुदत्तविरचिता

रसतरंगिणी

अनुवादक
श्री गोपालदत्त जोशी, एम० ए० (संस्कृत-हिन्दी-भाषाविज्ञान)
प्राध्यापक—रामजस कॉलिज,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

सम्पादक
भूमिका-लेखक एवं व्याख्याकार
देवदत्त कौशिक, एम० ए०, एम० लिट्०

मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स
प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली

श्रीमद्भानुदत्तविरचिता रसतरङ्गिणी

गिरां देवि तरङ्गिण्यां वारय क्रूरवारणान् ।
यद्भविष्यति लोकानामाविलो विमलो रसः ॥ १।४ ॥

×

विद्वद्वारिधराः स्नेहं तथा वर्षत सन्ततम् ।
लभते विपुलां वृद्धिं यथा रसतरङ्गिणी ॥ ८।२८ ॥

श्रीमद्भानुदत्तविरचिता

रसतरङ्गिणी

अनुवादक

श्री गोपालदत्त जोशी एम. ए. (संस्कृत-हिन्दी-भाषाविज्ञान)
प्राध्यापक—रामजस कॉलिज, दिल्ली विश्वविद्यालय

सम्पादक

भूमिका-लेखक एवं व्याख्याकार
देवदत्त कौशिक, एम. ए., एम. लिट्.

मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स
प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली

मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स
प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली
५४, रानी झाँसी रोड, नई दिल्ली-११००५५
दुकान : नई सड़क, दिल्ली-११०००६

प्रथम संस्करण, जनवरी १९७४

RASATARANGIṆĪ OF BHĀNUDATTA
translated by **Gopal Dutt Joshi.** and edited
with an introduction and commentary by
Devdutt Kaushik.

श्री देवेन्द्र जैन द्वारा अमर प्रिंटिंग प्रेस, विजय नगर, दिल्ली-११०००९ से
मुद्रित एवं मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली-
११००५५ के हितार्थ प्रकाशित ।

प्राक्कथन

'रसतरङ्गिणी' भानुदत्त का लोकख्यात संस्कृत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है जिसमें भरत मे लेकर लगभग पंद्रहवीं शताब्दी तक के रस-चिन्तकों की शास्त्रीय चिन्तना का समाहार-शैली में अभूतपूर्व उपस्थान तो हुआ ही है, स्वयं इसके रचयिता की कतिपय मौलिक उद्‌भावनाओं ने भी रसशास्त्र की प्रतिष्ठा में अद्‌भुत योगदान किया है। भानुदत्त का रचना-काल सोलहवीं शताब्दी में निश्चित है। इधर हिन्दी-साहित्य का उत्तर-मध्ययुग, अर्थात् रीतिकाल, सोलहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण तक फैला हुआ है जिसमें अनेक शास्त्रनिष्ठ आचार्यों ने अपने रीति-ग्रन्थों का निर्माण किया। इन ग्रन्थों के अधिकांश का सीधा सम्बन्ध प्रत्यक्षतः रस-चिन्तन से है। वास्तव में ये रीतिकालीन आचार्य संस्कृत-ग्रन्थों के ही उपजीवी रहे हैं। इस युग पर जिन संस्कृत-ग्रन्थों का अपरिमित प्रभाव पड़ा है उनमें 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण', 'चन्द्रालोक', 'कुवलयानन्द', 'रसमञ्जरी' और 'रसतरङ्गिणी' का नाम मुख्यतः लिया जाता है। इनमें से 'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण' का काव्य के सर्वाङ्ग, 'रसमञ्जरी' का नायिका-भेद-निरूपण और 'चन्द्रालोक' तथा 'कुवलयानन्द' का उपयोग अलङ्कार-विवेचन के लिए किया गया है। स्पष्ट ही, 'रसतरङ्गिणी' को रस-विवेचन के लिए उपजीव्य ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया। इस ग्रन्थ की महत्ता का इससे अधिक सबल प्रमाण और क्या हो सकता है?

'आधुनिक युग में विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र पर बहुत अधिक अनुसन्धान हो रहा है। अतः शोधार्थी का इस ग्रन्थ से पूर्णतः परिचित होना आवश्यक है। जो विषय उसके अनुसंधान का आधार है, स्वयं उसके ही आधार की उपेक्षा की भी कैसे जा सकती है?' पिछले अनेक वर्षों से यह ग्रन्थ दुष्प्राप्य हो गया है और, जैसाकि मैंने स्वयं देखा है, आधुनिक लाघवलुब्ध अनुसंधित्सु कुछ प्राचीन शोध-प्रबन्धों में उद्धृत इस ग्रन्थ के अंशों को ही उपनी आवश्यकतानुसार पुनरुद्धृत कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ रहे हैं। किन्तु ऐसा नहीं है कि हिन्दी-काव्यशास्त्र की

आवश्यकताओं की पूर्ति-स्वरूप ही इस संस्करण का निर्माण किया गया हो। मूल ग्रन्थ के सम्पादन, अनुवाद, व्याख्या, प्रस्तुतीकरण आदि विविध कार्यों को करते हुए जो उद्देश्य समुपस्थित रहा वह था संस्कृत की इस ज्ञान-राशि का अभिनव पुनराख्यान। इसी दृष्टि से इन दिनों 'अभिधावृत्तिमातृका' और 'साहित्यदर्पण' पर भी कार्य हो रहा है और आशा है कि यह कार्य भी शीघ्र ही पूर्ण हो जाएगा।

प्रस्तुत संस्करण में प्रतिपादन-व्यवस्था का क्रम यह रहा है—मूल संस्कृत पाठ→हिन्दी अनुवाद→व्याख्या अथवा टिप्पणी। मूल पाठ मोटे अक्षरों में है और पद्य तथा गद्य में इसी एक टाइप का प्रयोग किया गया है जिससे वह शीघ्रता से नेत्रग्राह्य हो सके। इससे कुछ कम मोटे अक्षरों में कोष्ठकों के अन्तर्गत अनुवाद प्रस्तुत किया गया है और बारीक अक्षरों में व्याख्या। मूल पाठ के विविध अंश भी विषयानुसार विभाजित किए गए हैं जिससे पाठकों को अनुवाद और व्याख्या के संदर्भ में किसी एक विषय का एक ही स्थान पर परिचय प्राप्त हो जाए और विषय-क्रम में भी किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित न हो। आशा है पाठकों को यह व्यवस्था रुचिकर प्रतीत होगी।

परम श्रद्धेय शास्त्राचरण श्री गोपालदत्त जी जोशी का यदि मुझे आशीर्वाद प्राप्त न हुआ होता तो यह संस्करण प्रकाश में नहीं आता। उन्होंने सहर्ष इस ग्रन्थ को अनूदित करने का मेरा अनुरोध तो स्वीकार किया ही, अनेक व्याख्यापेक्षित स्थलों के मर्म से भी मुझे परिचित कराया। श्री जोशी जी संस्कृत एवं हिन्दी-साहित्य के कृतधी व्याख्याता तथा संस्कृत एवं आधुनिक भाषाविज्ञान के लब्धप्रतिष्ठ मर्मज्ञ विद्वान् हैं। वास्तव में यह संस्करण उन्हीं की कृपा का प्रसाद है।

इस ग्रन्थ के प्रकाशक 'मुंशीराम मनोहरलाल' के सभी व्यवस्थापकों की प्राच्य-साहित्य के पुनरुद्धार के प्रति अपूर्व निष्ठा से मेरा परिचय हुआ है। इस कृति को उन्होंने अपने शुभसंकल्प में स्थान दिया, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

अध्यापक दिवस
५ सितम्बर, १९७३
नई दिल्ली।

देवदत्त कौशिक

विषयानुक्रमणिका

[भूमिका-भाग]

रसतरङ्गिणी

तृतीय तरङ्ग (अनुभावनिरूपणम्)

चतुर्थ तरङ्ग (सात्त्विकभावनिरूपणम्)

पञ्चम तरङ्ग (व्यभिचारिभाव-निरूपणम्)

सप्तम् तरङ्ग (रसनिरूपणम्)

अष्टम तरङ्ग (प्रकीर्णकम्)

॥ ॐ ॥

मेधासि देवि विदिताखिलशास्त्रसारा

(दु० स०, ४।११)

भूमिका

(१) 'रसतरंगिणी' का रचयिता

भारतीय साहित्यशास्त्र में एक परम्परा के अनुसार इस ग्रन्थ के लेखक का नाम भानुदत्त स्वीकार किया गया है किन्तु भानुदत्त की अनेक कृतियों में यह नाम कई रूपों में विभिन्न प्रकार से प्रयुक्त हुआ है। कुल मिलाकर इस नाम के जो रूप प्रयुक्त हुए हैं, वे इस प्रकार हैं—भानुदत्त, भानुदत्त मिश्र, भानु और भानु-मिश्र। इनमें 'भानुदत्त' और 'भानुदत्त मिश्र' का प्रयोग क्रमशः 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' की पुष्पिकाओं में हुआ है।[1] 'भानु' का प्रयोग इन दोनों ग्रन्थों के कुछ श्लोकों में भानुदत्त ने स्वयं ही किया है।[2] 'भानुमिश्र' इनके व्याख्याताओं का दिया हुआ नाम है।[3] इन सभी रूपों में 'भानुदत्त' सीधा-सा व्यवहार

[1] विशेष संदर्भ के लिए श्रीहरिकृष्ण निबन्ध भवन, बनारस द्वारा प्रकाशित **'रसमंजरी'** के संवत् २००८ के संस्करण और खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई द्वारा प्रकाशित **'रसतरंगिणी'** के सम्वत् १९७१ के संस्करण का अध्ययन किया जा सकता है। देखिए—

भानुदत्त—इति मैथिलश्रोत्रियकुलतिलकमहाकविभानुदत्तविरचिता रसमञ्जरी सम्पूर्णा।

भानुदत्त मिश्र—इति श्रीभानुदत्तमिश्रविरचितायां रसतरंगिण्यां प्रकीर्णकं नामाष्टमस्तरंगः।

[2] **भानु**— (अ) विद्वत्कुलमनोभृंगरसव्यासंगहेतवे।
एषा प्रकाश्यते श्रीमद्भानुनारसमंजरी॥ (**रसमंजरी**, २)

(आ) भारत्याः शास्त्रकान्तारश्रान्तायाः शैत्यकारिणी।
क्रियते भानुना भूरिरसा रसतरंगिणी॥ (**रसतरंगिणी**, १।२)

[3] **भानुमिश्र**—(अ) 'इह कवि सहृदयास्तिकशिरोमणिः श्रीमान् भानुमिश्रः समुचितमन्तरायशान्तये शिवात्मकं मंगलं वस्तु......।' ('**रसमंजरी**' की 'सुरभि' व्याख्या में पंडित बदरीनाथ शर्मा, पृष्ठ १)।

(आ) 'श्लोकार्थ यह है कि जब तक सूर्य की कन्या काचघटीवत् अनिर्वचनीया अद्भुत जलयुक्त कालिन्दी पृथिवी पर है तब तक मैं जो भानुमिश्र उसकी यह

में आने वाला नाम है और, वास्तव में, इसी नाम से यह लेखक अधिक प्रसिद्ध भी है। वैसे भानुदत्त को भानुकर नाम से भी अभिहित किया गया है। डॉ० हरदत्त शर्मा के अनुसार भानुदत्त और भानुकर एक ही व्यक्ति के दो नाम हैं। 'द पोएट् भानुकर' नामक अपने निबन्ध में उन्होंने **'रसमंजरी'**, **'रसतरंगिणी'** और **'गीतगौरीपति'** के कुछ श्लोकों को **'सुभाषितहारावली'**, **'रसिकजीवन'** **'पद्यरचना'** आदि में भानुकर के नाम से उद्धृत हुआ बताया है।[1] इस मत को प्रोफेसर जी० वी० देवस्थली ने अपने निबन्ध 'भानुकर' में स्वीकार किया है।[2] भानुदत्त के एक अन्य ग्रन्थ **'अलंकारतिलक'** का पाठ निर्धारित करते हुए उन्हें उसकी पुष्पिकाओं में भानुकर लिखा हुआ प्राप्त हुआ है। किन्तु आश्चर्य का विषय है कि स्वयं उन्होंने इस पाठ को अन्तिम न मानते हुए सर्वत्र भानुदत्त नाम का प्रयोग किया है। डॉ० जतीन्द्र बिमल चौधरी का मत भी यही है कि भानुकर और भानुदत्त एक ही व्यक्ति के नाम हैं।[3]

यह ठीक है कि **'रसिकजीवन'**, **'सभ्यालंकरण'**, **'पद्यवेणी'**, **'पद्यामृत-तरंगिणी'**, **'सुभाषितहारावली'**, **'सुभाषित-सार-समुच्चय'**, **'पद्यरचना'** आदि संग्रह-ग्रन्थों में भानुदत्त की अनेक रचनाएँ भानुकर के नाम से उद्धृत की गई हैं। **'रसिकजीवन'** में ही भानुदत्त-रचित ६७ श्लोक भानुकर के नाम से उद्धृत किए गए हैं जिनमें 'भित्तौ भित्तौ...', 'भूयादेष सतां...', 'विना सायं कोऽयं...', 'व्योम्नि प्राङ्गणसीम्नि...' आदि श्लोक **'रसतरंगिणी'** के हैं।[4] अतः, इन विद्वानों के मतानुसार, यह सिद्ध है कि भानुदत्त का एक नाम भानुकर भी था।

सुशीलकुमार डे और महामहोपाध्याय पी० वी० काणे को यह मत स्वीकार्य

'रसतरंगिणी' स्थित रहो।' (**'रसतरंगिणी'** की जीवनाथजी ओझा-विरचित भाषा-टीका, पृष्ठ १८४)। (इ) उक्त ग्रन्थ के पृष्ठ ५ पर १।२ की व्याख्या भी देखिए।

1 *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, Vol XVII, Part III (1935-36) pp. 243-58.

2 *New Indian Antiquary*, Vol. VII, Nos. 7&8 (Oct.-Nov. 1944), pp. 111-17.

3 *Muslim Patronage to Sanskrit, Learning*, part I, (Calcutta, 1942), p. 5.

4 *The Rasika- Jivana*, Gadādhara Bhata, (Calcutta, 1944), p. 12. Also pp. 46, 6, 28 and serial no. 1064.

नहीं है। डे ने डॉ० हरदत्त शर्मा के मत का खंडन उसी पत्रिका में किया है जिसमें उनका निबन्ध 'द पोएट् भानुकर' प्रकाशित हुआ था। पी० वी० काणे डॉ० राघवन के मत का प्रमाण देते हुए लिखते हैं कि संग्रह-ग्रंथों में रचयिताओं के दिए हुए नामों पर सहसा विश्वास नहीं किया जा सकता। उनका अपना मत यह है कि 'भानुदत्त' का संक्षिप्त रूप 'भानु' हो सकता है। उदाहरणतः भीमसेन को संक्षिप्त रूप में भीम कह सकते हैं, कुछ और नहीं। अतः यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि 'भानुदत्त' को 'भानुकर' भी कहा जा सकता है।[1] किन्तु उक्त मत का खंडन करने के लिए पी० वी० काणे की यह आपत्ति अधिक शक्तिमती नहीं है। यह ठीक है कि 'भानुदत्त' का संक्षिप्त रूप 'भानु' हो सकता है—'भानुकर' नहीं, किन्तु हम सिद्धि का विषय यदि 'भानु' को ही मान लेते हैं तो कहा जाएगा कि 'भानुकर' का संक्षिप्त रूप भी तो 'भानु' हो सकता है। इस तर्क का उत्तर पी० वी० काणे के पास नहीं है।

तो, भानुदत्त का वास्तविक नाम क्या था? यह प्रश्न अभी सुलझा नहीं है। उनकी प्राप्य रचनाओं में हमें कहीं भी 'भानुकर' नाम लिखा हुआ नहीं मिला है। भानुदत्त नाम उनके '**रसमंजरी**', '**रसतरंगिणी**' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की पुष्पिकाओं में तो मिलता ही है, उनसे सम्बद्ध वंशवृक्षों में भी इसी नाम का स्पष्ट व्यवहार हुआ है। इतना ही नहीं, परवर्ती काव्यशास्त्र के आचार्यों ने भी भानुदत्त का इसी नाम से स्मरण किया है। फिर, क्या कारण है कि अधिकांश संग्रहकारों ने अपने संग्रह-ग्रंथों में उनकी फुटकर रचनाओं के रचयिता के रूप में भानुकर नाम का व्यवहार किया? वास्तव में, जैसी कि धारणा बन गई है, सभी संग्रह-ग्रन्थों में भानुकर नाम नहीं पाया जाता। अनेक सग्रह-ग्रन्थों में '**रसतरंगिणी**' के 'विना सायं कोऽयं समुदयति···', 'भित्तौ भित्तौ प्रतिफलगतं···', 'भूयादेष सतां हिताय···', 'दिव्यहरेर्मुखकुहरे···' आदि श्लोकों को 'भानुकर' और 'भानुदत्त'—दोनों ही नामों के अन्तर्गत रखा गया है। गोविन्दजित् के संग्रह-ग्रन्थ '**सभ्यालंकरण**' में 'भानुकर' और 'भानुदत्त'—इन दोनों ही नामों से उनकी अनेक काव्य-रचनाएँ प्राप्त होती हैं। भानुदत्त केवल आचार्य ही नहीं थे, सहृदय कवि भी थे। विविध संग्रह-ग्रन्थों में अनेक विषयों पर लिखी हुई उनकी फुटकर रचनाएँ प्राप्य हैं। यह संभव है कि कवि के रूप में मौखिक परम्परा में उनकी प्रसिद्धि भानुकर के नाम से रही हो। संग्रह-

1 *History of Sanskrit Poetics*, (Delhi, 1961), pp. 306, 308

ग्रन्थों में वास्तव में ऐसी रचनाएँ प्रायः संकलित की गई हैं जिनमें काव्य-सौंदर्य का अधिक आकर्षण है। संग्रहकारों का उद्देश्य ही संस्कृत-काव्य की उन रचनाओं का संग्रह था जो अनुभूति और अभिव्यक्ति में प्रतिनिधि कही जा सकें। इसीलिए भानुदत्त के शास्त्रीय ग्रन्थों में से भी संग्रहकारों ने ऐसे काव्यांशों को निकाल लिया और कवि के रूप में उनके नाम से सम्बद्ध मौखिक परम्परा की प्रसिद्धि का लाभ उठाने के लिए उन्हें 'भानुकर'-रचित कह दिया।

स्वयं भानुदत्त ने अपनी ऐसी फुटकर रचनाओं को व्यवस्थित ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत नहीं किया था। यदि वे ऐसा करते तो निश्चय ही उस ग्रन्थ के प्रारम्भ अथवा अन्त में अपने नाम के सम्बन्ध में भी कोई घोषणा करते। किंतु ऐसा हुआ नहीं। फलतः ऐसी रचनाएँ धीरे-धीरे मौखिक परम्परा से लुप्त होती चली गईं और संग्रह-ग्रंथों में उनका उल्लेख-मात्र ही रह गया। ऐसी अनेक रचनाएँ भानुदत्त के प्राप्य साहित्य में भी प्राप्य नहीं है। चूँकि संग्रहकारों ने ऐसी रचनाओं का उल्लेख अधिकांशतः 'भानुकर' के नाम से किया था इसलिए वे भानुकर के ही नाम से अधिक प्रसिद्ध हुईं और व्यवस्थित ग्रंथों के रचयिता भानुदत्त ही प्रसिद्ध रहे। इससे यह सिद्ध है कि भानुदत्त अपने व्यवस्थित ग्रंथों को 'भानुदत्त' के नाम से ही प्रसिद्ध करना चाहते थे। प्रोफेसर जी० वी० देवस्थली को **'अलंकारतिलक'** की कुछ प्रतिलिपियों में जो 'भानुकर' नाम प्राप्त हुआ है उसका मुख्य कारण यही है कि कुछ लिपिकारों ने यह जानते हुए भी कि यह ग्रंथ आचार्य भानुदत्त-रचित है, मौखिक परम्परा के प्रभाव में आकर उनके दूसरे नाम 'भानुकर' से प्रसिद्ध कर दिया। नाम-संबंधी इस अव्यवस्था का हम एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं। यह तो सिद्ध है कि प्रोफेसर देवस्थली को **'अलंकारतिलक'** की कुछ प्रतिलिपियाँ 'भानुकर' के नाम से प्राप्त हुई हैं। इधर बम्बई-विश्वविद्यालय-पुस्तकालय के **'भगवतसिंहजी-पाण्डुलिपि-संग्रह'** में **'अलंकारतिलक'** की जो प्रतिलिपि है उसके लिपिकार ने ग्रंथ के रचयिता का नाम भानुदत्त बताया है। इस सम्बन्ध में यहाँ एक पंक्ति उद्धृत की जा रही है—

यो भानुदत्तरचितो धियवृद्धियेतुस्तं चाखिलद् द्विजवरो महतः प्रयत्नात्॥[1]

अतः भानुदत्त और भानुकर एक ही व्यक्ति के नाम हैं। भानुदत्त ने स्वयं अपने अनेक ग्रंथों में अपने पिता का नाम गणपति बताया है। इधर **'पद्यवेणी'** नामक संग्रह-ग्रंथ के सम्पादक वेणीदत्त ने इस ग्रंथ के श्लोक 'यशोधननिधे...',

१ देखिए उक्त ग्रन्थ का फोलियो ४२ ए।

जिसका क्रमांक ७८६ है, को **गणपतिपुत्र भानुकरस्य** कहा है।[1] अतः संदेह के लिए अवकाश नहीं रह जाता। किन्तु प्राप्त ग्रंथों के साक्ष्य के आधार पर यह भी सिद्ध है कि ये अपने भानुदत्त के नाम से ही अधिक प्रसिद्ध हैं। इस निष्कर्ष को लिखित परम्परा का संबल तो प्राप्त है ही, लोक के विश्वास का भी आश्रय प्राप्त है। इनका पूर्वजों द्वारा दिया गया नाम भानुदत्त ही है। फुटकर काव्य-रचनाओं के लिए इन्होंने अपना नाम भानुकर रख लिया था।

भानुदत्त मिश्र ब्राह्मण थे। अतः इन्हें भानुमिश्र भी कहा जाता है। नाम का यह संक्षिप्तीकरण लोक की भाषा-प्रवृत्तियों के सर्वथा अनुकूल है।

(२) भानुदत्त का वंशवृक्ष

बी० एन० भट्टाचार्य ने 'ए ब्रीफ़ सर्वे ऑव साहित्यशास्त्र' शीर्षक अपने निबन्ध में लिखा है कि बिहार के पंडित-वर्ग में यह श्रुति परम्परा से चली आ रही है कि भानुदत्त के पिता ने **'रसरत्नदीपिका'** नामक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ और उनके प्रपितामह शंकर ने श्रीहर्ष के **'खंडनखंडखाद्य'** पर एक टीका लिखी थी तथा शंकर सन् १४०५ में जीवित थे।[2] **'रसतरंगिणी'** में भानुदत्त ने प्रथम तरंग के आठवें श्लोक के पूर्व के गद्यांश में **'रसरत्नदीपिका'** नामक ग्रन्थ का उल्लेख किया है किन्तु यह निश्चित नहीं है कि इसके रचयिता उनके पिता गणपति ही थे। **'रसतरंगिणी'** में अनेक स्थलों पर **यथा तातचरणानाम्** आदि कहकर भानुदत्त ने अपने पिता की रचनाओं से उदाहरण प्रस्तुत किए हैं किन्तु यह संकेत कहीं भी नहीं किया है कि वे **'रसरत्नदीपिका'** के रचयिता थे। राजानक रत्नकंठ ने भी **'काव्यप्रकाश'** की अपनी व्याख्या **'सारसमुच्चय'** में इस ग्रंथ का उल्लेख किया है किन्तु इसके रचयिता का नाम नहीं दिया। राजानक रत्नकंठ का समय सन् १६४८ से १६८१ तक है।

काव्यशास्त्र का एक अन्य ग्रंथ है **'रसरत्नप्रदीपिका'** जिसके लेखक हैं अल्लराज। आर० एन० दांडेकर के संपादन में भारतीय विद्याभवन सीरीज़, बम्बई से सन् १९४५ में इस ग्रंथ का प्रकाशन हुआ है। भंडारकर रिपोर्ट १८८४-८७, क्रमांक ५३३ में अल्लराज के इस ग्रंथ का नाम **'रसरत्नप्रदीप'**

[1] *Muslim Patronage to Sanskrit Learning*, part I, (Calcutta, 1942), pp. 4-5.

[2] *Journal of the Deptt. of Letters*, Calcutta University, vol. IX (1923), p. 163.

दिया हुआ है । अल्लराज का समय सन् १२५०-१३५० के मध्य स्वीकार किया गया है । इस प्रकार अल्लराज भानुदत्त और रत्नकण्ठ—दोनों के ही पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं । सहज अनुमान किया जा सकता है कि इन दोनों ने अल्लराज की कृति **'रसरत्नप्रदीपिका'** का ही उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है । भानुदत्त के संदर्भ में हमारा यह अनुमान प्रमाणसिद्ध भी है । अल्लराज ने अपने ग्रन्थ में **'कुमारसम्भव'** के इस श्लोक—

अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः ।
ददृशे पुरुषाकृति क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ।। ४।३।।

को इष्टनाश से करुण-रस के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है । इसी श्लोक को भानुदत्त ने **'रसतरंगिणी'** में **'अत एव रसरत्नदीपिकायां करुणरसोदाहरणम्'**—लिखते हुए प्रस्तुत किया है—देखिए १।८ । आप कह सकते हैं कि **'रसरत्नदीपिका'** और **'रसरत्नप्रदीपिका'** में तो नाम का अन्तर है । वास्तव में संस्कृत ग्रन्थों के नाम संक्षिप्त रूप में भी लिए जाते रहे हैं । अतः **'रसरत्नप्रदीपिका'** का **'रसरत्नप्रदीप'** अथवा **'रसरत्नदीपिका'** के नाम से प्रचलन हो जाना असम्भव नहीं लगता । वैसे भी **'रसरत्नप्रदीपिका'** की जो एक प्रति तञ्जौर की सरस्वती महल लायब्रेरी में प्राप्त हुई है उसमें तथा बर्नेल के कैटेलॉग में **'रसरत्नदीपिका'** नाम ही मिला है । दोनों के क्रमाङ्क हैं—५२८७ और ४८५० । जहाँ तक इस बात का प्रश्न है कि भानुदत्त व रत्नकण्ठ ने इस ग्रन्थ के लेखक का नाम क्यों नहीं उद्धृत किया तो इसका सीधा उत्तर यही है कि संस्कृत में कृति और कृतिकार दोनों का ही उल्लेख करने की परिपाटी अधिक नहीं रही है । अतः स्पष्ट हो जाता है कि गणपति ने **'रसरत्नदीपिका'** की रचना नहीं की थी । और शंकर भी भानुदत्त के प्रपितामह नहीं थे । **'कुमारभार्गवीय'** में भानुदत्त ने अपने वंशवृक्ष का उल्लेख इस प्रकार किया है—

रत्नेश्वर → सुरेश्वर → विश्वनाथ → रविनाथ → भवनाथ → महादेव → गणपति → भानुदत्त ।[1]

इस प्रकार बी० एन० भट्टाचार्य के मत का खंडन हो जाता है । डॉ० जतीन्द्र बिमल चौधरी का मत है कि मिथिला में जो पञ्जियाँ प्राप्त होती हैं उनमें भानुदत्त का वंशवृक्ष इस प्रकार दिया हुआ है—

1 *India Office Catalogue of Sanskrit Mss.*, Vol. VII, p. 1540.
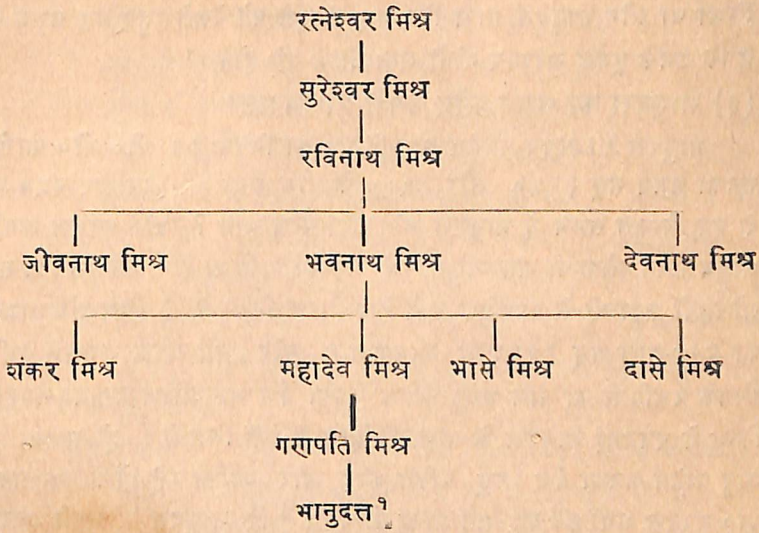
मिथिला में प्राप्त पञ्जियों और भानुदत्त द्वारा स्वयं प्रस्तुत किए गए वंशवृक्षों में जो अंतर है वह यह है कि भानुदत्त ने विश्वनाथ को सुरेश्वर का पुत्र और रविनाथ को विश्वनाथ का पुत्र बताया है जबकि इस वंशवृक्ष में विश्वनाथ का उल्लेख ही नहीं है। इस अन्तर के अतिरिक्त भानुदत्त के संदर्भ में दोनों वंशवृक्षों में कोई भेद नहीं है। पञ्जियों में दर्ज किए गए वंशवृक्ष बहुत-कुछ मौखिक सूचनाओं पर भी आधारित होते हैं। अतः उनमें थोड़ा-बहुत भेद भी पड़ जाता है। और इसी वंशवृक्ष के अनुसार शंकर भानुदत्त के सीधे प्रपितामह तो नहीं, उनके पितामह के भाई सिद्ध होते हैं। भानुदत्त के समय को देखते हुए शंकर को सन् १४०५ में जीवित भी माना जा सकता है। किन्तु इस आधार पर ये शंकर '**खंडनखंडखाद्य**' के टीकाकार सिद्ध नहीं होते। टीकाकार शंकर मिश्र का समय तो सोलहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

यह भी कहा जाता है कि भानुदत्त से छः पीढ़ी आगे के सुरेश्वर ने '**शारीरकभाष्यवार्तिक**' की रचना की थी। किन्तु ये वे प्रसिद्ध सुरेश्वर नहीं हैं जो शंकराचार्य के शिष्य थे और जिन्होंने अपना प्रसिद्ध वार्तिक लिखा था। पी० वी० काणे का यह मत है कि सुरेश्वर ने अपना वार्तिक नौवीं शताब्दी में

1 *Muslim Patronage to Sanskrit Learning*, part I, (Calcutta, 1942), p. 5.

लिखा था और भानुदत्त द्वारा दिए गए वंशवृक्ष को देखते हुए यह संभव नहीं है कि उनके पूर्वज सुरेश्वर नौवीं शताब्दी में रहे होंगे।[1]

(३) भानुदत्त का समय और उनके आश्रयदाता

भानुदत्त का समय पर्याप्त वाद-विवाद का विषय है। पी० वी० काणे ने उनका समय सन् १२५० और १५०० के बीच रखा है। आखिर २५० वर्षों के इस विस्तृत समय में भानुदत्त को कहाँ रखा जाए? डॉ० हरदत्त शर्मा ने भानुदत्त को चौदहवीं शताब्दी से पूर्व अस्वीकार किया है[2] और उनका समय सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में स्वीकार किया है।[3] **'शार्ङ्गधरपद्धति'** का संग्रह-काल सन् १३६३ के आसपास है और इसमें अनेक रचनाएँ ऐसी हैं जिनके रचयिता का नाम भानु पंडित अथवा वैद्य भानु पंडित बताया गया है। किन्तु ये रचनाएँ भानुदत्त के प्राप्य साहित्य में नहीं मिलतीं। हो सकता है ये भानु पंडित अथवा वैद्य भानु पंडित कोई और व्यक्ति रहे हों। इस प्रकार डॉ० हरदत्त शर्मा की यह बात मान्य हो जाती है कि भानुदत्त चौदहवीं शताब्दी में नहीं थे।

सुशीलकुमार डे ने **'हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स'** में भानुदत्त का समय सन् १४५०-१५०० के मध्य माना है। अपनी दूसरी पुस्तक **'सम प्राब्लम्स ऑव संस्कृत पोएटिक्स'** में डे ने एक साक्ष्य के आधार पर इस अंतर को थोड़ा सीमित करते हुए कहा है कि भानुदत्त ने **'रसमंजरी'** की रचना पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम और सोलहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में की थी। वह साक्ष्य **'रसमंजरी'** का ही एक श्लोक है—

1 *History of Sanskrit Poetics*, (Delhi, 1961), p. 306.

2 "If we accept the date of Bhanudutta to be earlier than the 14th century or even the beginning of the 14th century then he must have been known to the compiler of शार्ङ्गधरपद्धति. Bhanudutta is a pet of the anthologists. पद्यरचना quotes so many as 180 verses of his, रसिकजीवन has not less than 104 and सुभाषितहारावली can boast of at least 11. Under these circumstances, भानुदत्त's verses must have found a place in शार्ङ्गधरपद्धति if he had been living in the 14th century."—*Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, vol. XVII, part III (1935-36), p. 245.

3 वही, पृष्ठ २४८।

भेदो वाचि दृशोर्जलं कुचतटे स्वेद: प्रकम्पोऽधरे
पाण्डुर्गण्डतटी वपुः पुलकितं लीनं मनस्तिष्ठति ।
आलस्यं नयनश्रियश्चरणयोः स्तम्भः समुज्जृम्भते ।
तत्किं राजपथे निजामधरणीपालोऽयमालोकितः ।। १२१ ।।

—अर्थात्, 'हे सखी ! तुम्हारी वाणी में स्वरभंग हो रहा है, आँखों में आँसू आ रहे हैं, स्तनतट पर पसीना आ रहा है, ओठों में कंपन है, कपोल पीले पड़ गए हैं, शरीर में रोमांच हो रहा है, मन कुछ सूना-सूना प्रतीत हो रहा है, आँखों की शोभा में आलस्य आ गया है, चरण ठिठक गए हैं, जृम्भा आ रही है। तो क्या तूने राजपथ पर कहीं राजा निजाम को देख लिया है जो तेरी ऐसी अवस्था हो गई है ?'

ये निजाम कौन हैं ? पी० वी० काणे ने इस संबंध में कहा है कि सन् १४०० और १५५० के बीच में भारत में कई निजाम हुए थे जिन्होंने दक्षिण, मध्य भारत तथा अन्य स्थानों पर राज्य किया। अतः यह कहना कठिन है कि **'रसमंजरी'** में किस निजाम का उल्लेख हुआ है। इसके लिए **'रसमंजरी'** के टीकाकार अनंत पंडित का आश्रय लिया जा सकता है। अनंत पंडित ने इस ग्रंथ की **'व्यंग्यार्थ-कौमुदी'** नामक अपनी टीका बनारस में सन् १६३६ में लिखी थी। उन्होंने इस निजाम के विषय में लिखा है—**निजामाख्यो देवगिरिराजः ।** देवगिरि के शासक निजाम का पूरा नाम अहमद निजाम शाह था और उसने सन् १४६६-१५०७ के मध्य किसी समय देवगिरि (दौलताबाद) पर अधिकार किया था। इसी व्यक्ति ने दक्षिण के निजामशाही वंश की नींव डाली थी जिसका शासन सन् १६३७ तक चलता रहा। निश्चय ही, देवगिरि पर अधिकार करते समय निजाम अपनी युवावस्था में रहा होगा। **'रसमंजरी'** भानुदत्त की प्रथम कृति है। अतः यह भी स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है कि जिस समय **'रसमंजरी'** के लगभग अंतिम भाग के इस श्लोक की रचना हुई उस समय भानुदत्त निजाम के आश्रय में ही थे। इस समय भानुदत्त की आयु भी २०-२५ वर्ष के बीच रही होगी। भानुदत्त के इस श्लोक से यह स्पष्ट व्यंजित होता है कि निजाम अत्यंत सुन्दर थे। **'पद्यरचना'** में क्रमांक १७.६ पर भानुदत्त का भानुकर के नाम से एक श्लोक प्राप्त होता है जिसमें यह व्यंजित किया किया गया है कि निजाम और कामदेव के सौन्दर्य में भेद नहीं किया जा सकता।

कहा जा सकता है कि **'रसमंजरी'** के रचना-काल के परवर्ती भाग में भानुदत्त निजाम के आश्रय में थे और वहाँ रहते हुए उन्होंने निजाम के सौन्दर्य

आदि के संबंध में अनेक श्लोकों की रचना की। 'रसपारिजात' नामक ग्रंथ में, जिसमें भानुदत्त और उनके पिता गणपति के अनेक श्लोक संकलित हैं, निजाम के संबंध में भानुदत्त-रचित १४ श्लोक प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ श्लोक भानुकर के नाम से **'पद्यरचना'** (१७·६, १६·४), **'रसिकजीवन'** (१६४), **'पद्यामृत-तरंगिणी'** (६,८५), **'सुभाषित-सार-समुच्चय'** (१०५), **'पद्यवेणी'** (६५, १३२, १३३) आदि संग्रह-ग्रंथों में भी प्राप्य हैं।

लक्ष्मण भट्ट आंकोलकर की **'पद्यरचना'** में भानुदत्त के कृष्ण से संबद्ध दो श्लोक इस प्रकार दिए गए हैं—

कृष्णं समर-सतृष्णं दृष्टवतो (भान्ति) विष्टरश्रवसः।
राजन्य-जन्म-मूले　भुज-मूले　पुलक-मुकुलानि ॥

×　　×　　×

प्रस्थानं रति-मन्दिरात् कमलिनी-बन्धोरपि प्रेक्षणं
काकुः केलिविधि विनाऽपि चरण-न्यासः पृथिव्यामपि।
किं च क्लान्तमतालवृन्तपवनः प्रत्यङ्गमालिङ्गति।
द्रष्टव्यं किमतोऽपि कृष्ण-नृपतेः प्रत्यथि-वामभ्रुवाम् ॥

पंडित रामनाथ झा[1] और डॉ० जतीन्द्र बिमल चौधरी[2] के मतानुसार ये कृष्ण विजयनगर के सम्राट् कृष्णदेव राय हैं जिन्होंने सन् १५०६ से १५३० तक राज्य किया था। शेरशाह के संबंध में भी भानुदत्त का एक श्लोक **'सुभाषितहारावली'** में क्रमांक ४६८ पर प्राप्य है—

श्लोकार्धे वा तदर्धे यदि हि विनिहितं दूषणं दुर्दुरूढैः
किं नश्छिन्नं तदा स्यात् कवि कुल-विदुषां काव्यकोटीश्वराणाम्।
वाहाश्चेद् गन्धवाहादिक-सुभग-रयाः पञ्चषाः काण-खञ्जाः
का हानिः　शेरसाह-क्षितिप-कुलमणेरश्व　कोटीश्वरस्य ॥

इस श्लोक का आशय इस प्रकार है कि उन (भानुदत्त) जैसे समर्थ एवं समृद्ध कवि के किसी श्लोकार्ध आदि में लोगों द्वारा ढूँढ़ा गया दूषण क्या अर्थ रखता है? अर्थात् इससे उनके कवित्व की क्या हानि होती है? ठीक ऐसे ही वायु से बातें करने वाले करोड़ों अश्वों के स्वामी शेरशाह के लिए यह बात

1 *Journal of Patna University*, vol. III, no. 1-2.
2 *Muslim Patronage to Sanskrit Learning*, part I, (Calcutta, 1942), p.6.

कुछ अर्थ नहीं रखती कि उन अश्वों में पाँच-छः अश्व काणे अथवा लंगड़े भी हैं। स्पष्ट ही इस श्लोक में कवि को शेरशाह के वैभव का वर्णन अभिप्रेत है। शेरशाह के राज्यकाल का समय सन् १५४० से १५४५ तक है। इस श्लोक के आधार पर यह निष्कर्ष लिया जा सकता है कि जब भानुदत्त शेरशाह के आश्रय में आए तो वे पर्याप्त मात्रा में काव्य-रचना कर चुके थे और उस समय तक प्रसिद्ध भी हो चुके थे। अतः यह समय उनकी युवावस्था का नहीं कहा जा सकता।

'पद्यवेणी', **'सूक्तिसुन्दर'** तथा **'सारसंग्रह'**[1] नामक संग्रह-ग्रंथों में भानुदत्त के कुछ श्लोक वीरभानु नामक किसी व्यक्ति से संबद्ध मिलते हैं। यहाँ हम उनमें से केवल दो श्लोक प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रथम श्लोक **'पद्यवेणी'** और **'सूक्ति-सुन्दर'** में प्राप्य है और द्वितीय **'सारसंग्रह'** में—

> **भेरी-भाङ्कृतिभिस्तुरङ्ग-निनदैः कुम्भीन्द्र-कोलाहलैः**
> **प्रस्थाने तव वीरभान दलितं ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरम् ।**
> **आधाय ज्वलति प्रताप-दहने रङ्गैः पुनर्वेधसा**
> **तारानायक-तारका-सुरसरिद्व्याजादिवाऽऽयोजितम् ॥**

×   ×   ×

> **दिल्लीशो द्वारदेशे नमति गजपतिस्तत्परस्तादुपास्ते**
> **गौडेन्द्रो नम्रमूर्धा तदनु नरपतिर्गुर्जरोर्वीश्वरोऽपि ।**
> **श्रुत्वैवं वन्दि-वृन्दादवनत-वदनो गौरवं तत्र कुर्वन्**
> **वीर श्रीवीरभानो रचयसि पुलकं वीर-लक्ष्मी-कपोले ॥**

वीरभानु नाम के अनेक राजा हुए हैं जिनमें कुछ का समय तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों में पड़ता है। अन्य संदर्भों को देखते हुए भानुदत्त का समय यह नहीं है। सभी दृष्टिकोणों से विचार करने के उपरान्त डॉ० जतीन्द्र बिमल चौधरी ने अपना यह मत व्यक्त किया है कि उक्त वीरभानु रेवा के बघेला वीरभानु हैं जिनका शासनकाल सन् १५४० से १५५५ तक है। इनका विवाह सुकुमार देवी से हुआ था और इनकी संतान रामचन्द्र ने सन् १५५५ से १५९२ तक राज्य किया। सोलहवीं शताब्दी के अनेक कवियों ने अपने श्लोकों में उदाराशय बघेला राजाओं की प्रशंसा की है। ये वीरभानु ही भानुदत्त के

1 *Sāra-Saṃgraha* of Śambhudāsa Paṇḍita, Ms. of *RASB*, 31 A.

आश्रयदाता थे।[1]

इस प्रकार चार व्यक्ति भानुदत्त के आश्रयदाता सिद्ध होते हैं—

१. देवगिरि-शासक अहमद निजामशाह,

२. विजयनगर-सम्राट् कृष्णदेव राय,

३. शेरशाह, और

४. रेवाधिपति बघेला वीरभानु।

इन चारों का शासनकाल सन् १४६९ से १५५५ तक—अर्थात् ५६ वर्षों में पड़ता है।

पी० वी० काणे ने उक्त श्लोकों के आधार पर भानुदत्त का समय निर्धारित करने को केवल अनुमान कहा है[2] किन्तु आश्चर्य है कि वे स्वयं निजामशाह, कृष्ण और वीरभानु को भानुदत्त के आश्रयदाता भी स्वीकार करते हैं।[3] समझ में नहीं आता कि इन व्यक्तियों को भानुदत्त के आश्रयदाता स्वीकार कर लेने पर उन्हें इसी संदर्भ में भानुदत्त का समय निर्धारित करने में क्या कठिनाई अनुभव हो रही है? ऐसा प्रतीत होता है कि वे इन व्यक्तियों के समय के विषय में निश्चित नहीं हैं। उन्होंने भानुदत्त के समय को लेकर एक अन्य तथ्य का संकेत किया है। इस संबंध में कहा गया है कि भानुदत्त के पिता गणपति अथवा गणेश्वर मिथिला के प्रसिद्ध मंत्री गणेश्वर हो सकते हैं। ये वीरेश्वर के भाई थे। वीरेश्वर के पुत्र चण्डेश्वर ने **'विवादरत्नाकर'** की रचना की थी और सन् १३१५ में सोने से अपना तुलादान कराया था। अतः लगभग यही समय भानुदत्त का भी माना जा सकता है। वास्तव में प्रोफेसर काणे ने अपना यह मत सन् १९२३ में प्रकाशित किया था और बाद में उन्हें ही यह मत अशुद्ध भी प्रतीत हुआ। उनका एक अन्य मत इस प्रकार है कि भानुदत्त ने **'विवादचन्द्र'** के रचयिता मिसरू मिश्र की बहन से विवाह किया था। प्रोफेसर काणे को इस मत का संकेत पंडित रामनाथ झा के एक निबन्ध से प्राप्त हुआ था।[4] मिसरू मिश्र मिथिला के नैयायिक थे और उनका समय पंद्र-

1 *Muslim Patronage to Sanskrit Learning*, part I, (Calcutta, 1942), p. 9.

2 *History of Sanskrit Poetics*, (Delhi, 1961), p. 309.

3 *Ibid.*

4 *Journal of Patna University*, vol. III, no. 1-2.

हवीं शताब्दी का मध्य सिद्ध है। इधर प्रोफेसर जी० वी० देवस्थली को बम्बई-विश्वविद्यालय-पुस्तकालय के **'भगवतसिंहजी-पाण्डुलिपि-संग्रह'** में **'अलंकार-तिलक'** की जो प्रति प्राप्त हुई है उसमें शक संवत् १५१२ का उल्लेख प्रति-लिपिकार ने किया है—

शाके सूर्यशरेन्दुश्च वासरे शशिनामके।
दशम्यामसिते पक्षे मासे च तपसंज्ञके॥

नत्वा गणेशचरणौ सुधि विट्ठलोयं भाले रराज तिलको ललितप्रबंधः।
यो भानुदत्त रचितो धियवृद्धियेतुस्तं चाखिलद् द्विजवरो महतः प्रयत्नात्॥

हमने आगे चलकर यह सिद्ध किया है कि **'अलंकारतिलक'** भानुदत्त की अंतिम कृति है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि भानुदत्त सन् १५७० के पश्चात् जीवित नहीं रहे होंगे। कुछ पहले हमने यह भी कहा था कि निजाम के आश्रय में आने के समय भानुदत्त की आयु २०-२५ वर्ष के बीच रही होगी। अतः भानुदत्त का जो समय हम निर्धारित कर सकते हैं वह है सन् १४८०-१५७०। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि संवत् १४८४ अर्थात् सन् १४२८ में तो गोपाल नामक व्यक्ति ने ही **'रसमंजरी'** की 'विकास' टीका लिखी थी। अतः भानुदत्त का यह समय किस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है? अब इस धारणा का खंडन हो गया है। श्रीधर भंडारकर का कहना है कि इस टीका का समय संवत् १४८४ न होकर १४९४ है और यह संवत् भी विक्रम नहीं, शक है। **'स्टेन्'स कैटेलॉग ऑव जम्मू मैन्युस्क्रिप्ट्स'** में इसका समय अशुद्ध दिया गया है।[1] इस प्रकार इस टीका का समय सन् १५७२ निश्चित होता है। पी० के० गोड[2] और डॉ० हरदत्त शर्मा ने इस मत को स्वीकार किया है।[3]

भानुदत्त ने **'रसतरंगिणी'** और **'अलंकारतिलक'** में अपने इधर-उधर भ्रमण करने और विभिन्न शासकों से अपने परिचय की बात कही है। निश्चय ही भानुदत्त अपने जीवन में अनेक आश्रयदाताओं के यहाँ रहे। उनके आश्रयदाता थे—देवगिरि-शासक अहमद निजामशाह, विजयनगर-सम्राट् कृष्णदेव राय,

1 *Report of Second Tour* (1904-06), p. 36.

2 *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, vol. XVI (1934-35), p. 147.

3 वही, भाग १७ (१९३५-३६) खंड ३, पृष्ठ २४५।

शेरशाह और रेवाधिपति वघेला वीरभानु । यह उनके कृतित्व में प्राप्य संकेतों से ही सिद्ध है ।

(४) भानुदत्त का जन्मस्थान

एक विवाद इस संबंध में भी है कि भानुदत्त का जन्म किस स्थान अथवा प्रदेश में हुआ । **'रसमंजरी'** के अंतिम श्लोक में भानुदत्त ने स्वयं को मैथिल बताया है और कहा है कि उस प्रदेश में गंगा नदी किलोलें करती हुई बहती है—

देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिता ।

तो फिर विवाद किसलिए ? बात वास्तव में इस प्रकार है कि **'रसमंजरी'** की कुछ प्रतियों में **विदर्भभूः** पाठ भी मिलता है । इस आधार पर कुछ लोगों ने भानुदत्त को विदर्भ का निवासी सिद्ध किया है । किन्तु क्या विदर्भ में गंगा के बहने की कल्पना भी की जा सकती है ? सन् १८७२ में मद्रास से प्रकाशित **'रसमंजरी'** की प्रति में **विदर्भभूः** पाठभेद मिलता है । वास्तव में यह उस प्रदेश के उनके टीकाकारों द्वारा किया गया प्रक्षेप ही है । सर आर० जी० भंडारकर ने इसे अशुद्ध माना है और **विदेहभूः** पाठ ही ठीक बताया है ।[1]

'रसमंजरी' की परिमल' टीका के लेखक शेषचिन्तामणि ने भानुदत्त को 'बध्नपुरनिवासी' कहा है । इसका सीधा साम्य 'शिवपुरनिवासी' से है । अतः शेषचिन्तामणि के अनुसार भानुदत्त वाराणसी के निवासी थे । डॉ० हरदत्त शर्मा ने आशंका व्यक्त करते हुए कहा है कि फिर तो कोई व्यक्ति भानुदत्त को प्रयाग का निवासी भी मान सकता है । उनका कहना है कि यदि **'गीत-गौरीपति'** में भानुदत्त द्वारा की गई शिव की प्रशंसा उन्हें वाराणसी-निवासी सिद्ध कर सकती है तो **'रसतरंगिणी'** का **क्षोणीपर्यटनं श्रमाय ··· प्रयागनगरे नाऽऽराधि नारायणः** **(५।५)** श्लोक उन्हें प्रयाग-निवासी भी सिद्ध कर सकता है ।[2] ऐसे अपरिपक्व चिन्तन पर इससे अच्छा व्यंग्य और क्या हो सकता है ?

किन्तु सिद्ध है कि भानुदत्त विदेह के रहने वाले थे । प्रोफेसर देवस्थली को बम्बई-विश्वविद्यालय-पुस्तकालय के 'भदकंकर-संग्रह' में **'रसतरंगिणी'** की एक

1 "The poet represents the river of the gods or the Ganges as flowing through his country; while the country of the Vidarbhas, which corresponds to the modern Berars, is situated to the south of Narmadā." *Rep. 1883-84*, p. 12.

2 *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, vol. XVII (1935-36) part III, p. 246.

प्रति प्राप्त हुई है जिसमें आठवीं तरंग की पुष्पिका इस प्रकार दी गई है—

इतिश्रीकविकलासनाथगुणनाथतनयमैथिलश्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरङ्गिण्यामष्टमस्तरङ्गः ।[1]

'अलंकारतिलक' की रायल एशियाटिक सोसाइटी की बम्बई शाखा वाली प्रति में तृतीय अध्याय में दोष-विवेचन के प्रसंग में ये दो पंक्तियाँ प्राप्त होती हैं—

उत चन्द्र उत पुरन्दर उत नल उत विक्रमादित्यः ।
उत गधर्व उत स्मर उत सुन्दरि मैथिलो नृपतिः ॥[2]

यह प्रसंग विसर्ग-दोष का है। कुछ भी हो, इन पक्तियों से भानुदत्त का मिथिला नरेश से सीधा सम्बन्ध सिद्ध होता है। इसी अध्याय में देश्य-दोष के प्रसंग में भानुदत्त ने फिर लिखा है—

देशसंकेतितदेश्यम् । यथा—वेदं विना द्विजो रण्डः । रण्ड इति पामरे मैथिलसंकेतितम् ।[3]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भानुदत्त मिथिला में प्रचलित भाषा-प्रयोगों से पूर्णतः परिचित थे और यह उनका मिथिला-निवासी होना सिद्ध करता है। बर्नेल के तंजौर कैटेलॉग में भी भानुदत्त मैथिल बताए गए हैं। भानुदत्त ने **'गीतगोविन्द'** की पद्धति पर **'गीतगौरीपति'** (अथवा **'गीतगौरीश'**) की रचना की थी। गौड़ीय जयदेव का यह प्रभाव भानुदत्त पर उनके मैथिल होने से ही पड़ा होगा। अतः भानुदत्त का मैथिल होना सिद्ध है। उनके नाम के साथ मिश्र लगाया जाता है। अतः वे मैथिल ब्राह्मण थे।

(५) भानुदत्त के ग्रन्थ

भानुदत्त ने अनेक ग्रन्थों की रचना की है और उनमें विषय की दृष्टि से काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों की प्रधानता है। ऐसे ग्रन्थों में **'रसमंजरी'** और विशेषतः **'रसतरंगिणी'** को बहुत अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई है। **'रसमंजरी'** नायिका-भेद का ग्रन्थ है और इस प्रकार के परवर्ती ग्रन्थों पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा है। उदाहरण के लिए ब्रजभाषा के कवि नन्ददास के ग्रन्थ **'रसमंजरी'** को लिया जा सकता है। नन्ददास ने स्वयं एक स्थान पर भानुदत्त की **'रसमंजरी'**

[1] इस प्रति का विवरण इस प्रकार है—RT., Ms., B. M. C., 21. 2. fol. 296.

[2] Fol. 6a.

[3] Fol. 5a.

के अनुसरण की बात कही है—

रसमंजरि अनुसार कै, 'नंद' सुमति अनुसार।
बरनत बनिता-भेद जहँ, प्रेम सार बिस्तार॥[1]

वास्तव में कहा जाए तो अनेक स्थलों पर नन्ददास द्वारा दिए गए नायिका-भेदों के उदाहरण भानुदत्त की 'रसमंजरी' में दिए गए उदाहरणों के ही रूपान्तर हैं। देखिए, नवोढ़ा नायिका—

रसमंजरी (भानुदत्त)—

हस्ते धृताऽपि शयने विनिवेशिताऽपि
क्रोडे कृताऽपि यतते बहिरेव गन्तुम्।
जानीमहे नववधूरथ तस्य वश्या
यः पारदं स्थिरयितुं क्षमते करेण॥ ७॥

रसमंजरी (नन्ददास)—

प्रीतम जब कर-पंकज धरै। बल करि सेज निवेसित करै॥
क्रोड़ी करि सब अंगनि गहै। तदपि सुतिय वह गवन्यो चहै॥
तन करि भागै मन करि रमै। कहि न जाय जस बैसँधि समै॥
जो पारिदि कहुं कर थिर करै। सो नऊढ़ बाला उर धरै॥[2]

'रसतरंगिणी' शुद्ध एवं सैद्धान्तिक रूप से रस-विवेचन का ग्रन्थ है। इसकी रचना **'रसमंजरी'** के पश्चात् हुई है। यह निष्कर्ष **'रसतरंगिणी'** के इन वाक्यों के आधार पर प्रस्तुत किया गया है—

देशानां समयानां नायिकानां च भेदेन नायकयोरवस्थाभेदेन च बहवो भेदाः। ते च रसमञ्जर्यां विशेषतो दर्शिताः। इह पुनर्विस्तरभिया न प्रदर्श्यन्त इति। (६।५ से पूर्व का गद्य)।

इस प्रमाण को जुटाने के पश्चात् इस विषय में शंका के लिए अवकाश नहीं रह जाता है। अब एक और प्रकार से भी यह सिद्ध किया जाता है कि **'रसतरंगिणी'** की रचना **'रसमंजरी'** के प्रणयन के पश्चात् हुई थी। वास्तव में यह भानुदत्त के मस्तिष्क की ही योजना थी कि प्रथमतः नायिका-भेद के ग्रन्थ की रचना की जाए। **'रसमंजरी'** में मंगलाचरण के पश्चात् भानुदत्त ने यह स्पष्ट घोषणा की है कि वे इस ग्रन्थ का प्रणयन इस उद्देश्य से कर रहे हैं

१ नंददास-ग्रन्थावली, काशी (सं २०१४) पृष्ठ १२७।
२ वही।

कि विद्वानों के मनरूपी भौंरे रस का विलक्षण आस्वाद प्राप्त करें। अर्थात् भानुदत्त ने **'रसमंजरी'** का प्रणयन रस-ग्रंथ के रूप में किया था। फलतः आवश्यक था कि वे सभी रसों का विवेचन इस ग्रंथ में करते। किन्तु उन्होंने आगे चलकर एकदम से इसे नायिका-भेदों में सीमित कर दिया। उन्होंने कहा कि परिगणित (आठ या नौ) रसों में शृङ्गार ही सबसे उत्कृष्ट रस है। यदि कोई भी वस्तु उत्कृष्ट या अभ्यर्हित होती है तो उसकी गणना उस वस्तु के अन्य भेदों में सबसे पहले होती है। शृङ्गार का भी रसों में प्रथम स्थान है। शृङ्गार-रस के आलंबन-विभाव नायक और नायिका दोनों होते हैं। इसलिए पहले उन्हीं का विवेचन किया जाता है—

तत्र रसेषु शृङ्गारस्याऽभ्यर्हितत्वेन तदालम्बनविभावत्वेन नायिका तावन्निरूप्यते—

इस प्रकार यह ग्रन्थ मुख्यतः नायिका-भेद को समर्पित है। रसों का विवेचन इस ग्रन्थ में प्राप्य नहीं है। कहा जा सकता है कि भानुदत्त ने जिस उद्देश्य की घोषणा की थी वह इस ग्रन्थ में पूरा नहीं हुआ। नायिका-भेद शृङ्गार-रस का अंग है। किन्तु **'रसमंजरी'** में शृङ्गार-रस की भी सैद्धान्तिक विवेचना नहीं की गई है।

इसका कारण क्या है? बात वास्तव में इस प्रकार है कि संस्कृत काव्यशास्त्र में **'नाट्यशास्त्र'** के बाद नायक-नायिका-भेद का विकास शृङ्गार-रस के आलम्बन के रूप में हुआ और धीरे-धीरे इस विषय का विस्तार से विवेचन किया जाने लगा। यद्यपि इस विषय का सर्वप्रथम विवेचन एवं प्रतिपादन **'कामसूत्र'** में किया गया है किन्तु उसका दृष्टिकोण नितान्त भिन्न है। **'नाट्यशास्त्र'** में नायक-नायिका का विभाजन मात्र शृङ्गार-रस पर आधारित नहीं है। इसीलिए भरत ने सामान्यतः नाटकीय पात्रों का विभाजन किया है। रुद्रट ने इसका विवेचन शृङ्गार-रस के सन्दर्भ में किया। यही योजना **'अग्निपुराण'** में प्राप्य है। दसवीं शताब्दी में रुद्रभट्ट ने नायिका-भेद का सुव्यवस्थित विवेचन अपने ग्रंथ **'शृङ्गारतिलक'** में किया। **'दशरूपक'** में यह विवेचन नाटकीय पात्रता की दृष्टि से तो किया ही गया है, साथ ही उसमें काव्यशास्त्रीय विभाजन भी अपनाया गया है। इस प्रकार इस विषय का विवेचन काव्यशास्त्र में रस-सिद्धान्त के अन्तर्गत हुआ। बाद में अनेक ग्रंथों में यह विषय विवेचित किया गया। भानुदत्त से पहले, उपर्युक्त ग्रंथों के अतिरिक्त, भोज के **'सरस्वतीकण्ठाभरण'** और **'शृङ्गारप्रकाश'**, वाग्भट प्रथम के **'वाग्भटालंकार'**, हेम-

चन्द्र के '**काव्यानुशासन**', विद्यानाथ के '**प्रतापरुद्रयशोभूषण**', विश्वनाथ के '**साहित्यदर्पण**', शिंगभूपाल के '**रसार्णवसुधाकर**' आदि ग्रंथों में नायक-नायिका-भेद का विवेचन शृङ्गार-रस के विशिष्ट सन्दर्भ में किया गया।

यहाँ दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो यह कि नायक-नायिका-भेद का विवेचन शृङ्गार-रस के सन्दर्भ में हुआ और दूसरी यह कि नायक-नायिका-भेद का विवेचन काव्यशास्त्रियों में परम्परा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया था। रुद्रट का '**काव्यालंकार**', वाग्भट का '**वाग्भटालंकार**', हेमचन्द्र का '**काव्यानुशासन**', विद्यानाथ का '**प्रतापरुद्रयशोभूषण**' जैसे अरसवादी दृष्टिकोण को लेकर लिखे गए ग्रंथों द्वारा इस विषय का विवेचित किया जाना हमारे उपर्युक्त मत को पुष्ट करता है।

यह कहा जा चुका है कि भानुदत्त '**रसमंजरी**' में रसवादी दृष्टिकोण को लेकर चले थे। अतः स्वाभाविक था कि क्रम की दृष्टि से पहले शृंगार-रस विवेचित होता। यह शृङ्गार-रस सभी रसों में प्रमुख है; इतना ही नहीं, आस्वादनीयता की दृष्टि से एकमात्र रस है; ऐसा भानुदत्त के पूर्ववर्ती भोज कह ही चुके थे—**शृङ्गारमेव रसनाद्रसमामनामः**। फलतः भानुदत्त शृङ्गार-रस को छूते ही नायिका-भेद में प्रवृत्त हो गए और '**रसमंजरी**' में यही उनका प्रधान विषय बन कर रह गया। रस-विवेचन के अवशिष्ट अंशों पर उन्होंने '**रसतरंगिणी**' में विचार किया। यह स्पष्ट है ही कि जिस विषय का विवेचन वे '**रसमंजरी**' में कर आए थे उसे उन्होंने '**रसतरंगिणी**' में छोड़ दिया। इस प्रकार '**रसतरंगिणी**', '**रसमंजरी**' का पूरक ग्रन्थ सिद्ध होता है।

प्रोफेसर जी० वी० देवस्थली ने तीन पाण्डुलिपियों के आधार पर भानुदत्त के एक अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ '**अलंकारतिलक**' का प्रकाशन किया है।[1] इस ग्रन्थ के पांच परिच्छेद हैं [2] जिनके आधार पर ग्रन्थ का विवरण इस प्रकार है—

प्रथम परिच्छेद—**रीति-निरूपण**, द्वितीय परिच्छेद—**दोष-निरूपण**, तृतीय परिच्छेद—**गुण-निरूपण**, चतुर्थ परिच्छेद—**शब्दालंकार-निरूपण** और पंचम

[1] *Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society* (New Series) vol. 23 (1947), vol. 24-25 (1948 49).

[2] इस ग्रन्थ के पाँच परिच्छेदों में प्रथम तीन उपर्युक्त पत्रिका के भाग २३ में और शेष अन्तिम दो भाग २४-२५ में प्रकाशित हुए हैं।

परिच्छेद—अर्थालंकार-निरूपण।

यह ग्रन्थ जिन तीन पाण्डुलिपियों के आधार पर संशोधित करके प्रकाशित किया गया है उनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है—

१. भंडारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पूना से प्राप्त प्रति।

२. रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बई शाखा के पुस्तकालय से प्राप्त प्रति।

३. बम्बई विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के 'भगवतसिंह-संग्रह' से प्राप्त प्रति।

यह ग्रन्थ भानुदत्त-विरचित ही है, इसका निश्चय अनेक प्रकार से किया जा सकता है। सबसे पहली बात तो यह है कि इस ग्रन्थ की शैली भानुदत्त की ही अपनी विशिष्ट शैली है। पद्य और गद्य की **'रसमंजरी'** और **'रसतरंगिणी'** की शैली इस ग्रन्थ की भी है। भानुदत्त ने इन दोनों ग्रन्थों में मंगलाचरण के पश्चात् दूसरे श्लोक में ग्रन्थ का उद्देश्य अपने नाम का प्रयोग करते हुए प्रस्तुत किया है। यही शैली **'अलंकारतिलक'** में भी प्राप्य है।[1] दूसरी बात यह है कि इस ग्रन्थ में अनेक श्लोक ऐसे हैं जो **'रसतरंगिणी'** में यथावत् प्राप्य हैं। उदाहरण के लिए **'अलंकारतिलक'** का मंगलाचरण-श्लोक—

सोऽयं मे मुदमातनोतु भगवान् कोलावतारो हरिः
सिन्धोः क्लेशमपास्य यस्य दशनप्रान्ते स्थिताया भुवः।
तारा हारति वारिदस्तिलकति स्वर्वाहिनी माल्यति
क्रीडादर्पणति क्षपापतिरहर्देवश्च ताटङ्कति॥ (१।१)

'रसतरंगिणी' की सप्तम तरंग में 'अत्युक्ति' के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। अन्तर केवल इतना है कि **'रसतरंगिणी'** में **सोऽयं मे मुदमातनोतु** के स्थान पर **भूयादेश सतां हिताय** लिखा मिलता है, शेष श्लोक वैसा ही है।[2]

इस सम्बन्ध में दो श्लोक और प्रस्तुत किए जाते हैं जिनका व्यवहार **'अलंकारतिलक'** और **'रसतरंगिणी'** दोनों में ही पाया जाता है—

सप्ताम्भोनिधिनीरहीरपटलालंकारिणीं मेदिनीं
दातुं विप्रकुलाय योजितवतः संकल्पवाक्योद्यमम्।
नाभीनीररुहात्सरोरुहभुवा तत्कालमाविष्कृते
हस्तांभोरुहि भार्गवस्य किमपि क्रीडास्मितंपातु वः॥ (८।२७)

[1] उरः स्फुरदलङ्कारचमत्कारपट्टश्रियः।
तनोति तिलकं भाले भारत्या भानुसत्कविः॥ (१।२)

[2] रसतरंगिणी, ७।२२।

'**रसतरंगिणी**' की अष्टम तरंग में 'भावमुख' के सन्दर्भ में प्रयुक्त यह श्लोक '**अलंकारतिलक**' के प्रथम परिच्छेद में 'लाटी' रीति के सन्दर्भ में यथावत् प्रस्तुत किया गया है। इसी प्रकार '**रसतरंगिणी**' का यह श्लोक—

क्षोणीपर्यटनं श्रमाय विहितं वादाय विद्यार्जिता
मानध्वंसनहेतवे परिचितास्तेते धराधीश्वराः ।
विश्लेषाय सरोजसुन्दरदृशामास्ये कृता दृष्टयः
कुज्ञानेन मया प्रयागनगरे नाऽऽराधि नारायणः ।। (५।५)

'**अलंकारतिलक**' के पंचम परिच्छेद में 'आक्षेप' अलंकार के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है। शुद्ध पाठ की दृष्टि से जो थोड़ा-बहुत भेद दोनों स्थलों में प्राप्य है उसका विवरण यहाँ दिया जा रहा है—

रसतरंगिणी	**अलंकारतिलक**
विहितं (प्रथम पंक्ति)	विदुषां
परिचितास्तेते (द्वि० पं०)	परिचितास्ते ते
नाऽऽराधि	नाराधि

इनमें अर्थ की दृष्टि से प्रथम पाठभेद का महत्त्व है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह बता देना ठीक होगा कि स्वयं '**रसतरंगिणी**' की कई प्रतियों में '**अलंकार-तिलक**' का यह पाठ प्राप्त होता है।

'**रसतरंगिणी**' और '**अलंकारतिलक**' निश्चय ही एक व्यक्ति—भानुदत्त—के ग्रन्थ हैं, यह मत ऐसी स्थिति में और भी अधिक विश्वसनीय हो जाता है जब हम यह देखते हैं कि '**रसतरंगिणी**' के ही समान भानुदत्त ने '**अलंकार-तिलक**' में भी अपने स्वर्गीय पिता का स्मरण किया है और उनके वियोग में वाग्देवी की दीनहीन अवस्था का चित्रण किया है। '**अलंकारतिलक**' के तृतीय परिच्छेद में 'अर्थसुशब्दता' के संदर्भ में भानुदत्त ने लिखा है—

कविर्गणेशो वसुधां विहाय स्वर्लोकमालोकितुमाजगाम ।
देवी गिरां दीर्घतरं श्वसन्ती शैवालशय्यासु वपुर्बभार ।।[1]

'**रसतरंगिणी**' से इसकी तुलना कीजिए—

ताते निर्गच्छति गणपतौ नाकमद्याऽपि तस्या
वाचां देव्यास्त्यजति शिथिलं कङ्कणं नैव दोष्णोः ।

1 *Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society*, (New series), vol. 23 (1947), p. 80.

अद्याप्यार्द्रीभवति कुचयोर्नैव पाटीरपंको
नेत्रे निर्यत्पयसि न पुनः कज्जलं स्थैर्यमेति ॥ (३।७)

इसके अतिरिक्त इन दोनों ही ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर भानुदत्त ने अपने पिता की रचनाओं को **यथा तातचरणानाम्** कहकर उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत किया है। अतः अब संदेह नहीं रह जाता कि **'अलंकारतिलक'** भानुदत्त की ही लेखनी से लिखा गया ग्रन्थ है।

इस सम्पूर्ण विवेचन से कुछ निष्कर्ष लिए जा सकते हैं जिनका उल्लेख आवश्यक है। प्रथम तो यह है कि **'रसतरंगिणी'** और **'अलंकारतिलक'** क्रम से लिखे गए ग्रन्थ हैं और इनकी रचना में अधिक-से-अधिक दो वर्ष का अन्तर हो सकता है। इस निष्कर्ष को स्थापित करने का कारण ऊपर उद्धृत किए गए दो श्लोक ही हैं। पिता के देहान्त का दोनों ही ग्रन्थों में स्मरण करना यही सिद्ध करता है। निश्चय ही भानुदत्त के पिता की मृत्यु इन दोनों ग्रन्थों की रचना से कुछ ही समय पूर्व हुई होगी और वे इस दुःखदायी घटना की कटु वेदना से इस काल में ग्रस्त रहे होंगे। द्वितीय निष्कर्ष यह है कि **'रसतरंगिणी' 'अलंकारतिलक'** से पहले रचा गया ग्रन्थ है। नायिका-भेद के ग्रन्थ **'रसमंजरी'** के पश्चात् **'रसतरंगिणी'** में रस और उस के अन्य अवयवों का वर्णन करना स्वाभाविक प्रतीत होता है। रीति, दोष, गुण, अलंकार आदि की ओर भानुदत्त की दृष्टि बाद में ही गई होगी।

यहीं सहसा एक और तथ्य का उद्‌घाटन होता है। भानुदत्त के मस्तिष्क में काव्य के सर्वांग-निरूपण की योजना **'रसमंजरी'** से भी पूर्व जन्म ले चुकी थी। अपने रसवादी दृष्टिकोण के अनुसार उन्होंने पहले **'रसमंजरी'** और **'रस-तरंगिणी'**—इन दो रस-ग्रन्थों का प्रणयन किया और फिर औपचारिक रूप से वे अन्य काव्यांगों के विवेचन में प्रवृत्त हुए। हो सकता है कि उनके मन में ध्वनि, वक्रोक्ति आदि का विवेचन करने की भी भावना रही हो और वह किन्हीं कारणों से कार्यान्वित न हो पाई हो। इस सन्दर्भ में थोड़ा आगे चलकर विचार किया गया है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस मनोनिवेश और अध्यवसाय से भानुदत्त ने रस-ग्रन्थों की रचना की है, **'अलंकारतिलक'** की नहीं। इसके कुछ कारण हैं। **'रसतरंगिणी'** के अनेक श्लोकों का **'अलंकारतिलक'** में यथावत् प्राप्त होना

इस निष्कर्ष की ओर संकेत करता है। और-तो-और, भानुदत्त ने 'रसतरंगिणी' के एक श्लोक का प्रयोग 'अलंकारतिलक' के मंगलाचरण-श्लोक तक के लिए कर दिया है। इस सम्बन्ध में आवश्यक संकेत पहले किया जा चुका है। वैसे भी '**अलंकारतिलक**' का समस्त विवेचन नितान्त औपचारिक प्रतीत होता है।

'**गीतगौरीश**', '**कुमारभार्गवीय**' और '**शृङ्गारदीपिका**'— इन तीन ग्रन्थों को भी भानुदत्त के कृतित्व से सम्बद्ध किया जाता है। '**गीतगौरीश**' जयदेव के '**गीतगोविन्द**' की पद्धति पर रचा गया ग्रन्थ है और इसमें दस सर्गों के अंतर्गत गौरी का शिव के प्रति आकर्षण वर्णित किया गया है। कुछ प्रतियों में इस ग्रन्थ का नाम '**गीतगौरीपति**' भी मिलता है। इसका प्रकाशन बम्बई से 'ग्रन्थ-रत्नमाला' में सन् १८८७ में किया गया था। हमें अत्यन्त खेद है कि अनेक प्रयासों के पश्चात् भी हमें यह पुस्तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। सुशीलकुमार डे ने अपने ग्रन्थ '**हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोएटिक्स**' में कुछ उदाहरण देकर यह स्पष्ट किया है कि '**गीतगौरीश**' छन्द और शैली में कहाँ तक '**गीतगोविन्द**' से प्रभावित है। हम यहाँ उस पुस्तक से एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

जयदेव-कृत '**गीतगोविन्द**'—

निभृत-निकुञ्ज-गृहं गतया निशि रहसि निलीय वसन्तम्
चकित-विलोकित-सकल-दिशा रति-रभस-रसेन हसन्तम्।
सखि हे केशि-मथनम् उदारम्
रमय मया सह मदन-मनोरथ-भवितया सविकारम्॥

भानुदत्त-कृत '**गीतगौरीश**'—

अभिनव-यौवन-भूषितया दर-तरलित-लोचन-तारम्
किंचिदुदञ्चित-विहसितया चलदविरल-पुलक-विकारम्।
सखि हे शंकरम् उदित-विलासम्
सह संगमय मया नतया रति-कौतुक-दर्शित-हासम्॥[1]

'**कुमारभार्गवीय**' की रचना बारह उच्छ्वासों में हुई है और इसकी शैली गद्यपद्यमिश्रित है।[2] इस ग्रन्थ में भानुदत्त ने अपने वंशवृक्ष का भी उल्लेख

1 *History of Sanskrit Poetics*, (Calcutta, 1960), p. 244.
2 Eggeling, *India Office Cat. of Sanskrit Mss.*, VII,. pp. 1540-41.

किया है जिसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। '**शृङ्गारदीपिका**' की अभी तक कोई प्रति प्राप्त नहीं हुई है।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भानुदत्त के एक और ग्रन्थ की सूचना '**अलंकार-तिलक**' से प्राप्त होती है जिसका विषय काव्यशास्त्र ही प्रतीत होता है। '**अलं-कारतिलक**' के चतुर्थ परिच्छेद में भानुदत्त ने शब्दालंकारों का विवेचन करते हुए कहा है कि वे '**चित्रगूढप्रहेलिका**' से सम्बन्धित प्रश्नोत्तरों का '**चित्रचन्द्रिका**' में विश्लेषण करेंगे—

चित्रगूढप्रहेलिकाप्रश्नोत्तराणि चित्रचन्द्रिकायां दर्शयिष्यामः।[1]

अतः '**चित्रचन्द्रिका**' भी भानुदत्त-रचित ग्रन्थ प्रमाणित होता है। किन्तु अभी तक इस ग्रंथ की कोई अन्य सूचना प्रकाशित नहीं हुई है। डॉ० वी० राघवन ने भी इस विषय में प्रोफ़ेसर देवस्थली को लिखा था कि इस ग्रंथ का अन्य कोई संकेत कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ है।[2] इस सम्बन्ध में हमारा यह अनुमान है कि '**अलंकारतिलक**' की रचना करते समय भानुदत्त का विचार इस ग्रन्थ का प्रणयन करने का रहा होगा और इससे पूर्व ही वे मृत्यु को प्राप्त हो गए होंगे। अभी हमने यह कहा था कि हो सकता है कि भानुदत्त के मन में ध्वनि, वक्रोक्ति आदि का विवेचन करने की योजना रही हो और वह किन्हीं कारणों से कार्यान्वित न हो पाई हो। वास्तव में '**रसतरंगिणी**' और '**अलंकारतिलक**' के रचना-काल के समय भानुदत्त वृद्ध हो चुके थे और उनमें शारीरिक अशक्तता आ गई थी। इस निष्कर्ष का आधार यह श्लोक है जो '**रसतरंगिणी**' और '**अलंकारतिलक**'—दोनों ही ग्रन्थों में समान रूप से प्राप्त होता है—

क्षोणीपर्यटनं श्रमाय विहितं वादाय विद्यार्जिता
मानध्वंसनहेतवे परिचितास्तेते धराधीश्वराः।
विश्लेषाय सरोजसुन्दरदृशामास्ये कृता दृष्टयः
कुज्ञानेन मया प्रयागनगरे नाऽऽराधि नारायणः॥

—अर्थात्, मैंने सारी पृथ्वी का भ्रमण करने में व्यर्थ श्रम किया, विद्या केवल वाद के लिए अर्जित की, बड़े-बड़े सम्राटों से अपना मान खोकर परिचय बढ़ाया,

1 Fol. 12 p. of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society Ms. of '*Alankāra Tilaka*'.

2 *New Indian Antiquary*, Vol. VII, Nos. 7&8 (Oct. & Nov. 1944), p. 115.

कमल के समान नेत्रों वाली सुन्दरियों के मुख पर दृष्टि डालने का भी परिणाम अंततः वियोग के रूप में भोगना पड़ा परन्तु अज्ञान के कारण मैंने प्रयाग में जाकर भगवान् की आराधना नहीं की।

स्पष्ट है कि भानुदत्त इस समय तक अपना यौवन व्यतीत कर वृद्धावस्था में पदार्पण कर चुके थे और शारीरिक रूप से अशक्त हो चुके थे। फलतः वे या तो श्रम न कर पाने के कारण अथवा मृत्यु को प्राप्त हो जाने के कारण न तो काव्य के अन्य अंगों का विवेचन कर पाए और न ही **'चित्रचन्द्रिका'** की रचना का अवकाश उन्हें मिल पाया।

के० पी० जायसवाल और अनन्तप्रसाद शास्त्री[1] ने भानुदत्त के एक और ग्रन्थ **'पारिजात'** की सूचना दी है जिसका आधार धर्मशास्त्र है।[2] उन्होंने इसका जो विवरण दिया है उसे हमने पाद-टिप्पणी में उद्धृत कर दिया है।[3] इस ग्रन्थ के ये दो श्लोक हमें यह स्वीकार करने को बाध्य कर देते हैं कि इसके रचयिता भानुदत्त ही हैं—

यथा गणपतिः काव्यङ्काव्यं भानुकवेस्तथा।
अनयोः संगमश्लाघ्यः शर्कराक्षीरयोरिव ॥ २ ॥
वसुधा विबुधास्तर्कतिग्मांशुकरतापिताः।
कवेः श्री भानुदत्तस्य पारिजातो निषेव्यताम् ॥ ३ ॥

इन श्लोकों की तुलना **'रसमञ्जरी'** के इस श्लोक से की गई है—

तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालङ्कारचूडामणि—
देशो यस्य विदेहभूः सुरसरित्कल्लोलकिर्मीरिता।

1 Kashiprasad Jayaswal and Anantaprasad Shastri, *A Descriptive Catalogue of Manuscripts in Mithila*, Vol. 1, Smṛti Manuscripts, (Patna, 1927) pp. 278-79.

२ क्रमांक २५७।

3 Substance — Character Maithili. White paper. Lines 9 on a page. Letters 57 in a line. Folio 21. $13\frac{1}{2} \times 3\frac{1}{2}$ inches. Appearance, fairly old. Prose and Verse. Incomplete. Incorrect. Date (?). Place of deposit, Pandit Jaduveera Miśra, Khopā, Phulaparās, P. O. Darbhanga. A manual of Dharmaśāstra, dealing with Tithivichāra by Bhanudatta.' p. 278.

पद्येन स्वकृतेन तेन कविना श्रीभानुना योजिता।
वाग्देवीश्रुतिपारिजातकुसुमस्पर्धाकरी मञ्जरी ।। १३८ ।।

इन दोनों श्लोकों में अनेक तथ्यों का साम्य है। किन्तु इससे पहले एक बात और। 'पारिजात' के श्लोकों की प्रथम पंक्ति में **गणपतिः** के स्थान पर **गणपतेः** होना चाहिए। यही पाठ शुद्ध हो सकता है। इसका कारण यह है कि यहाँ भानुदत्त अपने और गणपति के काव्य की तुलना कर रहे हैं। **काव्यं भानुकवेस्तथा** के साथ ठीक प्रयोग **यथा गणपतेः** ही हो सकता है। तो पहला साम्य यह है कि '**पारिजात**' के इन श्लोकों की प्रथम और द्वितीय पंक्तियाँ गणपति और भानुदत्त में पिता-पुत्र का सम्बन्ध व्यंजित करती हैं। '**रसमंजरी**' के श्लोक की प्रथम पंक्ति में भानुदत्त ने अपने पिता का नाम गणेश्वर बताया ही है।[1] दोनों ही ग्रन्थों के रचयिता भानुदत्त हैं—**कवेः श्रीभानुदत्तस्य पारिजातो निषेव्यताम्** (पारिजात) और **पद्येन स्वकृतेन तेन कविना श्रीभानुना योजिता** (रसमंजरी)। इसी प्रकार दोनों ही ग्रन्थों के इन श्लोकों से यह सिद्ध होता है कि भानुदत्त के पिता गणपति श्रेष्ठ कवि थे—**यथा गणपतेः काव्यं** (पारिजात) और **तातो यस्य गणेश्वरः कविकुलालङ्कारचूडामणिः** (रसमंजरी)। यह तथ्य '**रसतरंगिणी**' और '**अलंकारतिलक**'—इन दो ग्रन्थों से भी सिद्ध है। '**रसमंजरी**' के भानुदत्त विदेह के रहने वाले हैं—**देशो यस्य विदेहभूः** और '**पारिजात**' की पाण्डुलिपि इसी प्रदेश के रहने वाले पंडित जदुवीर मिश्र से प्राप्त हुई थी जिनका पता इस प्रकार दिया गया है—खोपा, फूलपरास, डाकखाना दरभंगा।

इस आधार पर दोनों ही ग्रन्थों के रचयिता भानुदत्त सिद्ध होते हैं। यदि यह स्वीकार कर लिया जाता है तो '**रसमंजरी**' '**पारिजात**' का परवर्ती ग्रन्थ ठहरता है। इस निष्कर्षका आधार '**रसमंजरी**' के उक्त श्लोक की यह अंतिम पंक्ति है—

१ वास्तव में यह नाम भी भानुदत्त की अनेक कृतियों में विविध प्रकार से दिया हुआ है—गणपति, गणेश, गणेश्वर, गणनाथ, गणपतिनाथ। 'गणपति' के लिए देखिए '**पारिजात**' का यही श्लोक, '**रसतरंगिणी**' ३/७; 'गणेश'—'**अलंकारतिलक**', देखिए पृष्ठ २०, संदर्भ-संख्या १; 'गणेश्वर'—'**रसमंजरी**' १३८; 'गणनाथ'—देखिए पृष्ठ १५, संदर्भ-संख्या १; इसके लिए हमारा अनुमान है कि लिपिक के प्रमादवश 'गुणनाथ' लिखा गया है; '**गीतगौरीश**' में भानुदत्त ने स्वयं को 'गणनाथ-सुत' कहा है; 'गणपतिनाथ'—'**रसतरंगिणी**', सं० पाल रेनाड, पृष्ठ ६६।

वाग्देवीश्रुतिपारिजातकुसुमस्पर्धाकरी मञ्जरी ।

वास्तव में हमें इस पंक्ति के **'पारिजात'** शब्द में श्लेष स्वीकार करना होगा। इस रूप में **'रसमंजरी' 'पारिजात'** से स्पर्धा करने वाला ग्रन्थ है। इतने पर भी यह कहना होगा कि इस विषय में अभी और अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। आवश्यकता इसलिए है कि धर्मशास्त्र और काव्यशास्त्र के ग्रन्थों में परस्पर कैसी स्पर्द्धा ? फिर **'पारिजात'** को भानुदत्त-रचित ही मान लेने पर समय-संबंधी अनेक समस्याएँ सामने आ जाती हैं। उन्हें सुलझाना भी आवश्यक है।

(६) 'रसतरंगिणी' के विविध संस्करण

अभी तक **'रसतरंगिणी'** के चार विभिन्न संस्करण प्रकाशित हुए हैं। उनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

1. Paul Regnaud, ed. 'La Rhetorique Sanskrite,' Paris : Ernest Leroux (1884), pp. 43-66. (Text in Roman Transliteration).

२. काशी संस्कृत प्रेस, बनारस (१८८५)। इस संस्करण में गंगाराम जडि की 'नौका' टीका भी दी गई थी जिसका विस्तृत परिचय आगे यथास्थान दिया गया है।

३. ग्रन्थरत्नमाला, भाग १ (१८८७-८८)।

४. श्रीवेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, संवत् १९७१ (सन् १९१४)। जीवनाथ जी ओझा-कृत भाषाटीका-सहित।

ये सभी संस्करण अप्राप्य हो गए हैं और दिन-प्रतिदिन इस ग्रंथ की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। इस ग्रंथ का महत्त्व क्या है, इस सम्बन्ध में भूमिका के अन्त में विचार किया गया है।

(७) 'रसतरंगिणी' की टीकाएँ

१. **'रसतरंगिणी'** की 'नौका' टीका के लेखक हैं गंगाराम जडि। ऊपर यह कहा जा चुका है कि **'रसतरंगिणी'** के साथ सन् १८८५ में काशी संस्कृत प्रेस, बनारस से इसका प्रकाशन हुआ था। इस टीका का रचना-काल संवत् १७९९ स्वीकार किया गया है। पी० के० गोड ने भंडारकर ओरिएंटल इंस्टीट्यूट में सुरक्षित 'गवर्नमैंट मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी' की इस रचना की एक पाण्डुलिपि की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि इस ग्रंथ में प्राप्य

एक पंक्ति के आधार पर इसका रचनाकाल संवत् १७६६ सिद्ध होता है।[1] वह पंक्ति इस प्रकार है—

ग्रहांकनगपृथ्व्यंके १७६६ नौकांगिरसिवत्सरे।

—अर्थात् ग्रह = ६, अंक = ६, नग = ७ और पृथ्वी = १ = १७६६

गंगाराम जडि नारायण के पुत्र और नीलकण्ठ के शिष्य थे। इन्होंने **'रसमीमांसा'** नामक एक स्वतन्त्र काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की रचना भी की थी। इसका प्रकाशन काशी संस्कृत प्रेस, बनारस से सन् १८८५ में हुआ था। काव्य-रसों के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में ११४ श्लोक लिखे गए हैं। लेखक ने इस ग्रन्थ में **'रसतरंगिणी'** की स्वलिखित 'नौका' टीका का भी उल्लेख किया है। स्पष्ट है कि 'नौका' टीका का प्रणयन **'रसमीमांसा'** से पूर्व हुआ है। जडि ने तर्कशास्त्र पर भी दो ग्रन्थ लिखे थे जिनमें एक का नाम है **'तर्कामृत-चषक'**। वास्तव में यह ग्रन्थ जगदीश के **'तर्कामृत'** की व्याख्या है। इनका समय अठारहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

२. वेणीदत्त तर्कवागीश भट्टाचार्य ने **'रसतरंगिणी'** की 'रसिकरंजनी' टीका लिखी। ये वीरेश्वर के पुत्र और लक्ष्मण के पौत्र थे। इनका परिवार 'अहिच्छत्रधरकुल' कहा जाता था। इस परिवार का वंशवृक्ष इस प्रकार प्राप्त हुआ है—महीधर (ये काशीपति के मांत्रिक और 'मंत्र-महोदधि' के लेखक थे) → कल्याण → लक्ष्मण → वीरेश्वर → वेणीदत्त। एक प्रक्षिप्त अंश के आधार पर पहले इस टीका का रचना-काल सन् १५५३ निर्धारित कर लिया गया था।[2] किन्तु परवर्ती अनुसंधान के आधार पर प्रोफेसर जी० वी० देवस्थली का यह मत है कि इस ग्रन्थ की रचना अठारहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों, लगभग १७०८ ई०, में हुई है।[3]

वेणीदत्त ने एक काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ की भी रचना की थी जिस का नाम **'अलंकार-चन्द्रोदय'** है। इसमें छः उल्लास हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—१. काव्य-स्वरूप, २. काव्य-विभाग, ३. दोष, ४. गुण, ५. अलंकार, ६. उपमा। वेणीदत्त ने इस ग्रन्थ में 'श्रीवर' उपनाम का प्रयोग भी किया है

[1] *Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute*, Vol. XIII (1931-32), p. 186

[2] Eggeling's *Catalogue of Sanskrit Mss. in the India Office Library*, no. 1216.

[3] *Indian Antiquary*, V (1942) p. 195 f.

और 'अहिच्छत्रधरकुल' से मिलती-जुलती एक अन्य पंक्ति 'नागच्छत्रधर-द्विजोत्तमकुल' अपने परिवार के संबंध में प्रस्तुत की है।

३. **'रसमंजरी'** की 'रसिकरंजन' टीका के लेखक व्रजराज दीक्षित के पुत्र जीवराज ने 'रसतरंगिणी' की 'सेतु' (अथवा 'सेतुबंध') टीका लिखी। इनका वंशवृक्ष इस प्रकार प्राप्त हुआ है—नरहरिबिन्दुपुरन्दर→सामराज→कामराज→व्रजराज→जीवराज। यह वंश अपनी विद्वत्ता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हुआ है। सामराज ने, जिन्हें श्यामराज भी कहा जाता है, **'त्रिपुरसुन्दरीमानसपूजन-स्तोत्र'** का प्रणयन किया था। इसका प्रकाशन निर्णयसागर प्रेस, बम्बई की **'काव्यमाला'**—गुच्छक ६ में हुआ है। कामराज कवि भी थे और नाटककार भी। इनके **'शृङ्गार-कलिका-काव्य'** का प्रकाशन **'काव्यमाला'**—गुच्छक १४ में हुआ है। इन्होंने **'धूर्त-नर्तक'** नामक एक प्रहसन की भी रचना की थी जिसका उल्लेख कीथ ने अपने ग्रन्थ **'संस्कृत ड्रामा'** में पृष्ठ २६२-६३ पर किया है। यह कहा ही जा चुका है कि व्रजराज ने **'रसमंजरी'** की 'रसिक रंजन' टीका लिखी थी।

जीवराज की 'सेतु' टीका का रचना-काल प्राप्त नहीं हुआ है किन्तु तीन तथ्यों के आधार पर इसे निश्चित किया जा सकता है—(१) सामराज, जो जीवराज के प्रपितामह थे, सतरहवीं शताब्दी के अंतिम वर्षों में जीवित थे। (२) व्रजराज ने अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में **'रसमंजरी'** की 'रसिकरंजन' टीका लिखी। (३) जीवराज ने अपनी टीका में गंगाराम जडि की 'नौका' टीका का उल्लेख किया है जिसका रचना-काल सन् १७४२ है। इस आधार पर इस टीका का रचना-काल अठारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है। प्रोफेसर काणे के मत से भी हमारे इस निश्चय की पुष्टि होती है।[1]

४. 'रसोदधि' टीका के लेखक हैं गणेश। इसका रचना-काल सन् १६९८ है।[2]

५. 'रसोदधि' नाम की महादेव द्वारा लिखी गई टीका का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इसका रचना-काल अज्ञात है।[3]

६. भगवद्भट्ट-लिखित 'नूतन-तरि' टीका का समय भी अनिश्चित है।[4]

[1] *History of Sanskrit Poetics*, (Delhi 1961) p. 431, Col. 1,

[2] Buhler, *Cat. Gujarat, Kathiawad etc*, 3.54.

[3] Kielhorn, *Central Province Catalogue*, 104.

[4] Th. Aufrecht's *Catalogus Catalogorum*, p. i. 494 b.

७. 'रसतरंगिणी' पर अयोध्याप्रसाद की टीका। इन्होंने केदार भट्ट के 'वृत्तरत्नाकर' की व्याख्या भी लिखी थी।

८. 'साहित्यसुधा' अथवा 'काव्यसुधा' टीका के लेखक हैं नेमिशाह। पी० के० गोड ने इन्हें नेमिशाह द्वितीय बताया है। इस प्रकार इनका समय १६५० ई० स्थिर होता है।[1] नेमिशाह भीमशाह के पुत्र थे जो 'महाराजाधिराज' की पदवी से विभूषित थे। विशेष परिचय के लिए सन्दर्भ-संकेत देखें।[2]

९. 'रसतरंगिणी' पर दिनकर की टीका।[3] ऐसा अनुमान किया जाता है कि नेमिशाह की 'साहित्यसुधा' टीका के लेखक दिनकर ही थे। दिनकर नेमिशाह के आश्रित थे।

प्रोफेसर काणे ने 'रसतरंगिणी' पर गोपाल भट्ट की 'रसिकरंजनी' टीका का उल्लेख किया है।[4] यह 'रसिकरंजनी' 'रसतरंगिणी' की नहीं, 'रसमंजरी' की टीका है। अतः गोपाल भट्ट के विषय में अनुसंधान की आवश्यकता नहीं है। सुशीलकुमार डे ने भी इस टीका का उल्लेख नहीं किया है। हम कह नहीं सकते कि प्रोफेसर काणे से यह अशुद्धि किस प्रकार हुई है। वास्तव में गोपाल भट्ट ने रुद्रभट्ट के 'शृङ्गारतिलक' पर 'रसतरंगिणी' टीका लिखी थी।

(८) 'रसतरंगिणी'-शीर्षक अन्य काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ

भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' के अतिरिक्त इसी नाम के अन्य ग्रन्थों की रचना भी संस्कृत काव्यशास्त्र में हुई है। यहाँ उनका उल्लेख किया जा रहा है—

१. ऊपर यह कहा जा चुका है कि गोपाल भट्ट ने रुद्रभट्ट के 'शृङ्गारतिलक' पर 'रसतरंगिणी' नाम की टीका लिखी थी। गोपाल भट्ट हरिवंश भट्ट के पुत्र थे। इसी नाम के एक अन्य व्यक्ति का भी पता चला है जिसने मम्मट के 'काव्यप्रकाश' की टीका लिखी थी। उस टीका का नाम 'साहित्यचूडामणि' है। यदि हम इन दोनों व्यक्तियों को एक ही मान लेते हैं तो गोपाल भट्ट का समय अठारहवीं शताब्दी स्थिर होता है। गोपाल भट्ट दक्षिण के रहने वाले थे।

[1] *Cal. Orient. Journal*, i, pp. 217-20.

[2] *Cat. B. O. R. I., Ms.* XII, pp. 234-35; *Aufrecht*, i, 494 b, iii. 106 a.

[3] *Aufrecht*, ii, 115 b.

[4] *His ory of Sanskrit Poetics*, (Delhi 1961), p. 431, Col. 1.

२. जीवगोस्वामी और विश्वनाथ चक्रवर्ती ने श्री रूपगोस्वामी के ग्रन्थ '**उज्ज्वलनीलमणि**' की व्याख्या में नारायण भट्ट के स्वतन्त्र ग्रन्थ 'रसतरंगिणी' का उल्लेख किया है—

एवमेव श्रीनारायणभट्टैरपि स्वकृतायां रसतरङ्गिण्यां तृतीय उल्लासे आलम्बनप्रकरणे तस्याः परकीयात्वमेवोक्तम् ।[1]

किन्तु अभी तक इस ग्रन्थ की अन्य कोई सूचना प्रकाशित नहीं हुई है।

३. रामानन्द ठक्कुर का ग्रन्थ '**रसतरंगिणी**' मुख्य रूप से नायिका-भेद का ग्रन्थ है। इसका प्रकाशन सन् १९६१ में 'मिथिला इंस्टीट्यूट ऑव पोस्ट-ग्रेजुएट स्टडीज़ एन्ड रिसर्च इन संस्कृत लर्निंग' दरभंगा से हुआ है। यह ग्रन्थ सात तरंगों में विभाजित है और इसमें कुल ३५७ श्लोक हैं। ग्रन्थ का विवरण इस प्रकार है—

प्रथम तरंग—**स्वकीया-निरूपण**, द्वितीय तरंग—**परकीया-निरूपण**, तृतीय तरंग—**षोडश-नायिका-निरूपण**, चतुर्थ तरंग—**अष्टनायिका-निरूपण**, पंचम तरंग—**विविधनायिकासखीदूती-निरूपण**, षष्ठ तरंग—**नायकसचिवादि-निरूपण** और सप्तम तरंग—**उद्दीपनविभाव-निरूपण**।

रामानन्द का समय अभी तक अनिश्चित कहा जाता रहा है किन्तु इसके लिए बहुत अधिक अनुसंधान की आवश्यकता नहीं है। रामानन्द मम्मट के प्रसिद्ध टीकाकार गोविन्द ठक्कुर के पौत्र हैं। गोविन्द ठक्कुर के आठ पुत्र थे जिनमें रामानन्द देवनाथ ठक्कुर के पुत्र थे। गोविन्द ठक्कुर ने '**काव्यप्रकाश**' की टीका 'काव्यप्रदीप' में साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ को 'अर्वाचीन' कहा है। इस संदर्भ में उन्होंने न तो विश्वनाथ का नाम ही लिया है और न ही उनकी कृति '**साहित्यदर्पण**' का। यहाँ वह अंश प्रस्तुत किया जा रहा है—

अर्वाचीनास्तु—"यथोक्तस्य काव्यलक्षणत्वे काव्यपदं निर्विषयं प्रविरल-विषयं वा स्यात्। दोषाणां दुर्वारत्वात्। तस्मात् 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' इति तल्लक्षणम्। तथा च दुष्टेऽपि रसान्वये काव्यत्वमस्त्येव। परं त्वपकर्ष-मात्रम्। तदुक्तम्—

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः॥' इति

एवं चालंकारादिसत्त्वे उत्कर्षमात्रम्।

[1] उज्ज्वलनीलमणि, काव्यमाला ९५, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (१९३२) पृष्ठ २५।

नीरसे तु चित्रादौ काव्यव्यवहारो गौणः" इत्याहुः ।।[1]

विश्वनाथ का समय चौदहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। यह तो गोविन्द ठक्कुर के समय की पूर्ववर्ती सीमा हुई। उधर सोलहवीं शताब्दी के प्रभाकर भट्ट ने अपने ग्रन्थ 'रसप्रदीप' में काव्यप्रदीपकार के मतों का उल्लेख किया है।[2] 'रसप्रदीप' का रचना-काल सन् १५८३ है। इस प्रकार गोविन्द ठक्कुर का समय मोटे रूप में पंद्रहवीं शताब्दी के अन्त में रखा जा सकता है। इसी आधार पर रामानंद का समय सतरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वीकार किया जा सकता है।

रामानंद-कृत 'रसतरंगिणी' पर भानुदत्त की 'रसमंजरी' का प्रभाव देखा जा सकता है। यह पहले कहा जा चुका है कि भानुदत्त 'रसमंजरी' में रसों के विषय में शृंगार को अभ्यर्हित मानते हुए एकदम से नायिका-भेद का विवेचन करने लग जाते हैं। ठीक ऐसा ही रामानन्द ने भी किया है। यहाँ दोनों ग्रन्थों के वे अंश प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

रसमंजरी—

तत्र रसेषु शृङ्गारस्याभ्यर्हितत्वेन तदालम्बनविभावत्वेन नायिका तावन्निरूप्यते। सा च त्रिविधा—स्वीया, परकीया, सामान्या चेति। तत्र स्वामिन्येवानुरक्ता स्वीया।[3]

रामानन्द-कृत रसतरंगिणी—

रसेषु मुख्यः शृङ्गारस्तत्र प्राधान्यमागता।
आलम्बनविभावत्वान्नायिकाऽत्र निरूप्यते ॥ ४ ॥
स्वकीया परकीया च सामान्या चेति सा त्रिधा।
स्वकीया भर्तृशुश्रूषारता संरक्षितान्वया ॥ ५ ॥[4]

(६) 'रसतरंगिणी' की विषयवस्तु

पहले भी कहा जा चुका है कि 'रसतरंगिणी' शुद्ध एवं सैद्धांतिक रूप से रस-विवेचन का ग्रन्थ है। भानुदत्त ने मंगलाचरण में ही इस बात का संकेत कर दिया है। उन्होंने एक रूपक बाँधकर विभिन्न रसों का सद्भाव पीताम्बरधारी

[1] **काव्यप्रदीप**, काव्यमाला २४, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (१६३३) पृष्ठ ११।

[2] **रसप्रदीप**, द प्रिंसैस ऑव वेल्स सरस्वती भवन टैक्स्ट्स, भाग १२, बनारस (१६२५) पृष्ठ ६।

[3] **रसमंजरी**, श्रीहरिकृष्ण निबन्ध भवन, बनारस (१६५१) पृष्ठ ४-५।

[4] **रसतरंगिणी**, मिथिला संस्कृत विद्यापीठ, दरभंगा (१६६१) पृष्ठ १।

भगवान् विष्णु में दिखाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि मंगलाचरण-श्लोक ही ग्रन्थ की भूमिका है। और वास्तव में ऐसा है भी। समस्त ग्रन्थ में इसी संकेत का विस्तार है। रस, रसों के स्थायी भाव, विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव, सात्त्विक भाव आदि के विवेचन में समस्त रस-चिंतन को अन्तर्भूत कर लिया गया है। स्पष्ट है कि ग्रन्थ का सम्पूर्ण कलेवर रस को ही समर्पित है। इस ग्रन्थ का उद्देश्य ही रसाप्लावित वाणी का उद्घोष करना है। शास्त्र-चर्चा में वाणी सरस नहीं रह पाती क्योंकि तार्किकता के आधिक्य से वह बोझिल हो जाती है। इसीलिए भानुदत्त ने कहा—

भारत्याः शास्त्रकान्तार श्रान्तायाः शैत्यकारिणी।
क्रियते भानुना भूरिरसा रसतरंगिणी ॥ (१.२)

ग्रन्थ का विभाजन आठ तरंगों में किया गया है। प्रथम तरंग में विकारों को दो प्रकार का बताया गया है—आन्तर और शारीर। आन्तर विकारों के भी दो प्रकार हैं—स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव। सात्त्विक भाव शारीर हैं। भावों में मुख्य हैं स्थायी भाव। इनकी संख्या आठ है। इसलिए पहले प्रथम तरंग में स्थायी भावों का विवेचन किया गया है। द्वितीय तरंग में विभाव-विवेचन है। विभाव दो प्रकार के हैं—आलम्बन-विभाव और उद्दीपन-विभाव। तृतीय तरंग का नाम अनुभाव-निरूपण है। शारीर सात्त्विक भावों का निरूपण चतुर्थ तरंग में किया गया है। इनकी परम्परागत संख्या में भानुदत्त ने 'जृम्भा' नाम के नूतन सात्त्विक का योग किया है और तर्कपूर्ण शैली में इसे नौवाँ सात्त्विक सिद्ध किया है। पंचम तरंग में व्यभिचारी भाव विवेचित किए गए हैं। यहाँ भानुदत्त ने एक नूतन उद्भावना की है। उनका मत है कि 'छल' भी संचारी है। षष्ठ तरंग में शृङ्गार-रस का विस्तृत विवेचन है। इसी तरंग में भानुदत्त ने यह स्थापना की है कि रसों के दो प्रकार हैं—लौकिक और अलौकिक। लौकिक सन्निकर्षों से लौकिक रसों का और अलौकिक सन्निकर्षों से अलौकिक रसों का जन्म होता है। वात्सल्य, लौल्य, भक्ति और कार्पण्य को भानुदत्त ने रसों की संज्ञा नहीं दी है। शृङ्गार-रस के दो भेद हैं—संयोग और विप्रलम्भ। इसी तरंग में भानुदत्त ने यह कहा है कि यहाँ विस्तार-भय से नायिका-भेद का विवेचन इसलिए नहीं किया जा रहा क्योंकि यह विषय **'रसमंजरी'** में प्रथमतः विवेचित किया जा चुका है। यहाँ दस हावों का विवेचन भी किया गया है। इस तरंग के उत्तरार्द्ध में विप्रलम्भ-शृङ्गार विवेचित हुआ है। शृङ्गार-रस के अतिरिक्त अन्य शेष रस सप्तम तरंग के विषय हैं। हास्य,

करुण, भयानक, बीभत्स और अद्भुत—इन रसों का स्वनिष्ठ-परनिष्ठ-भेद से विभाजन किया गया है। चित्तवृत्तियों की प्रवृत्ति और निवृत्ति के आधार पर माया-रस और शान्त-रस का विवेचन भानुदत्त ने किया है। माया-रस भी भानुदत्त की नूतन उद्भावना है। अष्टम तरंग को भानुदत्त ने प्रकीर्णक कहा है। प्रारम्भ में स्थायी भावों की आठ, व्यभिचारी भावों की बीस और रसों की आठ, कुल छत्तीस दृष्टियों का नामपरिगणन किया गया है। उदाहरण केवल ललिता और ग्लाना दृष्टियों के दिए गए हैं। इनके पश्चात् रसों के जन्यजनक-भाव, शत्रु रसों, औचित्य अनौचित्य, रसाभास, रसशबलता, भावशबलता आदि का विवेचन किया गया है। इस तरंग में भानुदत्त ने रसों का एक और प्रकार से भी वर्गीकरण किया है—अभिमुख, विमुख और परमुख। परमुख के भी दो प्रकार हैं—अलंकारमुख और भावमुख।

'रसतरंगिणी' की रचना-शैली में गद्य और पद्य—दोनों का ही प्रयोग हुआ है। भानुदत्त ने उद्धृत अंशों के अतिरिक्त सिद्धान्त-प्रतिपादन गद्य में किया है और उदाहरण पद्य में दिए हैं। यद्यपि भानुदत्त ने अनेक प्राचीन ग्रंथों और आचार्यों से सामग्री ग्रहण की है किन्तु उदाहरणरूप अधिकतम पद्य-रचना उन्होंने स्वयं की है। गद्य तो पूर्ण रूप में उनका अपना है ही।

(१०) 'रसतरंगिणी' पर पूर्ववर्ती आचार्यों एवं ग्रन्थों का प्रभाव

यहाँ एक बार फिर यह कहना आवश्यक हो गया है कि **'रसतरंगिणी'** की रचना में भानुदत्त ने प्राचीन आचार्यों और कतिपय ग्रन्थों से पर्याप्त सामग्री उद्धृत की है। इस सामग्री का दो प्रकार से उपयोग किया गया है—सिद्धांतों की स्थापना में और उदाहरणों के प्रस्तुतीकरण में। सिद्धान्तों की स्थापना में सबसे अधिक सामग्री भरत के **'नाट्यशास्त्र'** से ग्रहण की गई है। प्रायः सभी स्थलों पर भानुदत्त ने स्वीकारोक्ति भी की है। उदाहरण के लिए **तत्र भरतः, यदाह भरतः, अत्र भरतः** आदि। यहाँ पर उन श्लोकों का उल्लेख किया जा रहा है जिन्हें भानुदत्त ने भरत से ग्रहण किया है। साथ ही उन श्लोकों का **'नाट्यशास्त्र'** से भी संदर्भ दिया जा रहा है। **'नाट्यशास्त्र'** के विविध संस्करणों में पाठभेद बहुत अधिक मिलता है। इस दृष्टि से हमने भानुदत्त द्वारा लिए गए पाठ के निकट बने रहने के लिए 'काव्यमाला-४२', निर्णयसागर प्रेस, बम्बई के **'नाट्यशास्त्र'** के द्वितीय संस्करण, सन् १९४३ को और ओरिएंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा द्वारा प्रकाशित **'नाट्यशास्त्र'** के द्वितीय संस्करण, सन् १९५६ को चुना है। इनमें जो पाठ भानुदत्त द्वारा ग्रहण किए गए पाठ के अधिक निकट

पड़ता है उस का उल्लेख कर दिया गया है—

रसतरंगिणी	नाट्यशास्त्र
१।५	६।१८ (का० मा०)
२।२	६।४८ (का० मा०)
२।४	६।४६ (ओ० ई०)
२।६	इस श्लोक में पाठभेद अधिक है। तुलना कीजिए— इष्टवधदर्शनाद्वा विप्रियवचनस्य संश्रवाद्वापि। एभिर्भावविशेषैः करुणरसो नाम संभवति॥ ६।६३ (का० मा०)
२।८	पाठभेद अधिक है। देखिए— युद्धप्रहारघातनविकृतच्छेदनविदारणैश्चैव । सङ्ग्रामसंभ्रमाद्यैरेभिः संजायते रौद्रः॥ ६।६५ (का० मा०)
२।१०	६।६८ (का० मा०)
२।१४	६।७० (का० मा०)
२।१६	६।७४ (का० मा०)
२।१८	पाठभेद अधिक है। देखिए— यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्म रूपं वा। तत्सर्वमद्भुतरसे विभावरूपं हि विज्ञेयम्॥ ६।७६ (का० मा०)
३।२	थोड़ा पाठभेद है— नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचोधृतिप्रमोदैश्च। मधुरैश्चाङ्गविकारैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः॥ ६।४६ (का० मा०)
३।४	थोड़ा पाठभेद है— विकृताचारैर्वाक्यैरङ्गविकारैश्च विकृतवेषैश्च। हासयति जनं यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः॥ ६।५० (ओ० ई०)
३।६	पाठभेद बहुत अधिक है—

सस्वनरुदितैर्मोहागमैश्च परिदेवितैर्विलपितैश्च ।
अभिनेयः करुणरसो देहायासाभिघातैश्च ॥
६।६४ (का० मा०)

३।८ बहुत अधिक पाठभेद है—
नानाप्रहरणमोक्षैः शिरःकबन्धभुजकर्तनैश्चैव ।
एभिश्चार्थविशेषैरस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥
६।६६ (का० मा०)

३।१० थोड़ा पाठभेद है—
स्थितिधैर्यवीर्यगर्वैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च ।
वाक्यैश्चाक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः ॥
६।६८ (ओ० इं०)

३।१४ पाठभेद अधिक है—
करचरणवेपथुस्तम्भगात्रसंकोचहृदयकम्पेन ।
शुष्कौष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥
६।७३ (का० मा०)

३।१६ पाठभेद है—
मुखनेत्रविकूणनया नासाप्रच्छादनावनमितास्यैः ।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः सम्यगभिनेयः ॥
६।७४ (ओ० इं०)

३।१८ पाठभेद बहुत अधिक है—
स्पर्शग्रहोल्लुकसनैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च ।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वेदाद्यैरभिनयस्तस्य ॥
६।७६ (ओ० इं०)

४।१ ७।६४ (का० मा०)—(ओ० इं०)

५।१ ६।१८ (ओ० इं०)

५।२ ६।१६ (ओ० इं०)

५।३ थोड़ा पाठभेद है। देखिए—सुप्तिः—सुप्तं। ६।२० (ओ० इं०), ६।२१ (का० मा०)

५।४ थोड़ा पाठभेद है। देखिए—प्रयान्ति रसतामभी—समाख्यातास्तु नामतः।
६।२१ (ओ० इं०), ६।२२ (का० मा०)

६।२ — पाठभेद है। देखिए—**च नाट्ये चाष्टौ रसाः स्मृताः — चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः**। ६।१५ (ग्रो० इं०), ६।१६ (का० मा०)

६।५ — वास्तव में भानुदत्त द्वारा यहाँ तीन पंक्तियाँ उद्धृत की गई हैं। पहली दो 'नाट्यशास्त्र' २२।१२ (का० मा०) में इसी रूप में प्राप्य हैं किन्तु तीसरी पंक्ति में पाठभेद स्पष्ट है। देखिए—**विहृतं चेति विज्ञेया दश हावास्तु योषितः** (र० त०)—**विहृतं चेति संयुक्ता दश स्त्रीणां स्वभावजाः**, २२।१३ (का० मा०) की प्रथम पंक्ति।

८।३ — पाठभेद है—

शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥

६।३६ (ग्रो० इं०)

८।८ — **'नाट्यशास्त्र'** की अधिकांश प्रतियों में यह श्लोक प्राप्य नहीं है। जिन प्रतियों में यह प्राप्य है वह प्रक्षिप्त है। अतः हमने संदर्भ देना उचित नहीं समझा है।

भानुदत्त ने भरत से सीधे कुछ सामग्री ऐसी भी ग्रहण की है जिसके लिए उन्होंने उनका नामोल्लेख नहीं किया है। उदाहरण के लिए रसों की संख्या भरत से ग्रहण की गई है और उन्हीं के अनुसार विविध रसों के विविध वर्ण और देवता भी स्वीकार किए गए हैं। अन्तर केवल एक स्थल पर है। करुण रस का देवता वरुण बताया गया है, यम नहीं। अष्टम तरंग में स्थायी भावों की आठ, रस-भेदों की आठ और व्यभिचारी भावों की बीस—कुल छत्तीस दृष्टियों का विवेचन किया गया है। यह सब सामग्री भरत से ली गई है।[1]

अष्टम तरंग में भानुदत्त ने **तत्र प्राचीनग्रन्थः** कहकर एक श्लोक इस प्रकार उद्धृत किया है—

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यवद्वस्तु रसहर्षाय जायते॥ १८॥

१ (अ) रसतरंगिणी, अष्टम तरंग का प्रारंभिक अंश।
(आ) नाट्यशास्त्र, काव्यमाला ४२, ८।३८-४२।

वास्तव में यह श्लोक 'ध्वन्यालोक' में प्राप्य है। **'व्यक्तिविवेक'** में भी इसका उल्लेख हुआ है। भानुदत्त ने इसमें थोड़ा परिवर्तन कर दिया है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥

(ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, कारिका १४ में उल्लेख)

'जृम्भा' नामक नौवें सात्त्विक भाव का प्रतिपादन करते हुए भानुदत्त ने विशेष रूप से रुद्रभट्ट के ग्रन्थ **'शृङ्गारतिलक'** का उल्लेख किया है। उनका मत है कि **'शृङ्गारतिलक'** में जृम्भा' को सात्त्विक भाव के रूप में प्रस्तुत किया गया है—**जृम्भा च नवमः सात्त्विको भाव इति प्रतिभाति···इत्यादौ शृङ्गारतिलकादौ च सात्त्विकभावसामानाधिकरण्यदर्शनात्।**[1]

सामान्य रूप से 'जृम्भा' अनुभाव तो है ही। प्रश्न यह है कि क्या यह सात्त्विक अनुभाव है? भरत ने चिबुक के चुम्बित भेद के लिए कहा है कि इसमें दोनों ओठों की स्थिति में पर्याप्त अन्तर होता है और जृम्भा से इसका अभिनय किया जाता है।[2] निद्रा के विषय में भरत का मंतव्य है कि इसका अभिनय जिन अनुभावों से होता है उनमें जृम्भा भी एक अनुभाव है।[3] स्वयं भानुदत्त ने भी 'विबोध' व्यभिचारी के अनुभावों में जृम्भा का नामपरिगणन किया है। **'रसमंजरी'** में भी भानुदत्त ने एक श्लोक के अन्तर्गत जृम्भा को अनुभाव के रूप में प्रदर्शित किया है।[4] इसी जृम्भा को भानुदत्त ने 'रसतरंगिणी' में सात्त्विक अनुभाव के रूप में सिद्ध किया है। उनकी यह ईमानदारी है कि इस सात्त्विक भाव का संकेत उन्हें जहाँ से प्राप्त हुआ उसका स्पष्ट उल्लेख कर दिया। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

'छल' नामक व्यभिचारी भाव की स्थापना में अपने मत की पुष्टि के लिए भानुदत्त ने **'अमरुशतक'** के अठारहवें श्लोक की यह एक पंक्ति प्रस्तुत की है—**ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसा श्लेषोऽपि संविघ्नितः।** यहाँ तो उदाहरण के रूप में ही शृङ्गार-रस की उक्ति में छल की स्थिति दिखाई गई है। हमारा मत है कि 'छल' की सैद्धांतिक स्थापना में भानुदत्त ने न्यायशास्त्र से संकेत ग्रहण किया है। पहले यह देखें कि 'छल' के सम्बन्ध में भानुदत्त का क्या मत है। उन्होंने

१ देखिए ४।९ और ४।१० तथा ४।१० और ४।११ के मध्य के गद्यांश।
२ **नाट्यशास्त्र,** सं० मनमोहन घोष (१९६७) ८।१४५ और ८।१४८।
३ **नाट्यशास्त्र,** का० मा० ४२, ७।७२।
४ **रसमंजरी,** १२१।

कहा है—**संगुप्तक्रियासंपादनं छलं ।**[१]—अर्थात् किसी क्रिया के गोपन की प्रेरक चित्तवृत्ति ही छल है । 'तर्कभाषा' में कहा गया है—

अभिप्रायान्तरेण प्रयुक्तस्य शब्दस्याऽर्थान्तरं परिकल्प्य दूषणाभिधानं छलम् । यथा 'नव कम्बलोऽयं देवदत्तः' इति वाक्ये नूतनाभिप्रायेण प्रयुक्तस्य नवशब्दस्यार्थान्तरमाशंक्य कश्चिद् दूषयति । नाऽस्य नव कम्बलाः सन्ति दरिद्रत्वात् । न ह्यस्य द्वयमपि सम्भाव्यते । कुतो नव इति । स च वादी छलवादितया ज्ञायते ।[२]

—अर्थात्, अन्य अभिप्राय से प्रयुक्त शब्द का अन्य अर्थ कल्पना करके दोष देना छल कहा जाता है । उदाहरण के लिए 'यह देवदत्त नव कम्बल युक्त है'; इस वाक्य में नूतन के अभिप्राय से प्रयुक्त (९ संख्या-रूप) नव शब्द का दूसरा अर्थ कल्पना करके कोई दोष दे कि इसके पास दरिद्र होने से नौ कम्बल नहीं हैं । इसके पास तो दो कम्बल भी संभव नहीं हैं, नौ कहाँ से आए ? इस प्रकार अभिप्रेत अर्थ से भिन्न अर्थ कल्पना करके खंडन करने वाला वादी छलवादी समझा जाता है ।

भानुदत्त ने 'तर्कभाषा' की इस मान्यता का विभिन्न व्यवहार-क्रियाओं में विस्तार कर दिया है । उनका मत है कि शृङ्गार, हास्य, रौद्र आदि में छल की स्थिति के अनेक प्रसंग दिखाई देते हैं । शृङ्गार का उदाहरण तो उन्होंने दे ही दिया है, रौद्र-रस में इन्द्रजाल आदि उपलब्ध होते हैं और हास्य में व्यपदेश और अन्यापदेश दिखाई देते हैं । इनके उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत नहीं किए हैं किन्तु ऐसा स्पष्ट रूप में देखने में आता है । उदाहरणार्थ '**दुर्गासप्तशती**' का एक प्रसंग लीजिए जिसमें रौद्र में छल की स्थिति दिखाई गई है—

सा क्षिप्त्वा तस्य वै पाशं तं बबन्ध महासुरम् ।
तत्याज माहिषं रूपं सोऽपि बद्धो महामृधे ॥
ततः सिंहोऽभवत्सद्यो यावत्तस्याम्बिका शिरः ।
छिनत्ति तावत्पुरुषः खड्गपाणिरदृश्यत ॥[3]

—अर्थात्, उन्होंने (जगदम्बा ने) पाश फेंक कर उस महान् (महिष) असुर को बाँध लिया । उस महासंग्राम में बँध जाने पर उसने भैंसे का रूप त्याग दिया

१ **रसतरंगिणी**, ५।४५ से कुछ पूर्व का गद्यांश ।

२ **तर्कभाषा**, सं० नारायण नाथजी कुलकर्णी, पूना (१९५३) पृष्ठ ४८ ।

3 **दुर्गासप्तशती**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (शक १८९०) ३।२९-३० ।

और तत्काल सिंह के रूप में प्रकट हो गया। उस अवस्था में जगदम्बा ज्यों ही उसका मस्तक काटने को उद्यत हुई त्यों ही वह खड्गधारी पुरुष के रूप में दिखाई देने लगा।

हमारा अनुमान है कि भानुदत्त ने यहीं से संकेत पाकर यह कहा है कि रौद्र-रस में भी इन्द्रजाल आदि उपलब्ध होते हैं—**रौद्रे चेन्द्रजालादिदर्शनात्।** ऐसा हमने इसलिए कहा है कि भानुदत्त पर '**दुर्गासप्तशती**' का भी बहुत प्रभाव पड़ा है। यह आगे स्पष्ट हो जाएगा। इतना तो सिद्ध है ही कि 'छल' का संकेत उन्हें न्यायशास्त्र से प्राप्त हुआ है। इस विषय में उन्होंने संकेत भी दे दिया है—**वीथीभेदे दर्शनाच्च।** —अर्थात् भिन्न-भिन्न मतों में भी छल की पृथक् गणना है।

'मद' संचारी के प्रसंग में भानुदत्त ने '**दुर्गासप्तशती**' की एक पंक्ति इस प्रकार उद्धृत की है—

तिष्ठतिष्ठ क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम्।

—अर्थात्, हे मूढ़! क्षण भर ठहर, जब तक कि मैं मधु पीती हूँ।

इस प्रसंग में भानुदत्त का मत है कि हर्ष का उत्कर्ष ही मद है। उत्कर्ष से अभिप्राय एक स्थितिविशेष से है जो दुःख से असंभिन्न सुख के अनुभव की स्थिति है। इसका विभाव है मद्यपान। अनुभाव उत्कृष्ट कोटि के व्यक्तियों के लिए निद्रा, मध्यमों के लिए हसित और अधमों के लिए रोदन है। यहाँ भानुदत्त ने एक प्रश्न उठाया है। यदि मद में निद्रा, रोदन आदि अनुभाव होते हैं तो 'हे मूढ़! क्षण भर ठहर, जब तक कि मैं मधु पीती हूँ' आदि वीर-रस के कथनों में भी मद है। वहाँ निद्रा या रोदन अनुभाव किस प्रकार होंगे क्योंकि योद्धा युद्ध में न तो रोता है और न ही सोता है। इसका समाधान भानुदत्त ने इस प्रकार किया है कि रस-भेद से अनुभाव-भेद भी होता है। इसलिए जहाँ निद्रादि अनुभाव होंगे वहाँ श्रृङ्गार-रस होगा और जहाँ वीर-रस में मद होगा वहाँ नेत्रों की लाली, चमत्कार आदि अनुभाव होंगे।

भानुदत्त ने इस शंका को उठाने के लिए ही '**दुर्गासप्तशती**' की उक्त पंक्ति को उद्धृत किया है, यह स्पष्ट है। हमारा मत है कि इस शंका के समाधान-रूप उन्होंने जो अपना यह मत स्थापित किया है कि वीर-रस में मद की स्थिति होने पर नेत्रों की लाली, चमत्कार आदि अनुभाव होंगे; उस पर भी '**दुर्गा-सप्तशती**' का प्रभाव है। वास्तव में उन्हें इस शंका का समाधान '**दुर्गासप्त-शती**' के इसी प्रसंग में प्राप्त हो गया था। देखिए—

ततः क्रुद्धा जगन्माता चण्डिका पानमुत्तमम् ।
पपौ पुनः पुनश्चैव जहासारुणलोचना ।।
ननर्द चासुरः सोऽपि बलवीर्यमदोद्धतः ।
विषाणाभ्यां च चिक्षेप चण्डिकां प्रति भूधरान् ।।
सा च तान्प्रहितांस्तेन चूर्णयन्ती शरोत्करैः ।
उवाच त मदोद्‌धूतमुखरागाकुलाक्षरम् ।।
गर्ज गर्ज क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम् ।[1]
मया त्वयि हतेऽत्रैव गर्जिष्यन्त्याशु देवताः ।।[2]

—अर्थात्, तब क्रोध में भरी हुई जगन्माता चण्डिका बारंबार उत्तम मधु का पान करने और लाल आँखें करके हँसने लगीं। उधर वह बल और पराक्रम के मद से उन्मत्त हुआ (महिष) असुर गर्जने लगा और अपने सींगों से चण्डिका के ऊपर पर्वतों को फेंकने लगा। उस समय देवी अपने बाणों के समूहों से उसके फेंके हुए पर्वतों को चूर्ण करती हुई बोलीं। बोलते समय उनका मुख मधु के मद से लाल हो रहा था और वाणी लड़खड़ा रही थी—'ओ मूढ़! मैं जब तक मधु पीती हूँ, तब तक तू क्षण भर के लिए खूब गर्ज ले। मेरे हाथ से यहीं तेरी मृत्यु हो जाने पर अब शीघ्र ही देवता भी गर्जना करेंगे।

यहाँ देवी में नेत्रों की लाली, चमत्कार आदि अनुभाव स्पष्ट ही हैं।

भरत के **'नाट्यशास्त्र'** के पश्चात् भानुदत्त पर जिस ग्रन्थ का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है वह है **'तर्कभाषा'**। 'छल' संचारी की स्थापना में भानुदत्त ने किस प्रकार न्यायशास्त्र का आधार ग्रहण किया है, यह हम देख चुके हैं। यहाँ अब उन अंशों का विवेचन किया जा रहा है जिन पर न्यायशास्त्र की स्पष्ट छाया है। 'स्मृति' संचारी के लिए भानुदत्त ने कहा है—**संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः**।—अर्थात् संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति है। संस्कारजन्य ज्ञान दो प्रकार का है—प्रत्यभिज्ञा-रूप और स्मरण-रूप। 'तर्कभाषा' में कहा है—**ज्ञातविषयं ज्ञानं स्मृतिः**।—अर्थात् ज्ञात विषयक ज्ञान को स्मृति कहते हैं। यह लक्षण इसलिए दिया है क्योंकि स्मृति सदा ज्ञात विषय की ही होती है। किन्तु स्मृति का कारण सदा संस्कार का उद्‌बोध ही होता है इसलिए **'संस्कारजन्यं ज्ञानं**

१ **'दुर्गासप्तशती'** के अनेक संस्करणों में भानुदत्त द्वारा उद्धृत पंक्ति हमें इसी रूप में प्राप्त हुई है।

२ दुर्गासप्तशती, ३।३४-३८।

स्मृतिः' भी स्मृति का लक्षण हो सकता है। न्यायशास्त्र के अनुसार ज्ञात विषयक ज्ञान दो प्रकार का है—स्मृति और प्रत्यभिज्ञा। सादृश्य, अदृष्ट, चिन्ता आदि स्मृति के बीज अर्थात् संस्कार के उद्बोधक हैं। प्रत्यभिज्ञा का लक्षण है —**तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा**।—अर्थात्, 'तत्ता' और 'इदन्ता' दोनों को अवगाहन करने वाली प्रतीति प्रत्यभिज्ञा है। इसका सरल भाव इस प्रकार है कि जिसमें पूर्वदेश, पूर्वकाल और वर्तमान देश, वर्तमान काल की प्रतीति हो वह प्रत्यभिज्ञा है। उदाहरण के लिए 'सोऽयं देवदत्तः'।

भानुदत्त ने 'स्मृति' और 'प्रत्यभिज्ञा' के लक्षण नहीं, उदाहरण दिए हैं किन्तु उन्हीं से यह सिद्ध हो जाता है कि वे न्यायशास्त्र का अनुगमन कर रहे हैं। संस्कारोद्बोधक सादृश्य, अदृष्ट, चिन्ता आदि को भानुदत्त ने स्मृति और प्रत्यभिज्ञा के विभावों के रूप में ग्रहण किया ही है। न्यायशास्त्र में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा को उभयात्मक ज्ञान कहा गया है। यही मंतव्य भानुदत्त का भी है।

'वितर्क' संचारी के जो चार प्रकार—विचारात्मा, संशयात्मा, अनध्यवसायात्मा और विप्रतिपत्त्यात्मा—बताए गए हैं उन पर भी न्यायशास्त्र के प्रभाव को देखा जा सकता है। विप्रतिपत्ति, संशय के साधक-बाधक मान, समुद्भावन आदि वितर्क के विभाव हैं। विप्रतिपत्ति क्या है? **विपरीता विविधा वा प्रतिपत्तिः विप्रतिपत्तिः**।—अर्थात् एक ही पदार्थ के विषय में दो व्यक्तियों का विपरीत अथवा विविध प्रकार का ज्ञान विप्रतिपत्ति है। उदाहरण के लिए वैयाकरण कहता है कि शब्द नित्य है और नैयायिक कहता है कि शब्द अनित्य है। इस प्रकार इन दोनों की विप्रतिपत्ति से नित्यत्व अथवा अनित्यत्व के निश्चायक हेतु को न देख सकने वाले बीच के व्यक्ति को यह संशय हो जाता है कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य है। संशय में दो विरुद्ध धर्मों का ज्ञान एक वस्तु में होता है। विप्रतिपत्ति और संशय में साधक-बाधक प्रमाणों को प्रस्तुत करना ही साधकबाधकमानसमुद्भावन है।

इस मूल विचारधारा को ही पल्लवित करते हुए भानुदत्त ने 'वितर्क' के चार प्रकार निश्चित किए हैं।

भानुदत्त ने यह स्थापना की है कि रस दो प्रकार के होते हैं—लौकिक और अलौकिक। लौकिक सन्निकर्ष से लौकिक रस उत्पन्न होते हैं और अलौकिक सन्निकर्ष से अलौकिक रस। लौकिक सन्निकर्ष विषय-भेद से छः प्रकार के हैं। अलौकिक सन्निकर्ष से अभिप्राय है ज्ञान।

न्यायशास्त्र के अनुसार ही यह विभाजन किया गया है। लौकिक सन्निकर्ष

और उसके छः भेदों के विषय में केशव मिश्र ने कहा है—

इन्द्रियार्थयोस्तु यः सन्निकर्षः साक्षात्कारिप्रमाहेतुः स षड्विध एव। तद्यथा संयोगः, संयुक्तसमवायः, संयुक्तसमवेतसमवायः, समवायः, समवेतसमवायः, विशेष्यविशेषणभावः चेति।[1]

—अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ का जो सन्निकर्ष साक्षात्कारिप्रमा का हेतु है वह संयोग, संयुक्तसमवाय आदि छः प्रकार का ही है।

'न्यायसिद्धांतमुक्तावली' के रचयिता विश्वनाथ ने अलौकिक सन्निकर्ष तीन प्रकार के बताए हैं—

अलौकिकस्तु व्यापारस्त्रिविधः परिकीर्तितः।
सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणो योगजस्तथा॥[2]

भानुदत्त ने लौकिक-अलौकिक सन्निकर्षों के नाम नहीं गिनाए हैं। अलौकिक सन्निकर्षों के लिए उन्होंने कहा है कि इनसे ज्ञान का अभिप्राय है। वास्तव में यहाँ भानुदत्त का मंतव्य स्पष्ट नहीं है। उन्होंने अलौकिक रस तीन प्रकार के कहे हैं—स्वाप्निक, मानोरथिक एवं औपनायिक। यह समझ में नहीं आता कि यह वर्गीकरण किस आधार पर किया गया है क्योंकि न्यायशास्त्र के अनुसार जो त्रिविध अलौकिक सन्निकर्ष हैं उनसे इनका कोई साम्य नहीं है। यह ध्यातव्य है कि जिन छः लौकिक सन्निकर्षों का न्यायशास्त्र में उल्लेख मिलता है उनका विवेचन भानुदत्त ने किया नहीं और जिन तीन अलौकिक सन्निकर्षों का उल्लेख भानुदत्त ने रस-भेद के आधार पर किया है वह न्यायशास्त्र से सिद्ध नहीं है।

फिर भी, इतने में संदेह नहीं कि 'रसतरंगिणी' में न्यायशास्त्र का प्रचुर उपयोग किया गया है। यहाँ एक विषय को और लेते हैं। भानुदत्त के अनुसार चित्तवृत्तियाँ दो प्रकार की हैं—प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। निवृत्ति में जैसे शान्त-रस है वैसे ही प्रवृत्ति में माया-रस है। प्रबुद्ध मिथ्याज्ञानवासना ही माया-रस है। मिथ्याज्ञान इसका स्थायी भाव है। सांसारिक भोग के उत्पादक धर्म, अधर्म विभाव हैं। अनुभाव पुत्र, कलत्र, विजय, साम्राज्यादि हैं।

शान्त-रस की कल्पना भानुदत्त से पहले ही की जा चुकी थी। संस्कृत काव्यशास्त्र के सुधी अध्येता को इसके लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

१ तर्कभाषा, पृष्ठ ७।
२ न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, ६३।

अब रह गया माया-रस। यह भानुदत्त के ही व्यक्तिगत चिन्तन का परिणाम है। प्रवृत्ति के कारण इसका प्रादुर्भाव होता है। प्रवृत्ति का संकेत उन्हें न्याय-शास्त्र में मिला—**प्रवृत्तिः धर्माधर्ममयी यागादिक्रिया, तस्या जगद्-व्यवहारसाधकत्वात्।**[1]—अर्थात् धर्म-अधर्म रूप यगादि क्रिया और उससे उत्पन्न धर्माधर्म प्रवृत्ति कहलाते हैं—उस धर्माधर्म-रूप प्रवृत्ति के जगत् के व्यवहार का साधक होने से। इन्हें ही भानुदत्त ने माया-रस के विभाव कहा है—**विभावाः सांसारिकभोगार्जकधर्माधर्माः।** इस प्रकार इस सूक्ष्म संकेत का भानुदत्त ने विस्तार किया और अंततः माया-रस की उद्भावना हुई।

स्पष्ट है कि भानुदत्त पर न्यायशास्त्र का पर्याप्त प्रभाव था और वह **'रसतरंगिणी'** में अभिव्यक्त हुए बिना न रह सका। इसका कारण? कारण स्पष्ट है। भानुदत्त मैथिल थे। नवद्वीप और मिथिला—ये दो स्थान नव्य-न्याय के प्रधान केन्द्र रहे हैं। मिथिला में दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में तत्त्व-चिन्तामणिकार गङ्गेशोपाध्याय ने नव्य-न्याय का प्रवर्त्तन किया था और भानुदत्त से पूर्व वर्द्धमानोपाध्याय, रुचिदत्त मिश्र, केशव मिश्र, भगीरथ ठक्कुर, शङ्कर मिश्र आदि विद्वान् ज्ञान की इस शाखा का पल्लवन कर चुके थे। स्वयं भानुदत्त का विवाह पंद्रहवीं शताब्दी मध्य के प्रकाण्ड नैयायिक मिसरू मिश्र की बहन से हुआ था। भानुदत्त इस प्रभाव से बच नहीं सकते थे। फलतः न्यायशास्त्रीय चिंतन के जो अंश उन्हें अपनी काव्यशास्त्रीय परिकल्पनाओं के अनुकूल लगे उनका उपयोग उन्होंने किया।

भानुदत्त ने रस-विभाजन एक और प्रकार से भी किया है। रस तीन प्रकार का है—अभिमुख, विमुख और परमुख। स्पष्ट रूप से व्यक्त भाव, विभाव और अनुभावों से अभिव्यक्त रस अभिमुख कहा जाता है और भाव, विभाव और अनुभावों के अनुक्त होने से जिसकी अनुभूति क्लिष्ट-रूप में हो वह विमुख है। परमुख के दो भेद हैं—अलंकारमुख और भावमुख। अलंकारमुख में मन के विश्राम का कारण प्रधान रूप से अलंकार होता है, अतः रस गौण पड़ जाता है, इसी प्रकार भाव-मुख में भाव प्रधान और रस गौण होता है।

रस की इस त्रिभाजन-पद्धति पर ध्वनिवादियों के वर्गीकरण का प्रभाव देखा जा सकता है। ध्वनिवादियों के अनुसार काव्य के तीन भेद हैं—उत्तम,

[1] तर्कभाषा, पृष्ठ ३८।

मध्यम और अधम। इस वर्गीकरण का आधार है व्यङ्ग्य की सापेक्षिक प्रधानता। ठीक इसी प्रकार भानुदत्त के रस-वर्गीकरण का आधार है रस की सापेक्षिक प्रधानता। अभिमुख में रस की अनुभूति स्पष्ट रूप में होती है, विमुख में क्लिष्ट रूप में और परमुख में अलंकार और भाव की अपेक्षा रस गौण पड़ जाता है। ध्वनिवादियों के अनुसार उत्तम काव्य के भी तीन भेद हैं—रस-ध्वनि, अलंकारध्वनि और वस्तुध्वनि। मध्यम काव्य को गुणीभूतव्यंग्य भी कहा गया है। इनमें रसध्वनि को सर्वोत्कृष्ट स्थान दिया गया है। रसध्वनि अंगी है तथा रीति, गुण, दोष और अलंकार उसके अंग हैं। दूसरे भेद मध्यम काव्य अर्थात् गुणीभूतव्यंग्य में व्यंग्यार्थ तो होता है किन्तु वह वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक रमणीय नहीं होता। दूसरे शब्दों में, व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ के चमत्कार का पोषक होने के कारण गौण हो जाता है। अधम काव्य के अंतर्गत चित्रालंकार आदि शब्दकौतुक-प्रधान अलंकारों को रखा जाता है जो व्यंग्यार्थ से हीन होते हैं।

ध्वनिवादियों और भानुदत्त के इन वर्गीकरणों में एक अंतर अवश्य है। यदि हम क्रमानुसार ध्वनिवादियों के अधम काव्य और भानुदत्त के परमुख को एक श्रेणी में रख लेते हैं तो कहा जा सकता है कि जहाँ ध्वनिवादियों ने अधम काव्य में व्यङ्ग्यार्थ के अस्तित्व को माना ही नहीं है वहाँ भानुदत्त ने परमुख में रस की सत्ता किसी-न-किसी रूप में मानी है। चाहे वह रस भाव और अलंकार की अपेक्षा गौण ही क्यों न हो।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रसों का ऐसा वर्गीकरण करते समय भानुदत्त के मस्तिष्क में काव्य के ध्वनि-सम्मत विभाजन की रूपरेखा काम कर रही थी। और भानुदत्त के वर्गीकरण में अंतर आना तो स्वाभाविक ही था। आखिर ध्वनि और रस की मूल प्रकल्पना में भेद तो है ही। इसीलिए प्रतिपादन की व्यवस्था और शैली में भी अंतर आ गया।

सिद्धांतों की स्थापना में भानुदत्त ने और भी अनेक प्राचीन आचार्यों और ग्रन्थों का आश्रय लिया है। किन्तु उन्होंने प्राचीन आचार्यों का नामोल्लेख नहीं किया है। इस संबंध में उन्होंने जो संकेत किए हैं; वे इस प्रकार हैं—**तदाह** (६/१०), **तत्र प्राचीनसम्मतिः** (८/६), **अत्र प्राचीनसम्मतिः** (८/२४), **पूर्वग्रन्थकारसम्मतिरपि** (८।४), **तत्र पूर्वाचार्याः** (८/१६)।

उदाहरणों के प्रस्तुतीकरण में जिन प्राचीन ग्रन्थों से सामग्री ली गई है वे ये हैं—**कुमारसम्भव, परशुरामवाक्य** और **अयोध्यावर्णन**। प्राचीन आचार्यों में उन्होंने अपने पिता गणपति की रचनाओं को उदाहरण देने के लिए

सर्वाधिक प्रयुक्त किया है—**यथा तातचरणानाम्** (१/७, ५/१२, ६/२०)। इस संदर्भ में अन्य संकेत इस प्रकार हैं—**किंच, प्राचीनसंमतिरपि** (३/१), **तथाहि** (८/१५)।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी अंश ऐसे हैं जिन पर पूर्ववर्ती प्रभावों की छाया देखी जा सकती है किन्तु उन्हें हम यहाँ अविवेचित ही छोड़ रहे हैं। इसके दो कारण हैं—एक तो वे अंश अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं और दूसरे वे प्रभाव स्वयं अपने मौलिक रूप में विवेक की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। प्रसंग-भेद से आगे उनका सांकेतिक उल्लेख कर दिया गया है।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि भानुदत्त को रस-संबंधी चिंतन एक सुदीर्घ परंपरा के रूप में प्राप्त हुआ था। फिर भी उनके आदर्श आचार्य हैं भरत। भानुदत्त का रस-संबंधी दृष्टिकोण नाट्यशास्त्र' से उद्भूत हुआ और समय के विस्तृत अंतराल में विविध रस-परिकल्पनाओं से पुष्ट होता हुआ अंततः '**रसतरंगिणी**' के रूप में पल्लवित हुआ।

(११) भानुदत्त की मौलिकता

साधारणतः कहा जा सकता है कि 'रसतरंगिणी' रसविवेचन का पारंपरिक ग्रन्थ है। किन्तु यह कहकर भानुदत्त के मौलिक योगदान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। भानुदत्त ने रस-संबंधी अनेक समस्याओं पर नवीन दृष्टि से विचार किया है और अनेक मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। इस ग्रन्थ की मौलिक उद्भावनाओं और उनके महत्त्व का यह प्रमाण है कि अनेक परवर्ती संस्कृत के और हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने भानुदत्त का अनुकरण किया है।

नवीन मतों की स्थापना को ही मौलिकता नहीं कहा जा सकता। नवीन आलोक में किसी पूर्वकथित मत का परीक्षण करना भी मौलिकता ही है। भानुदत्त ने दोनों क्षेत्रों में कार्य किया है। उनका मत है कि रस दो प्रकार के होते हैं—लौकिक और अलौकिक। स्पष्ट ही लौकिक रस लौकिक सन्निकर्षों से उत्पन्न होते हैं और अलौकिक रस अलौकिक सन्निकर्ष से। लौकिक सन्निकर्ष विषयगत अर्थात् वस्तुपरक होते हैं और ये छः प्रकार के हैं। यद्यपि भानुदत्त ने न्यायशास्त्र-सम्मत छः लौकिक सन्निकर्षों का नाम नहीं लिया है तथापि उनका आशय स्पष्ट ही है। इन सन्निकर्षों की सत्ता विविध लौकिक व्यवहारों में ही विद्यमान है। विषयगत होने के कारण ये सब महत्त्वशून्य हैं। अलौकिक सन्निकर्ष से अभिप्राय है ज्ञान। इस सन्निकर्ष के एक बार साक्षात्

अनुभव हो चुकने पर, और इस जन्म में उसका अनुभव न होने पर भी, पूर्व-जन्म के संस्कार द्वारा ज्ञान की अनुभूति हो जाएगी। अलौकिक रस तीन प्रकार का होता है—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायिक। औपनायिक रस काव्य के पद एवं पदार्थ के चमत्कार और नाटक में होता है। यह औपनायिक रस आनन्दानुभूति का कारण है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अन्य दो रस इस रस से अपने उद्देश्य में पृथक् हैं। सुख के साथ-साथ दुःख के समान सद्भाव होने पर भी उनमें आनन्दरूपता होती है। इस प्रसंग में भानुदत्त ने एक बहुत बड़ी बात यह कही है कि रस के अभाव में सुख की उत्पत्ति असम्भव है—**...रसेन विना च सुखाऽनुत्पत्तेरिति।**[1]

भानुदत्त का दूसरा मत यह है कि चित्तवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक। उनके इस निष्कर्ष में बहुत अधिक सार है। जीवन में विविध प्रकार के व्यवहार इस मत के प्रमाण हैं। कुछ विषयों के प्रति हम आकर्षित होते हैं और कुछ विषयों से दूर हटना चाहते हैं। आधुनिक युग में डॉ० आई० ए० रिचर्ड्स ने इसी सीधी-सी बात पर अपने मूल्य-सिद्धांत की स्थापना की है। उनके अनुसार कला का जो रूप विरोधी-मनोवेगों का जितना अधिक संतुलन करता है वह उतना ही श्रेष्ठ है। इसीलिए त्रासदी श्रेष्ठ कला-रूप है क्योंकि उसमें प्रवृत्तिमूलक करुणा और निवृत्तिमूलक त्रास का समन्वय सिद्ध होता है।

प्रवृत्तियों का अन्तर्भाव माया-रस में होता है और निवृत्ति का शान्त-रस में। यह माया-रस रति-रूप नहीं है क्योंकि यदि इसे यही मान लिया गया तो इसे किसी भी रस का व्यभिचारी सिद्ध नहीं कर सकते। शृङ्गार का नहीं हो सकता क्योंकि उसका विरोधी बीभत्स उसमें विद्यमान है, हास्य का इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि उसके विरोधी करुण की उसमें उपस्थिति है, अद्भुत की भी उसमें स्थिति है इसलिए वह रौद्र का भी नहीं हो सकता और वीर का भी नहीं हो सकता क्योंकि उसके विरोधी भयानक का उसमें सद्भाव है। इस प्रकार कोई भी रस शेष नहीं रह जाता। शांत का तो यह हो ही नहीं सकता क्योंकि माया-रस स्वयं ही इसका विरोधी है।

यह माया-रस सामान्य-रूप रस भी नहीं है। अर्थात् आठ रस उसी के भेद-विशेष नहीं हैं। यदि ऐसा मान लेते हैं तो फिर शांत-रस की स्थिति रस

[1] रसतरंगिणी, ६।१ और ६।२ के मध्य का गद्यांश।

की न रहकर रसाभास की हो जाएगी। वास्तव में 'रसतरंगिणी' के इस स्थल पर पाठभेद पाया जाता है। वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित संस्करण में जो पाठ प्राप्य है वह इस प्रकार है—**शान्तरसस्य तर्हि रसाभासत्वापत्तेः।** गंगाराम जडि की व्याख्या वाले बनारस के संस्करण में कुछ और ही पाठ मिलता है—**शान्तरसस्य तर्हि रसाभावत्वापत्तेः।** पहले पाठ के अनुसार अर्थ होगा कि शान्त-रस रस न रहकर रसाभास हो जाएगा और दूसरे पाठ के अनुसार यह अर्थ होगा कि शान्त-रस का अभाव हो जाएगा। वास्तव में इस स्थल पर भानुदत्त का मत क्या था, पाठभेद की इस स्थिति में निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता है। **'रसचन्द्रिका'** के लेखक विश्वेश्वर ने भी **'रसतरंगिणी'** की विविध प्रतियों में पाए जाने वाले इस पाठभेद का अनुभव किया था। फलतः उन्होंने इस स्थल का रूपान्तर इस प्रकार कर दिया—**शान्तस्य बहिर्भावापत्तेः।**

सहज अनुमान किया जा सकता है कि दूसरा पाठ ही शुद्ध है। भानुदत्त ने माया-रस की उद्‌भावना की है किन्तु शान्त-रस के अस्तित्व को भी स्वीकार किया है। प्रवृत्ति और निवृत्ति—ये दोनों यदि सार्थक हैं तो माया और शान्त भी सार्थक हैं। माया-रस को सामान्य-रूप रस कह देने पर उसके आठ भेद-विशेषों से उसे किस प्रकार भिन्न कहा जा सकता है? फिर तो सभी आठ रसों को माया-रस मानना पड़ेगा। इस तरह से तो शान्त-रस की सत्ता ही अस्वीकृत हो जाती है। इसीलिए माया-रस एक अतिरिक्त रस है। इसका स्थायी भाव है मिथ्याज्ञान, सांसारिक भोग के उत्पादक धर्म-अधर्म इसके विभाव हैं और अनुभाव हैं पुत्र, कलत्र, विजय, साम्राज्य आदि।

भानुदत्त की तीसरी मौलिक उद्‌भावना है 'जृम्भा' सात्त्विक। सामान्यतः भानुदत्त को इसका संकेत रुद्रभट्ट-कृत **'शृङ्गारतिलक'** से प्राप्त हुआ था किन्तु इसकी सैद्धान्तिक स्थापना करने का श्रेय भानुदत्त को ही है। **'शृङ्गारतिलक'** में सात्त्विक भावों की न तो परिभाषा दी गई है और न ही उदाहरण दिए गए हैं। उस ग्रन्थ में तो स्वेद, जृम्भा, कम्पन आदि से युक्त एक नायिका का चित्रण एक श्लोक में किया गया है। श्लोक इस प्रकार है—

सत्यं सन्ति गृहे गृहे प्रियतमा येषां भुजालिङ्गन—
व्यापारोच्छलदच्छमोहनजला जायन्त एणीदृशः।
प्रेयान्कोऽप्यपरोऽयमत्र नियतं दृष्टेऽपि यस्मिन्वपुः

स्वेदोज्जृम्भणकम्पसाध्वसमुखैः प्राप्नोति कांचिद्दशाम् ॥[1]

—अर्थात्, यह सत्य है कि घर-घर में प्रियतम हैं जिनकी भुजाओं के आलिङ्गन की क्रिया से मृगनयनियाँ उछलते हुए स्वच्छ मोहरूपी जल वाली हो जाती हैं किन्तु यहाँ तो कोई दूसरा ऐसा प्रिय है जिसे देख लेने पर भी निश्चय ही प्रस्वेद, जम्हाई, कम्पन आदि के द्वारा शरीर किसी विचित्र दशा को प्राप्त हो जाता है।

वैसे भी, 'शृङ्गारतिलक' में सात्त्विक भावों की संख्या आठ ही बताई गई है जिसमें 'जृम्भा' का उल्लेख नहीं है। इसके विषय में '**रसतरंगिणी**' में कहा गया है—**जृम्भा च नवमः सात्त्विको भाव इति प्रतिभाति....इत्यादौ शृङ्गारतिलकादौ च सात्त्विकभावसामानाधिकरण्यदर्शनात्....जृम्भा च विकारादेवभवति तन्निवृत्तौ निवर्तते चेति।** सात्त्विक तथा स्थायी और व्यभिचारी भावों में भानुदत्त ने स्पष्ट पार्थक्य स्वीकार किया है। 'सत्त्व' क्या है? वास्तव में यह जीवयुक्त शरीर है। अतः शरीर के धर्म को ही सात्त्विक कहा जाएगा। इस प्रकार शरीर के 'स्तम्भ' आदि सात्त्विक कहे जाएंगे। स्थायी और व्यभिचारी भाव आंतर हैं। सात्त्विक भाव बाह्य शरीर के धर्म हैं। इसलिए 'जृम्भा' सात्त्विक भाव है क्योंकि यह शरीर का धर्म है। ठीक वैसे ही जैसे स्तम्भ, स्वेद, वेपथु आदि हैं। किन्तु अंगसंकोच, अक्षिमर्दन आदि सात्त्विक नहीं हैं। क्यों? ये भी तो शरीर के धर्म हैं? भानुदत्त का उत्तर है कि ये विकार नहीं हैं, चेष्टाएँ हैं। रस के अनुकूल विकार को भाव कहा जाता है। इन चेष्टाओं में रस के अनुकूल विकार नहीं है। इसीलिए इनमें भावलक्षण का अभाव है। चेष्टाओं पर व्यक्ति का वश होता है, विकार पर नहीं। 'अंगसंकोच', 'अक्षिमर्दन' आदि व्यक्तियों की इच्छा पर निर्भर हैं। जब चाहे करें, जब चाहे न करें। 'जृम्भा' पर वश नहीं है। वह विकार से उत्पन्न होती है और उसके शान्त हो जाने पर स्वतः शान्त हो जाती है।

रसों के वर्गीकरण में भानुदत्त ने एक विचित्र पद्धति अपनाई है। हास्य, करुण, भयानक, बीभत्स और अद्भुत-रस स्वनिष्ठ और परनिष्ठ-रूप में दो-दो प्रकार के हैं। डॉ० बी० राघवन ने अपनी पुस्तक '**द नम्बर ऑव रसस**' में लिखा है कि भानुदत्त ने वीर-रस को भी स्वनिष्ठ-परनिष्ठ—इन दो रूपों में बाँटा है। वास्तव में ऐसा है नहीं। डॉ० वी० राघवन से अनजाने ही यह

[1] शृङ्गारतिलक, १।५१ का उदाहरण।

गलती हुई है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता किन्तु यह आश्चर्य का विषय है कि इस पुस्तक के द्वितीय संस्करण में भी इस अशुद्धि को दूर नहीं किया गया। खैर, इस विभाजन का मूल संकेत भानुदत्त को भरत से प्राप्त हुआ था। भरत ने हास्य-रस के 'आत्मस्थ' और 'परस्थ' दो भेद किए थे।

—अथ हास्यो नाम हासस्थायिभावात्मकः।... द्विविधश्चायमात्मस्थः परस्थश्च। यदा स्वयं हसति तदाऽऽत्मस्थः। यदा तु परं हासयति तदा परस्थः।

स्पष्ट है कि स्वनिष्ठ और परनिष्ठ-रूप में रसों के वर्गीकरण का मूल आधार है आश्रय और आलंबन का पारस्परिक संबंध। उदाहरण के लिए जब कोई स्वयं हँसे तो वह आत्मस्थ हास्य होगा—अर्थात् हास्य की स्थिति आलंबन में वर्तमान होगी; और जब कोई दूसरे को हँसाए तो परस्थ हास्य होगा—अर्थात् हास्य की स्थिति आश्रय में होगी। हमारा मत यह है कि आत्मस्थ का आलंबन से और परस्थ का आश्रय से संबंध सिद्ध करने में कोई युक्ति नहीं है क्योंकि आलंबन के लिए आश्रय का और आश्रय के लिए आलंबन का हास्य परस्थ हो सकता है और अपने-अपने हास्य आत्मस्थ हो सकते हैं।

शृङ्गार, वीर और रौद्र का आलंबन कोई व्यक्ति स्वयं नहीं हो सकता। इसी तर्क के आधार पर भानुदत्त ने इन रसों को इस वर्गीकरण में नहीं लिया है। अर्थात् हास्य, करुण, भयानक, बीभत्स और अद्भुत में कोई व्यक्ति स्वयं अपना आलंबन हो सकता है। आश्रय की स्थिति तो सब जगह स्वीकृत है ही किन्तु रसों के परनिष्ठ रूपों में आश्रय अनिवार्य रूप से वर्तमान हो ही यह आवश्यक नहीं है। भानुदत्त का मत यही है।

इस ग्रन्थ की अष्टम तरंग में रसों का वर्गीकरण एक और भी विधि से किया गया है। रस, भाव और अलंकार की स्थिति को स्पष्ट करने के लिए भानुदत्त ने कहा है कि 'अभिमुख', 'विमुख', और 'परमुख' रूप में रस तीन प्रकार का होता है। 'परमुख' के भी दो प्रकार हैं—'अलंकारमुख' और 'भावमुख'। यह देखा जा चुका है कि भानुदत्त द्वारा किए गए इस वर्गीकरण पर ध्वनिवादियों का कितना प्रभाव है। किन्तु जिस प्रकार ध्वनि को आधार बनाकर ध्वनिवादियों ने काव्य के भेद निर्धारित किए थे उस प्रकार रस को आधार बनाकर अभी तक नहीं किए गए थे। इस संबंध में प्रथम प्रयास भानुदत्त ने ही किया। काव्य में रस प्रमुख भी हो सकता है, उसकी योजना ऐसी भी हो सकती है कि रस तो हो किन्तु उसकी अनुभूति क्लिष्ट-रूप में हो और वह गौण भी

हो सकता है तथा उसके स्थान पर अलंकार, भाव आदि प्रधान हो सकते हैं। रसों के इस प्रकार के वर्गीकरण का मूल आधार यही है।

न्यायशास्त्र में प्राप्य कुछ संकेतों के आधार पर भानुदत्त ने काव्यशास्त्र में 'छल' संचारी की स्थापना की है। गुप्त क्रियाओं द्वारा किसी कार्य को सिद्ध करना 'छल' कहा जाता है। शृङ्गार-रस में 'छल' की योजना का संकेत उन्हें **'अमरुशतक'** के एक श्लोक में प्राप्त हुआ। रौद्र में 'छल' के लिए उन्हें **'दुर्गासप्तशती'** का संबल प्राप्त हुआ है। भानुदत्त ने जीवन के व्यवहारों में देखा कि हास्य में तो छल की सिद्धि प्रत्यक्ष है ही। अवमान, विपरीत पक्ष, कुत्सित चेष्टाएँ आदि छल के विभाव हैं और वक्र उक्ति, निरंतर स्मित, बराबर देखते रहना और प्रकृतिगत स्वभाव को छिपाना अनुभाव हैं।

इसी शास्त्र के आधार पर भानुदत्त ने 'स्मृति' संचारी के दो प्रकार बताए—स्मरण-रूप तथा प्रत्यभिज्ञा-रूप और 'वितर्क' संचारी को चार प्रकार का कहा—विचारात्मा, संशयात्मा, अनध्यवसायात्मा और विप्रतिपत्त्यात्मा। 'वितर्क' संचारी के लिए भरत ने कहा था—**वितर्को नाम सन्देहविमर्श-विप्रतिपत्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।**—अर्थात् उभयावलम्बी संशय, विमर्श—अर्थात् विशेष प्रतीत्यभिलाषा और विप्रतिपत्ति आदि विभावों से वितर्क उत्पन्न होता है। निश्चय ही, भानुदत्त के विवेचन से भरत की मान्यता का भी विस्तार हुआ है।

अधिक विस्तार में न जाते हुए कहा जा सकता है कि रस-चिंतन में भानुदत्त ने नवीन दृष्टि से विचार किया है और अनेक मौलिक उद्‌भावनाएँ की हैं। यद्यपि उनकी अधिकांश मौलिक उद्‌भावनाओं के प्रेरणा-बीज न्यायशास्त्र में प्राप्य हैं किन्तु भानुदत्त ने काव्यशास्त्रीय धरातल पर उनकी सिद्धि कर अपनी मौलिक दृष्टि का परिचय दिया है। न्यायशास्त्र के इन सिद्धान्तों का विस्तार भानुदत्त से प्रेरणा ग्रहण कर उनके परवर्ती काव्यशास्त्रियों ने भी किया।

(१२) परवर्ती ग्रन्थों पर 'रसतरंगिणी' का प्रभाव

'रसतरंगिणी' का परवर्ती भारतीय काव्यशास्त्र पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। यह हम आगे देखेंगे कि हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों का यह एक प्रकार से आदर्श ग्रन्थ रहा है। पहले संस्कृत काव्यशास्त्र पर पड़े इस ग्रन्थ के प्रभाव को देखें।

'कर्णभूषण' के रचयिता गंगानन्द कविराज ने भानुदत्त का उल्लेख करते हुए 'जृम्भा' सात्त्विक को स्वीकृति दी है। कविराज के प्रतिपादन की शैली भी

ठीक भानुदत्त जैसी ही है—

जृम्भापि नवमो भावः प्रोक्तो भानुकवीश्वरैः।

भावः सात्त्विक इति शेषः। न चाङ्गाकृष्ट्यादेः सात्त्विकभावत्वापत्तिरिति वाच्यम्। तस्य भावलक्षणाभावात्। जृम्भा तु विकारजन्या। विकारनिवृत्तौ जृम्भानिवृत्तिः। अङ्गाकृष्टिनेत्रमर्दनादयो लोकैः स्वेच्छया क्रियन्ते। तेषां विकारजन्यत्वाभावात्।[1]

इन्होंने भानुदत्त के इस कथन का भी संकेत किया है कि 'सत्त्व' जीवयुक्त शरीर है और उसके धर्म को सात्त्विक कहा जाता है। स्थायी और व्यभिचारी शरीर के धर्म नहीं हैं, वे आन्तर हैं—केचित्तु 'सत्त्वं जीवच्छरीरं तस्य धर्माः सात्त्विका भावाः' इति वदन्ति। व्यभिचारिणः स्थायिनश्चान्तरा धर्मा न तु शारीराः।[2]

मद, वितर्क, स्मृति आदि संचारियों का विवेचन भी स्पष्टतः भानुदत्त से प्रभावित है। भानुदत्त ने कहा है कि हर्ष का उत्कर्ष मद है और उत्कर्ष से अभिप्राय एक स्थितिविशेष से है जो दुःख से असंभिन्न सुख के अनुभव की स्थिति है। इसका विभाव है मद्यपान। अनुभाव उत्तम कोटि के व्यक्तियों के लिए निद्रा, मध्यमों के लिए हसित और अधमों के लिए रोदन है। निद्रा से अभिप्राय इंद्रियों का संमोह रूप है किन्तु इंद्रियों के संमोह में नेत्रघूर्णन का साम्य होने से निद्रा के ही समान है। हर्ष संचारी में अतिव्याप्ति न हो इसीलिए मद को हर्ष का उत्कर्ष कहा गया है। मद के हर्ष में मन का मोह होता है जबकि हर्ष नामक संचारी में मन का प्रसाद होता है—अब 'कर्णभूषण' का यह अंश देखिए।

हर्षोत्कर्षो मदः स्मृतः।
उत्कर्षस्तु दुःखासंभिन्नसुखानुभावः।[3]
विभावो मदिरापानमस्य धीरेण कथ्यते।
निद्रोत्तमस्य हसितं मध्यमस्याधमस्य च॥
रोदनादीनि विद्वद्भिरनुभावाः प्रकीर्तिताः।

निद्रात्र इन्द्रियसंमोहरूपा घूर्णनादिसादृश्येन निद्रेव निद्रा। हर्षव्यभिचारि-

[1] कर्णभूषण, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (१९२६) पृष्ठ २५।

[2] वही, पृष्ठ २३।

[3] संभवतः यह अशुद्ध पाठ मुद्रित हो गया है। '...सुखानुभवः' यह ठीक पाठ है।

भावे नातिव्याप्तिः। तत्र उत्कृष्टनिष्ठाया। जातेरभावात्। स तु मनःप्रसाद-रूपः, मदस्तु मनोमोहस्वरूपः।...[1]

भानुदत्त के ही अनुकरण पर कविराज ने भी यह प्रश्न उठाया है कि वीर-रस के कथनों में भी मद देखा जाता है अतः वहाँ निद्रा, रोदन आदि अनुभाव किस प्रकार हो सकते हैं। इस स्थल पर उन्होंने भी 'दुर्गासप्तशती' की वही पंक्ति उद्धृत की है जिसे भानुदत्त ने **'रसतरंगिणी'** में प्रस्तुत किया था। अतः यह कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती कि उन्होंने समाधान भी भानुदत्त का ही प्रस्तुत किया है।[2]

'वितर्क' के चार भेद भानुदत्त के अनुकरण पर ही किए गए हैं और उनमें अनध्यवसायात्मा को उत्कट कोटि का संशय कहा गया है—

वितर्कश्चतुर्विधः—विप्रतिपत्त्यात्मा संशयात्मा विचारात्मा अनध्यवसा-यात्मा चेति।

उत्कटकोटिकः संशयोऽनध्यवसायात्मा।[3]

'स्मृति' संचारी का विवेचन भी भानुदत्त के अनुकरण पर है।[4]

'कर्णभूषण' में अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें भानुदत्त की शब्दावली का स्पष्टतः व्यवहार किया गया है। ये स्थल अधिकांशतः वे हैं जिनमें परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं। यहाँ कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

भानुदत्त—**संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः।**

गंगानन्द कविराज—**संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिर्भवेत्।**[5]

भानुदत्त—**रसानुकूलो विकारो भावः। विकारोऽन्यथाभावः। विकारश्च द्विविधः।...**

गंगानन्द कविराज—**रसानामानुकूलो यो विकारो भाव एव सः।**
विकारस्त्वन्यथा भावः स पुनर्द्विविधो मतः॥[6]

भानुदत्त ने **'रसतरंगिणी'** की अष्टम तरंग में आठ रस-दृष्टियों, आठ स्थायी भाव-दृष्टियों और बीस व्यभिचारी भाव-दृष्टियों का भरत-सम्मत उल्लेख

१ **कर्णभूषण**, पृष्ठ ३१।
२ वही।
३ वही, पृष्ठ ४०।
४ वही।
५ वही।
६ वही, ४।१, पृष्ठ ४३।

किया है। किन्तु यह ज्ञात नहीं हो पाता कि इनका उल्लेख करने में उनका मंतव्य क्या था। इस सम्बन्ध में तो आगे चलकर विचार किया गया है किन्तु यहाँ यह कहना अभीष्ट है कि भानुदत्त की प्रतिपादन-व्यवस्था को देखते हुए गंगानन्द कविराज ने भी छत्तीस दृष्टियों का उल्लेख किया है। यहाँ भी ज्ञात नहीं हो पाता कि इनका उल्लेख करने में कविराज का क्या मंतव्य था। हमारा मत तो यही है कि गंगानन्द कविराज पर भानुदत्त की प्रतिपादन-व्यवस्था का भी प्रभाव पड़ा था।

आप कह सकते हैं कि गंगानन्द कविराज मैथिल थे और भानुदत्त के सम-कालीन थे। अतः कोई आश्चर्य नहीं कि उन पर भानुदत्त का प्रभाव पड़ा हो। ठीक है। हम यहाँ एक और ग्रन्थ को प्रस्तुत करते हैं। **'मंदारमरंदचम्पू'** ग्रन्थ के लेखक श्रीकृष्णकवि **मैथिल** नहीं थे और उनका समय है सन् १८३५-१६०६। इस ग्रन्थ पर **'रसतरंगिणी'** का प्रभाव **'कर्णभूषण'** से भी अधिक पड़ा है। **'मंदारमरंदचम्पू'** शुद्ध रूप से रस-विवेचन का ग्रन्थ नहीं है। केवल एक अध्याय 'रम्य-बिन्दु' में ही रस-विवेचन किया गया है किन्तु इस अध्याय पर प्रायः सर्वत्र भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' की छाप पड़ी हुई है। भानुदत्त का अनुकरण करते हुए श्रीकृष्णकवि ने कहा कि रस दो प्रकार के होते हैं—लौकिक और अलौकिक। अलौकिक रसों की उत्पत्ति आत्मा-सम्बन्धी सन्नि-कर्षों से होती है और लौकिक रसों की बाह्य सन्निकर्षों से—

रसं तं ब्रुवतेऽन्येऽन्ये प्रबुद्धस्थायिवासनाम्।
अलौकिको लौकिकश्चेत्येवं स द्विविधो रसः॥
आत्मचेतः संनिकर्षमात्रजातस्त्वलौकिकः।
बहिः स्वसंनिकर्षेभ्यः स्यादुद्भूतस्तु लौकिकः॥[1]

भानुदत्त की माया-रस-संबंधी परिकल्पना को स्वीकार करते हुए इस ग्रन्थ में कहा गया है—

केचिदाहुः प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च फलद्वयम्।
माया रसः प्रवृत्तौ तु निवृत्तौ शान्त इष्यते॥
मायारसस्य भावस्तु स्थायी मिथ्यामतिर्मता।
विभावा भुक्तिभोगाद्या अनुभावाः सुतादयः॥
हर्षगर्वमदाद्याः स्युर्मायायां व्यभिचारिणः।

[1] मंदारमरंदचम्पू, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (१९२४) पृष्ठ १००।

मिथ्यामतिपरीपोषो मायारस इतीष्यते ॥[1]

श्रीकृष्णकवि ने शान्त-रस का स्थायी भाव शम कहा है, भानुदत्त के समान निर्वेद नहीं और इसके विभावों और अनुभावों में भी अन्तर कर दिया है किन्तु **'रसतरंगिणी'** के प्रभाव को वे फिर भी नहीं छोड़ सके हैं। यहाँ दोनों ग्रन्थों से शान्त-रस के उदाहरण प्रस्तुत किए जा रहे हैं जिनसे यह सहज कल्पना की जा सकती है कि श्रीकृष्णकवि भानुदत्त से कितने अधिक प्रभावित रहे हैं—

भानुदत्त—**हेयं हर्म्यमिदं निकुञ्जभवनं श्रेयः प्रदेयं धनं।**
पेयं तीर्थपयो हरेर्भगवतो गेयं पदाम्भोरुहम् ॥[2]

... ...

श्रीकृष्णकवि— **हेयं हर्म्यं धनं देयं पेयं तीर्थजलं पदम्।**
ध्येयं गेयं हरेर्वृत्तं मग्नेनासारसंसृतौ ॥[3]

भानुदत्त के समान इन्होंने भी हास्य, करुण, भयानक, बीभत्स और अद्भुत रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेद किए हैं। इतना ही नहीं, इन्होंने रसों के वर्णन में अनेक स्थलों पर भानुदत्त द्वारा प्रयुक्त शब्दावली को भी अपना लिया है—

रसतरंगिणी—**हासस्य परिपोषो हास्यः।**
मंदारमरंदचम्पू—**हासस्य परिपोषस्तु रसो हास्यः प्रकीर्तितः।**[4]
रसतरंगिणी—**भयस्य परिपोषः सर्वेन्द्रियविक्षोभो वा भयानकः।**
मंदारमरंदचम्पू—**सर्वेन्द्रियाणां विक्षोभः परिपोषो भयस्य वा।**[5]

यहाँ केवल कुछ अंश ही विवेचित किए गए हैं क्योंकि हमारा आशय इन ग्रन्थों पर पड़े भानुदत्त के प्रभावों का संकेत करना ही है, पूर्ण विवेचन करना नहीं।

१६५० ई० में रचित विद्याराम के ग्रन्थ **'रसदीर्घिका'** में भी माया-रस को स्वीकृति दी गई है। विद्याराम का माया-रस-सम्बन्धी विवेचन और कुछ

1 **मंदारमरंदचम्पू**, पृष्ठ १०६।
2 **रसतरंगिणी**, ७।२६।
3 **मंदारमरंदचम्पू**, पृष्ठ १०६।
4 वही, पृष्ठ १०३।
5 वही, पृष्ठ १०५।

नहीं, भानुदत्त की ही मान्यता का दार्शनिक शैली में विस्तार है। देखिए—

यथा निवृत्तौ शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ माया रस इति प्रतिभाते तथा हि माया रसस्य स्थायिभावो मिथ्याज्ञानं। तच्च—

> **प्रगाढरागः संसारे मिथ्याज्ञानं प्रकीर्तितम्।**
> **मिथ्याज्ञानं तु सम्पूर्णं मायारस इति स्मृतः॥**
> **अनादिवासना माया वाऽविद्या कामकर्मजा।**
> **वर्णो नीलो सवर्णोऽस्य दैवतं निर्ऋतिस्तथा॥**
> **सांसारिकानां भोगानामुपार्जन समुद्यमः।**
> **विषयाभिनिवेशश्च गृहे रागो दृढस्तथा॥**
> **ज्ञेयो मायारसस्यायं विभावोप्यतिमूढता।**
> **अनुभावस्तु निर्बन्धो लौकिकेष्वेव कर्मसु॥**
> **लोभोऽनृतं कलिर्हिंसा द्वेषः स्तैन्यं रुषस्तथा।**
> **स्त्रीपुत्रद्रविणाद्येषु प्रगाढाभिनिवेशनम्॥**
> **हर्षः स्तम्भो मदोऽसूया मोहो ग्लानिर्भ्रमस्तथा।**
> **आलस्याद्या भवन्त्यत्र कतिचिद्व्यभिचारिणः॥**[1]

भानुदत्त के अनुकरण पर विद्याराम ने रसों को स्वनिष्ठ-परनिष्ठ भेदों में भी रखा है।

काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों से इतर ग्रन्थों में भी भानुदत्त की इस मान्यता का विस्तार हुआ। अठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में रचित हंसमिट्ठु के तांत्रिक ग्रन्थ '**हंसविलास**' में माया को दसवाँ रस स्वीकार किया गया है और मिथ्याज्ञान को उसका स्थायी भाव कहा गया है।[2] अनेक विद्वानों ने भानुदत्त की इस मान्यता का खंडन भी किया। उदाहरण के लिए विश्वेश्वर-रचित '**रसचन्द्रिका**'[3] और चिरंजीव भट्टाचार्य के ग्रन्थ '**काव्यविलास**' को देखा जा सकता है।[4]

१ **रसदीर्घिका**, सं०—पं० गोपालनारायण बहुरा; जोधपुर : राजस्थानपुरातत्त्वान्वेषण मंदिर (१९५६) पृष्ठ ३९।

२ **गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़** ८१, पृष्ठ २५३।

३ मिथ्याज्ञानवासनायाश्च सर्वदापि प्रबुद्धत्वात्। काव्यादिभ्यो जायमानस्य विषयज्ञानमात्रस्य रसत्वापत्तेश्च। तत्र चमत्कारस्याननुभूयमानत्वात्, व्यभिचारिस्थायिभावानां व्यवस्थानुपपत्तेश्चेति दिक्।—**काशी संस्कृत सीरीज़** ५३ (१९२६) पृष्ठ ६९।

४ अत्रेदं चिन्त्यं—मायाया अनादित्वेन अजन्यत्वात् रसत्वासंभवः। रसास्तु सर्वे जन्या

'जृम्भा' नामक नौवें सात्त्विक भाव का उल्लेख रूपगोस्वामी के ग्रन्थ 'उज्ज्वलनीलमणि' में छः उद्भास्वरों के अन्तर्गत हुआ है—

उद्भासते स्वधाम्नीति प्रोक्ता उद्भास्वरा बुधैः ।
नीव्युत्तरीयधम्मिल्लस्रंसनं गात्रमोटनम् ॥
जृम्भा घ्राणस्य फुल्लत्वं निश्वासाद्याश्च ते मताः ।[1]

ये छः उद्भास्वर रूपगोस्वामी द्वारा एक पृथक् वर्ग के अन्तर्गत शारीरिक धर्मों के रूप में रखे गए हैं।

यह कहा जा चुका है कि हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों के लिए भानुदत्त एक आदर्श आचार्य रहे हैं। उनके द्वारा की गई विविध परिभाषाओं, वर्गीकरणों और नूतन उद्भावनाओं को इस युग में अनेक काव्यशास्त्रियों ने ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लिया। अनेक हिन्दी के आचार्यों ने तो यहाँ तक कह दिया कि हम ऐसा-ऐसा इसलिए कह रहे हैं क्योंकि भानुदत्त '**रसतरंगिणी**' में ऐसा ही कह गए हैं। उदाहरण के लिए श्रीपति को लिया जा सकता है। '**काव्यसरोज**' में उन्होंने लिखा है—

कहूँ दरस कहुं परस ते कहुँ श्रुति ते ह्वै जाइ ।
रस-तरंगिनी में कह्यो भानुदत्त कविराइ ॥

भानुदत्त ने 'रति' स्थायी भाव के संदर्भ में यह कहा था कि यह कहीं दर्शन, कहीं श्रवण और कहीं स्मरण से उद्भूत होती है। यही भाव यहाँ प्रस्तुत कर दिया गया है। अन्तर केवल यह है कि भानुदत्त ने स्पर्श के लिए नहीं कहा था।

देव के रस-विवेचन में जिन नवीनताओं का आभास मिलता है वे प्रायः सभी भानुदत्त से ग्रहण की गई हैं। '**भावविलास**' में देव द्वारा की गई रस की इस परिभाषा पर भानुदत्त का प्रभाव स्पष्ट है—

जो विभाव अनुभाव अरु व्यभिचारिन करि होइ ।
थिति की पूरन वासना सुकवि कहत रस सोई ॥ ३।१

देखिए—**प्रबुद्धस्थायिभाववासना वा रसः ।[2]**

एव। कथं वा कथयेत् मिथ्याज्ञानादिः मायायाः कारणमिति, शास्त्रविरुद्धत्वात्। वस्तुतस्तु आलङ्कारिकाणां मते रसो नित्यः आनन्दरूपः। अतोऽस्य ब्रह्मस्वरूपत्वेन मायाया रसत्वासंभवः। माया हि तुच्छा विनाशशालिनी ब्रह्मभिन्नैवेति दिक्। अत एव प्राचीनसांप्रदायिकैरपि नवैव रसाः कथिताः।—**सरस्वती भवन टैक्स्ट्स**, बनारस (१९२५) पृष्ठ १०।

१ **उज्ज्वलनीलमणि**, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (१९३२) पृष्ठ ३१९।

२ **रसतरंगिणी**, षष्ठ तरंग का प्रारम्भिक गद्य।

देव के अनुसार रस के दो भेद हैं—लौकिक और अलौकिक । नयन आदि इन्द्रियों के संयोग से रस लौकिक होता है तथा आत्मा और मन के संयोग से अलौकिक । अलौकिक रस के तीन भेद हैं—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायिक—

ताहि विभावादिकन तें थिति संपूरन जानि ।
लौकिक और अलौकिकहि द्वै विधि कहत बखानि ।। ३ । ३
नयनादिक इंद्रियनि के जो गहि लौकिक जान ।
आतम मन संजोग ते होय अलौकिक ज्ञान ।। ३ । ४
कहत अलौकिक तीन विधि प्रथम स्वापनिक मान ।
मनोरथ कवि देव अरु उपनायक बखान ।। ३ । ५

देव ने यह वर्गीकरण 'रसतरंगिणी' से ही ग्रहण किया है । 'वितर्क' संचारी के चार भेद हैं—

विप्रतिपत्ति विचार अरु सँसय अध्यवसाइ ।
वितरक चौविधि जानिये भ्रूचलनादिय भाइ ।। २।६६

संचारी दो प्रकार के होते हैं—शारीरिक और आंतरिक । 'स्तम्भ' आदि शारीरिक हैं और 'निर्वेद' आदि आंतरिक—

ते सारीरि अरु आंतरिक द्विविधि कहत भरतादि ।
स्तम्भादिक सारीर अरु आंतर निरवेदादि ।। २।२

यह सब क्या है ? उत्तर है—'रसतरंगिणी' का अन्धानुकरण-मात्र । अनेक स्थल ऐसे हैं जिनमें देव ने भानुदत्त का अनुवाद ही प्रस्तुत कर दिया है । यहाँ ऐसे कुछ अंश दिए जाते हैं—

रसतरंगिणी—**यथार्थज्ञानं मतिः । अत्र विभावाः शास्त्रचिंतनादयः । अनुभावाः शिष्योपदेशभ्रूक्षेपकरचालनचातुर्यादयः ।···नयविनयाऽनुनयोपदेशोपालम्भा अत्रैवान्तर्भवन्ति ।···उपालम्भोऽपि द्विविधः—प्रणयात्मा कोपात्मा च ।**

भावविलास—**शास्त्रचिंतना ते जहाँ होइ जथारथ ज्ञान ।**
करै शिष्य उपदेश जहँ मति कहि ताहि बखान ।। २।७५
उपालंभ अनुनय विनय अरु उपदेश बखान ।
इनको अंतरभाव कहि देव मध्य मति जान ।। २।७७
उपालम्भ द्वै भाँति को बरनि कहैं कविराइ ।
एक कहावै कोप तें दूजो प्रनय सुभाइ ।। २।७८

रसतरंगिणी—**ग्लानिर्निबंलता निःसहता वा। तत्र विभावा रत्यायासतृट्-क्षुधादयः। अनुभावा निर्व्यापारदृग्भ्रमादयः।**

भावविलास—**भूष प्यास अरु सुरति श्रम निरबल होत सरीर।**

सिथिल होत अवयव सबै ग्लानि कहत सो धीर॥ २।२५

कुछ लोग पहले बहुत समय तक यह कहते रहे कि 'छल' नामक संचारी देव की मौलिक उद्भावना है। किन्तु देव ने इस विषय में भी भानुदत्त का अनुकरण किया है। देव द्वारा 'छल' की की गई परिभाषा और उसके विभाव-अनुभाव वे ही हैं जिनका उल्लेख भानुदत्त पहले कर चुके थे—

रसतरंगिणी—**संगुप्तक्रियासंपादनं छलम्। विभावा अवमानप्रतिपक्षकुचेष्टादयः। अनुभावा वक्रोक्तिनिभृतस्मितनिभृतवीक्षणप्रकृतिप्रच्छादनादयः।**

भावविलास—**भरतादिक सतकवि कहैं बिभचारी तैंतीस।**

बरनत छल चौंतीसयों एक कविन के ईस॥ २।१०१

अपमानादिक करन को कीजै क्रिया छिपाव।

वक्रउक्ति अंतर कपट सो बरनै छल भाव॥ २।१०२

देव के ग्रंथ '**भावबिलास**' में पाँच विलास अर्थात् अध्याय हैं। प्रथम विलास में रति स्थायी भाव का विवेचन है और बाद में विभाव अर्थात् आलंबन-उद्दीपन का तथा अंत में अनुभाव का विवेचन है। द्वितीय विलास में शारीर और आंतर संचारियों का अर्थात् सात्त्विक भावों और प्रचलित संचारियों का विवेचन किया गया है। तृतीय विलास में रस-वर्णन है। यहाँ तक का क्रम इस प्रकार हुआ—स्थायी भाव—विभाव—अनुभाव—सात्त्विक—व्यभिचारी—रस। यही क्रम '**रसतरंगिणी**' का भी है।

कहा जा सकता है कि देव के '**भावविलास**' का आधार-ग्रन्थ है '**रसतरंगिणी**'।

ग्वाल ने '**रसरंग**' में लिखा है--

चिदानन्द घन ब्रह्म सम, रस है श्रुति परमान।

दुविधि सुरस लौकिक जु इक, दुतिय अलौकिक जान॥ २।२

रस जु अलौकिक है त्रिधा, स्वाप्निक एक विचार।

मानोरथिक सुजानिये, औपनयिक कहि धार॥ २।३

इन पंक्तियों पर भानुदत्त का स्पष्ट प्रभाव है। रसों के स्वनिष्ठ-परनिष्ठ भेद भी उन्होने '**रसतरंगिणी**' के आधार पर किए हैं। 'छल' नामक संचारी का वर्णन करते हुए ग्वाल ने कहा है--

भानुदत्त जु ने लिख्यो रसतरंगिनी माहि ।
नूतन इक औरौ बनत छल संचारी याहि ।। (रसरंग)

ग्वाल पर भानुदत्त का कितना प्रभाव था, यह इन पंक्तियों से भी स्पष्ट है—

भानुदत्त ने जो लिख्यो, रसमंजरि के माहि ।
सो लच्छन हम लिषत हैं, हमैं दोष कछु नांहि ।। (रसिकानन्द)

रीतिकालीन आचार्यों में जिन्होंने भानुदत्त के लौकिक-अलौकिक आदि रस-संबंधी वर्गीकरण को स्वीकार किया है उनका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है। कोष्ठकों में उनके लिखे हुए ग्रन्थों के नाम हैं—देव (**भावविलास**), ग्वाल (**रसरङ्ग**), रूपसाहि (**रूपविलास**), उजियारे (**रसचंद्रिका**), कुमारमणि भट्ट (**रसिकरसाल**)। यहाँ कुछ चुने हुए नाम ही दिए गए हैं। सभी नामों को प्रस्तुत करना असंभव है।

करन कवि द्वारा की गई अनेक परिभाषाएँ भानुदत्त का अक्षरशः अनुवाद हैं। यहाँ उनके ग्रन्थ 'रसकल्लोल' से रति, हास, शोक—इन स्थायी भावों की परिभाषाओं को भानुदत्त के वक्तव्यों के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है—

रति—इष्ट वस्तु ईहा जनित मन विकार जहं होइ ।
कहुं दरसन सुमिरन श्रवन अपरिपूरि रति सोइ ।। १२ ।।

(तत्रेष्टवस्तुसमीहाजनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा रतिः। सा च क्वचिद्दर्शनेन, क्वचिच्छ्रवणेन, क्वचित्स्मरणेन ।)

हास—ख्याल वचन अरु वेष कृत मन विकार जहं होइ ।
कहत अपूरन सकल कवि हास कहावत सोइ ।। १४ ।।

(कुतूहलकृतवचनवेषवैसादृश्यकृतो मनोविकारः परिमितो हासः ।)

शोक—रति विन इष्ट वियोग कृत मन विकार जिहि ठौर ।
अपरिपूरि विलसत जहाँ सोक कहत सिरमौर ।। १६ ।।

(इष्टविश्लेषजनितो रत्यनालिंगितः परिमितो मनोविकारः शोकः ।)

'रसपीयूषनिधि' में सोमनाथ ने संचारी भावों के जो लक्षण दिए हैं वे वास्तव में 'रसतरंगिणी' से ही लिए गए हैं। उदाहरण के लिए असूया, शंका, चिन्ता, हर्ष, धृति आदि के लक्षणों को देखा जा सकता है। स्थायी भावों के लक्षण देते समय भी सोमनाथ भानुदत्त के प्रभाव से बच नहीं सके हैं।

मतिराम ने 'रसराज' में भानुदत्त के 'जृम्भा' सात्त्विक को नौवाँ सात्त्विक माना है। किन्तु उनका मत है कि इसकी उत्पत्ति का कारण आलस्य है—

जृंभा को कबि कहत हैं नव यों सात्विक भाव।
उपजै आलस आदि तें बरनत सब कबिराव ॥ ३३९ ॥

'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने भी 'आलस्य' को 'जृम्भा' का कारण बताया था—

आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भासितादिकृत् ।[1]

पद्माकर ने भी 'जृम्भा' सहित नौ सात्त्विक भाव स्वीकार किए हैं किन्तु इन्हें उन्होंने अनुभावों में परिगणित किया है। वैसे उनका यह मत स्पष्ट ही है कि सात्त्विक शरीर के धर्म हैं। बेनी प्रवीन ने भी अपने ग्रन्थ '**नवरसतरंग**' में 'जृम्भा' को मान्यता दी है किन्तु उनकी पद्धति पद्माकर जैसी ही है। उन्होंने भी सात्त्विकों को अनुभावों में रखा है। परोक्ष रूप में 'जृम्भा' को ग्वाल ने भी स्वीकार किया है।

उजियारे ने '**रसचंद्रिका**' में माया-रस का उल्लेख किया है। चित्तवृत्ति दो प्रकार की होती है—प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। प्रवृत्ति और निवृत्ति के आधार पर क्रमशः माया-रस और शान्त-रस उत्पन्न होते हैं। उजियारे के माया-रस-संबंधी विवेचन के विषय में आगे कुछ कहा नहीं जा सकता। इस ग्रन्थ का अभी तक कहीं से प्रकाशन नहीं हुआ है और याज्ञिक संग्रहालय में इसकी जो प्रति उपलब्ध है वह जीर्ण-शीर्ण अवस्था में है। माया-रस-संबंधी विवेचन ग्रन्थ के तेरहवें प्रकाश में किया गया है और इस प्रति का यह अंश त्रुटित है। फिर भी, इतना तो कहा ही जा सकता है कि उजियारे को माया-रस मान्य था—

चित्तवृत्ति द्वै भाँति है, कहत सुकवि सुविलास।
जानों एक निवृत्ति है, दुई प्रवृत्ति प्रकास ॥ १३।१
ज्यों निवृत्ति में होतु है सांत सुरस···।
त्यों प्रवृत्ति में होतु है माया रसनि गिनाइ ॥ १३।२

रामसिंह ने अपने '**रसनिवास**' ग्रन्थ में शान्त-रस से पूर्व माया-रस का जो विवेचन किया है उस पर भानुदत्त का स्पष्ट प्रभाव है—

पूरन मिथ्या ज्ञानु जु है सो माया रस पहिचानौं।
भलै समझ कै मिथ्या ज्ञानु सु थाई भाव बखानौं ॥
जगत भेद उपजावन जातों धर्म अधर्म विभावै।
सुत दारा जय राज आदि ये कहियत हैं अनुभावै ॥

[1] साहित्यदर्पण, ३।१५५।

रीतिकालीन सभी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। कहा नहीं जा सकता कि इस काल के और किन किन ग्रंथों पर भानुदत्त का प्रभाव पड़ा है। वैसे भी हमने यहाँ जो विवेचन प्रस्तुत किया है, वह संक्षिप्त है। अधिक विस्तार में जाने का अवकाश भी हमें प्राप्त नहीं है। यदि अनुसंधान का विषय ही यह हो तो स्वतन्त्र रूप से एक शोध-ग्रन्थ की रचना की जा सकती है। किन्तु इस संक्षिप्त विवेचन के आधार पर भी यह सिद्ध हो जाता है कि **'रसतरंगिणी'** का परवर्ती संस्कृत और हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र पर व्यापक प्रभाव पड़ा। वास्तव में हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों को **'रसतरंगिणी'** में पूर्ववर्ती संस्कृत-काव्यशास्त्र का रस-चिंतन परिनिष्ठित रूप में प्राप्त हो गया था। अतः अनेक काव्यशास्त्रियों ने प्राचीन संस्कृत-ग्रन्थों का अवलोकन नहीं किया और वे भानुदत्त से पूर्णतः प्रभावित होकर रह गए। अनेक आचार्यों ने तो **'रसतरंगिणी'** की मान्यताओं का ब्रजभाषा में अनुवाद ही प्रस्तुत कर दिया। कुछ आचार्य ऐसे भी हैं जिनके सिर पर इस ग्रन्थ का जादू इस रूप में चढ़ा कि वे बिना सोचे-समझे ही इसके अनुवाद में प्रवृत्त हो गए और संतुलित विवेक के अभाव में गड़बड़ा कर रह गए। उदाहरण के लिए बेनी प्रवीन के ग्रन्थ **'नवरसतरंग'** के उस अंश को लिया जा सकता है जिसमें विभाव, अनुभाव, संचारी और सात्त्विक भावों का निरूपण किया गया है।

इस विवेचन के आलोक में **'रसतरंगिणी'** की महत्ता में संदेह नहीं रह जाता।

(१३) ग्रन्थ की सीमाएँ

इस सन्दर्भ में दो दृष्टियों से विचार किया जाएगा। एक तो यह कि प्रतिपादन-व्यवस्था में भानुदत्त से क्या भूलें हुई हैं और दूसरे यह कि भानुदत्त द्वारा प्रतिपादित नवीन सिद्धांतों में क्या स्वीकार्य है और क्या नहीं।

पहले हम प्रतिपादन-व्यवस्था को ही लें। 'निद्रा' व्यभिचारी के लिए भानुदत्त ने कहा है कि अन्य इन्द्रियों को छोड़कर मन जब त्वचा में रहता है तब निद्रा होती है और जब मन स्वप्नवाहक नाड़ी में चला जाता है तब स्वप्नादि संभव होते हैं। किन्तु निद्रा को जिस उदाहरण द्वारा उन्होंने स्पष्ट करना चाहा है वह निद्रा का नहीं, स्वप्न का उदाहरण है। निद्रा के विभाव हैं स्वभाव, चिन्ता, आलस्य, खेद आदि और अनुभाव हैं करवट लेना, नेत्र-भौंह का चलाना, अप्रासंगिक वचन, स्वप्नदर्शन आदि। इस उदाहरण में चिन्ता के अति-

रिक्त और कोई विभाव प्रत्यक्ष नहीं है और न ही करवट लेना, अप्रासंगिक वचन आदि अनुभाव हैं। स्वप्नदर्शन का यद्यपि यह उदाहरण है तथापि इस उदाहरण में स्वप्नदर्शन अनुभाव के रूप में नहीं, मूल विकार के रूप में आया है। अतः स्थिति स्पष्ट नहीं होती।[1]

व्यभिचारियों की गणना में भानुदत्त ने 'मरण' व्यभिचारी का उल्लेख किया है। किन्तु उनके विवेचन में प्रवृत्त होकर वे 'मरण' शब्द को भूल गए हैं और उसके स्थान पर 'निधन' शब्द का प्रयोग किया है। प्रचलित प्रयोगों को देखते हुए कहा जा सकता है कि मृत्यु का भान कराने के लिए जितना अधिक उपयुक्त 'मरण' शब्द है, उतना 'निधन' नहीं।

यहाँ इन दोनों के एक-एक प्रयोग दिए जाते हैं—

मरण—**मरणं प्रकृतिः शरीरिणां**। (रघुवंश ८/८७)

निधन—**अहो निधनता सर्वापदामास्पदं**। (मृच्छकटिक १/१४)

भानुदत्त ने कहा है कि इसके विभाव-अनुभाव स्पष्ट ही हैं। ठीक है। इसका जो उदाहरण दिया गया है उससे यह नहीं लगता कि भानुदत्त 'निधन' अथवा 'मरण' की व्यंजना कर रहे हैं। सम्पूर्ण उदाहरण से रावणों का सर्वत्र व्याप्त भय ही प्रकट होता है। यहाँ हम उस श्लोक का उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे बात स्पष्ट हो जाएगी —'हाथ और पैर फैलाकर युद्धभूमि में गिरते हुए रावण के केशपाश को वायु भी भय के कारण स्पर्श करने का साहस नहीं करता, उसके मुखारविन्द पर सूर्य भी अपनी उष्म किरणें नहीं डाल रहा और देवता अपने-अपने घरों में भी खुलकर उसकी चर्चा नहीं करते।'

यह उदाहरण ही सदोष है। युद्धभूमि में वीर गिरते हैं और जब गिरते हैं तो अनायास ही हाथ-पैर भी फैल जाते हैं। किन्तु गिरने का अर्थ मरण नहीं है। यदि मान भी लें कि यह मरण ही है तो कौन कवि ऐसा है जो मरते हुए व्यक्ति—और रावण जैसे व्यक्ति—के मुख को कमल की उपमा देगा ? और ऐसे व्यक्ति का मरण जो अपने जीवन में अन्यों को संत्रस्त करता आया हो प्रसन्नता का विषय होता है। यहाँ तो उलटे भय को और भी अधिक व्याप्त होते हुए दिखाया गया है।[2]

भरत के मत को प्रस्तुत करते हुए भानुदत्त ने कहा है कि भयंकर शब्द

१ **रसतरंगिणी**, ५।२६।
२ वही, ५।३६।

करने वाले प्राणी को देखने से, युद्धभूमि, वन अथवा सुनसान घर में जाने से और बड़ों तथा राजा के प्रति किए गए अपराध से भयानक-रस उत्पन्न होता है। आक्रमण, बन्धुजनों के बन्धन के श्रवण, श्मशान-दर्शन आदि भी इसी के अन्तर्गत ग्राह्य हैं। अब उस उदाहरण का अध्ययन कीजिए जिसे भानुदत्त ने इस संदर्भ में प्रस्तुत किया है। उसका अनुवाद इस प्रकार है—'जिनके तीव्र कांतिमान एवं कठोर केसरसमूह से घर्षित बादलों से प्रकट होने वाली बिजली की किरणों से संसार के सभी पर्वत सुनहरे हो गए थे और जिनके तीव्र कण्ठ-गर्जन से गुञ्जित पृथ्वी के भागों में रहने वाले द्विजों के ओजपूर्ण आशीर्वचनों ने राजा बलि को प्रसन्न किया है, ऐसे मायाहरि को सभी लोकों ने देखा।[1]

इस उदाहरण में विष्णु के नृसिंह रूप का वर्णन है। स्पष्ट ही आलंबन नृसिंहावतार में विष्णु हैं और उनका घोष गर्जन उद्दीपन है। किन्तु नृसिंह-रूपधारी विष्णु का घोष गर्जन भय को उद्दीप्त नहीं करता। इस उदाहरण को देखते हुए क्या हम नृसिंह को भयंकर शब्द करने वाला प्राणी कह सकते हैं? कदापि नहीं। भयानक-रस को उत्पन्न करने वाले अन्य विभाव भी यहाँ विद्यमान नहीं हैं। निश्चय ही भयानक-रस की पुष्टि यहाँ नहीं है। कहा जा सकता है कि यह उदाहरण युक्तियुक्त नहीं है। यह अद्‍भुत-रस का उदाहरण लगता है।

अद्‍भुत-रस के विभावों का विवेचन करते हुए भानुदत्त ने इन्द्रजाल, अर्थ-लाभ आदि का भी ग्रहण किया है और आगे चलकर इन दोनों के उदाहरण देने के लिए भी कहा है किन्तु वे केवल इन्द्रजाल का ही उदाहरण देकर रह गए हैं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रजाल और अर्थलाभ एक ही हैं।[2]

दया, करुणा और करुण-रस का स्पष्ट व स्वच्छ विवेचन भानुदत्त नहीं कर सके हैं। इस संबंध में सबसे पहले उनका यह कहना है कि दयावीर का करुण में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि करुण का स्थायी भाव शोक है और दयावीर का स्थायी भाव उत्साह है। अतः स्थायी भावों के इस भेद से दयावीर का करुण में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। फिर भी दया-वीर में करुण-रस की अनुभावकता होती है। इसका कारण यह है कि करुणा के बिना दयावीर का अनुभव नहीं होता। इस प्रकार इस विवेचन में तीन

१ रसतरंगिणी, २/१५।
२ वही, २/२०।

पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किए गए हैं—दया, करुणा और करुण। इनमें भानुदत्त करुणा और दया के संबंध में अपना आशय स्पष्ट नहीं कर पाए हैं। साथ ही करुणा और करुण-रस का भेद भी स्पष्ट नहीं हो पाता है। डॉ० वी० राघवन ने भी इस संबंध में अपना यही मत प्रकट किया है।[१]

अद्भुत-रस को स्वनिष्ठ-परनिष्ठ के रूप में दो प्रकार का कहा गया है किन्तु एक अन्य स्थल पर यह स्थापना की गई है कि अद्भुत नामक रस केवल परनिष्ठ ही होता है—अर्थात् उसकी स्थिति पात्र में न होकर केवल सामाजिक में ही होती है।[२] यह वदतोव्याघात समझ में नहीं आता क्योंकि स्वयं भानुदत्त ने अद्भुत-रस के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ दोनों के उदाहरण भी दिए हैं जिनमें अद्भुत-स्वनिष्ठ में रस की स्थिति राम में और अद्भुत-परनिष्ठ की स्थिति सामाजिक में दिखाई गई है।

अष्टम तरंग में भरत-सम्मत छत्तीस दृष्टियों का उल्लेख किया गया है जिनमें आठ-आठ रसों और स्थायी भावों की दृष्टियाँ हैं और बीस व्यभिचारी भावों की दृष्टियाँ हैं किन्तु इनमें लक्षण किसी भी दृष्टि के नहीं दिए गए हैं। 'ललिता' और 'ग्लाना' को छोड़कर उदाहरण भी किसी दृष्टि के नहीं दिए हैं। प्रश्न यह है कि इस दृष्टि-विवेचन का **'रसतरंगिणी'** में क्या उपयोग रहा है? निश्चय ही, कुछ भी नहीं। **'रसतरंगिणी'** नाट्यशास्त्रीय ग्रन्थ नहीं है। अतः यह समस्त सामग्री व्यर्थ ही सिद्ध होती है। तो फिर क्या कारण है कि भानुदत्त ने इस सामग्री का समावेश किया? वास्तव में उन पर भरत का बहुत अधिक प्रभाव है। भानुदत्त से पहले रुद्रभट्ट आदि आचार्य रसों को नाटक के क्षेत्र से पृथक् काव्य में नियोजित कर चुके थे किन्तु भानुदत्त भरत के प्रभाव के कारण इस ओर अपनी दृष्टि नहीं कर सके। उन्होंने भरत का मत प्रस्तुत करते हुए यही कहा कि शृङ्गार-हास्य आदि आठ रस नाटक में माने गए हैं। इन सभी रसों का विवेचन करने के पश्चात् शान्त-रस के विवेचन से पूर्व भानुदत्त फिर कहते हैं कि नाटक से भिन्न स्थलों में निर्वेद स्थायी भाव वाला शान्त नामक नवम रस भी होता है। यह इस बात का प्रमाण है कि भानुदत्त के मन में नाट्यविधान के प्रति कितना मोह था। फिर भी, इस विषय में यह संतोष की बात है कि काव्य और नाटक को लेकर **'रसतरंगिणी'** में असंतुलन

1 *The Number of Rasas* (Madras, 1967), p. 177.

२ **रसतरंगिणी**। देखिए क्रमशः ७।१९ और २० का मध्यवर्ती गद्यभाग तथा ७।२७ के बाद की गद्यपंक्ति।

की स्थिति नहीं आई है।

अब भानुदत्त द्वारा प्रतिपादित विवादग्रस्त सिद्धांतों की समीक्षा-परीक्षा की जाए। क्या 'जृम्भा' को सात्त्विक के रूप में ग्रहण किया जा सकता है? सबसे पहली बात तो यही है कि इसके प्रतिपादन में स्वयं भानुदत्त ही व्यवस्थित नहीं रह सके हैं। भानुदत्त ने सात्त्विकों को व्यभिचारी भावों में भी रखा है और अनुभावों में भी। उदाहरण के लिए यहाँ संकेतात्मक रूप से दो अंश प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

(क) **भये स्तम्भस्वेदगद्गदतारोमाञ्चवैवर्ण्यशङ्कामोहावेगदैन्यचापलत्रासापस्मारप्रलयमूर्च्छाव्यभिचारिणः।**[1]

(ख) **स चानुभावः कायिकमानसाहार्यसात्त्विकभेदाच्चतुर्धा⋯सात्त्विका रोमाञ्चादयः।**[2]

अब देखें कि 'जृम्भा' के विषय में भानुदत्त का क्या मत है? कहा गया है कि अंगाकृष्टि, नेत्रमर्दन आदि में भावलक्षण का अभाव है। रस के अनुकूल विकार ही भाव कहलाता है। अंगाकृष्टि आदि रस के अनुकूल विकार नहीं हैं—ये शारीरिक चेष्टाएँ हैं—अतः इन पर व्यक्तियों की इच्छा का वश होता है। जृम्भा आंतर विकार से उत्पन्न होती है। अर्थात् उस पर व्यक्तियों का वश नहीं होता। आन्तर विकार के शान्त होने पर वह स्वयं भी शान्त हो जाती है। यहाँ चेष्टा और विकार में क्या अन्तर है, यह स्पष्ट नहीं होता। आखिर चेष्टाओं के मूल में भी कोई कारण तो होता ही है, चाहे फिर चेष्टाएँ निरर्थक भी क्यों न हों। और जब हम अंगाकृष्टि आदि को भावलक्षण से रहित कह देते हैं तो उन्हें अनुभाव भी कैसे कहा जा सकता है? भानुदत्त ने स्पष्ट ही कहा है कि रसों का अनुभव कराने वाले अर्थात् उन्हें अनुभव का विषय बनाने में कारणरूप तत्त्व ही अनुभाव कहलाते हैं। किन्तु आश्चर्य का विषय है कि स्वयं भानुदत्त ने अंगाकृष्टि आदि को अनुभाव भी कहा है—

इन्द्रियाणां प्रथम प्रकाशो विबोधः। निद्राच्छेदो विभावः। अनुभावा अङ्गाकृष्टिजृम्भाऽक्षिमर्दनांगुलीमोडनादयः।[3]

1 पंचम तरंग का अंतिम गद्यभाग।

2 ३।२ से पूर्व का गद्य।

3 ५।२९ से पूर्व का गद्य।

—अर्थात्, ज्ञानेन्द्रियों का प्रथम प्रकाश ही विबोध है। निद्रा का नाश विभाव है। अँगड़ाई, जम्हाई, आँख मलना तथा अंगुलियों का मोड़ना आदि अनुभाव हैं।

अतः अङ्गाकृष्टि आदि में और जृम्भा में भेद करना ठीक नहीं प्रतीत होता। सात्त्विक भावों को व्यभिचारी भावों में भी परिगणित किया गया है और भरत के अनुकरण पर परवर्ती आचार्य ऐसा करते आए हैं। 'जृम्भा' यदि सात्त्विक भाव है तो उसे भी तो व्यभिचारियों में परिगणित किया जा सकता है। और फिर तो निश्चय ही अनुभावों में भी उसकी स्थिति माननी होगी। किन्तु यह विशेषता 'जृम्भा' में नहीं है क्योंकि यह कारण के साथ ही अन्य सात्त्विकों के समान प्रकट नहीं होती। यह भी नहीं कहा जा सकता कि 'जृम्भा' पर व्यक्ति का वश नहीं होता। सात्त्विकों को प्रयत्नपूर्वक दबाया नहीं जा सकता किन्तु 'जृम्भा' को दबाया जा सकता है। वास्तव में आंतर विकार है आलस्य और इसी से 'जृम्भा' उत्पन्न होती है। भानुदत्त के मत का यह संशोधन हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों ने कर भी दिया। मतिराम ने 'रसराज' में इसे **'उपजै आलस आदि तें'** कहा और पद्माकर ने 'जगद्विनोद' में **'प्रिय विछोह सम्मोह के आलस ही अवगाहि'** कहकर इस तथ्य की व्यंजना कर दी। विश्वनाथ पहले ही यह कह चुके थे।

रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेद भी विवेकाश्रित नहीं हैं। स्वनिष्ठ और परनिष्ठ को यदि सामाजिक की दृष्टि से देखा जाए तो स्वनिष्ठ मात्र आलंबन में है और परनिष्ठ आलंबन से इतर व्यक्ति—आश्रय अथवा सामाजिक में होता है। अर्थात् आलम्बन और आश्रय के आधार पर रसों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ रूपों की कल्पना की गई है। हम यह पहले भी कह चुके हैं कि रसों का यह वर्गीकरण युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि रस की उद्बुद्धि के लिए आलंबन और आश्रय का साथ रहना आवश्यक है। और आलंबन का जो आश्रय है वह स्वयं भी तो आलंबन को आश्रय बनाकर आलंबन बनता है। दुष्यन्त और शकुन्तला को लीजिए। दुष्यन्त-शकुन्तला—ये दोनों एक दूसरे के आलम्बन हैं। और इसी प्रकार ये दोनों आश्रय भी हैं। केवल सामाजिक स्थिति-विशेष को देखते हुए उनमें यह भेद कर लेते हैं। तो, जो रस आलंबन में ही स्थित है उससे आश्रय अथवा सामाजिक किस प्रकार आनन्द ग्रहण करेगा। और आश्रय में भी रस की स्थिति तभी होगी जब आलंबन में रसोद्बोधक वे कारण उपस्थित होंगे जिनसे रस संभव होता है। अतः रस की उद्बुद्धि में

आलंबन और आश्रय अन्योन्याश्रित होते है। इस प्रकार यह वर्गीकरण असिद्ध हो जाता है।

माया-रस की जो उद्भावना भानुदत्त ने की है उस पर भी शंका की जा सकती है। उनका मत यहाँ तक तो ठीक है कि चित्तवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं—प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। प्रवृत्ति संसार की ओर आकर्षित करती है और निवृत्ति सांसारिक भोगों से व्यक्ति को खींचती है। इस सत्य में संदेह नहीं किया जा सकता। देश-विदेशों के साहित्य में इस सत्य पर नाना प्रकार से विचार किया जाता रहा है। 'शिवपुराण' में दक्ष द्वारा किए गए यज्ञ के अवसर पर सती ने दक्ष को सचेत करते हुए जो उपदेश दिया था उसमें यह भी कहा गया था कि कर्म दो प्रकार के होते हैं—प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। यज्ञ-यागादि प्रवृत्तिपरक कर्म हैं और शम-दम आदि निवृत्तियाँ हैं। मनीषी पुरुषों को इनका विचार करते रहना चाहिए। विषय के आधार पर इनके अधिकारी भी दो प्रकार के हैं—रागी और विरागी। परस्पर विरोधी होने के कारण उक्त दोनों प्रकार के कर्मों का एक साथ एक ही कर्ता के द्वारा आचरण नहीं किया जा सकता। किन्तु भगवान् शंकर परब्रह्म परमात्मा हैं। उनमें इन दोनों ही प्रकार के कर्मों का प्रवेश नहीं है। (रुद्रसंहिता, अ० २६)।

माया के संबंध में पर्याप्त दार्शनिक चर्चाएँ हुई हैं किन्तु हमारा विषय यह नहीं है कि हम उनका अनुसंधान और विश्लेषण करें। सांसारिक व्यक्ति अधिक-से-अधिक यही कह सकता है कि माया वह तत्त्व है जो सत्य के मूल स्वरूप को हमारी आँखों से ओझल कर देता है। वह मूल सत्य ईश्वर है और हम माया में पड़कर उसे भुलाते हुए सांसारिक भोगों में मग्न हैं।

भानुदत्त का मत है कि निवृत्ति में जैसे शान्त-रस है उसी प्रकार प्रवृत्ति में माया-रस प्रतीत होता है। यह माया-रस रतिरूप नहीं है और सामान्य-रूप रस भी नहीं है। रति, हास आदि आठों माया-रस के व्यभिचारी भाव हैं। अब कहना होगा कि 'यदि प्रवृत्ति में माया-रस प्रतीत होता है' तो प्रवृत्ति तो शान्त को छोड़कर सभी रसों में है। तो क्या प्रवृत्तियों के आधार पर हम श्रृङ्गार को श्रृङ्गार न कहकर माया-रस कहेंगे ? इस शंका का समाधान करने के लिए ही भानुदत्त ने माया को अतिरिक्त-रस कहा है; रति आदि प्रसिद्ध आठ स्थायी भाव इसके व्यभिचारी बताए हैं और मिथ्याज्ञान=वासना को इसका स्थायी भाव निर्धारित किया है। मिथ्याज्ञान-वासना स्वयं में ही एक इतनी परिपक्व अनुभूति है कि उसे रस में पर्यवसित होने की आवश्यकता नहीं रहती

और सांसारिक व्यक्तियों के लिए माया-ब्रह्म आदि का अन्तर समझना एक व्यर्थ का विषय है। माया में लिप्त होकर भी वह माया को नहीं समझता है। अतः काव्यादि में उसे माया-रस की अनुभूति किस प्रकार होगी ? अब रह गए तत्त्वज्ञ व्यक्ति। वे जानते हैं कि ब्रह्म सत्य है और यह जगत् मिथ्या है। वे ज्ञानी व्यक्ति इसका अनुभव भी करते हैं। फिर माया-रस उनके लिए कौन-से आनन्द का विधान करेगा ? फलतः तत्त्वज्ञों के लिए शान्त-रस के अतिरिक्त अन्य सब रस व्यर्थ हैं। इधर माया में लिप्त व्यक्ति प्रवृत्तियों का आनन्द उठाते हैं और फिर भी मूल सत्य को नहीं जानते हैं।

अतः माया-रस को पृथक् रस नहीं स्वीकार किया जा सकता। वास्तव में भानुदत्त ने इस रस की स्थापना एक तार्किक के रूप में की है—यहाँ साधारण सहृदय उनकी आँखों से ओझल हो गया है। माया मूल सत्य को ओझल कर देती है। माया-रस भी पीछे क्यों रहे ?

(१४) निष्कर्ष

फिर भी, जैसा कि विवेचित किया जा चुका है, भानुदत्त का परवर्ती भारतीय काव्यशास्त्र पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। कहा जा चुका है कि हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों को 'रसतरंगिणी' में पूर्ववर्ती संस्कृत-काव्यशास्त्र की रस-चिंतना परिनिष्ठित रूप में प्राप्त हो गई थी। वास्तव में संस्कृत-काव्यशास्त्र का यह अकेला ग्रन्थ है जिसने अपने पूर्ववर्ती चिन्तन को समाहित किया, नवीन दृष्टि से प्राचीन मतों को विवेचित किया, मौलिक उद्भावनाएँ कीं और उनसे परवर्ती संस्कृत और हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों को परिचित कराया। इस प्रकार यह ग्रन्थ संस्कृत और हिन्दी के रीतिकालीन रसशास्त्र के बीच सेतु कहा जा सकता है।

भानुदत्त रसवादी आचार्य हैं, इसमें संदेह नहीं है। उनके ग्रन्थों से यह स्पष्ट हो जाता है कि काव्य में रस को आत्मा मानने का उनका प्रबल आग्रह है। 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी'—इन ग्रन्थों के नामकरण से भी यह सिद्ध है कि भानुदत्त काव्य में रस को प्रमुख रूप से स्वीकार करते हैं। उनके इन दोनों ही ग्रन्थों का यह उद्देश्य है कि रस की प्रतिष्ठा की जाए और पाठक को उसके आनन्द में निमग्न कर दिया जाए—

(अ) विद्वत्कुलमनोभृंगरसव्यासंगहेतवे।
एषा प्रकाश्यते श्रीमद्भानुनारसमंजरी॥ (रसमंजरी, २)

(आ) भारत्याः शास्त्रकान्तारश्रान्तायाः शैत्यकारिणी ।
क्रियते भानुना भूरिरसा रसतरंगिणी ।। (रसतरंगिणी, १।२)

एकमात्र रस ही आनन्द का कारण है । उसके बिना सुख की उत्पत्ति नहीं हो सकती—

···रसेन विना च सुखाऽनुत्पत्तेरिति ।

रस के महत्त्व को एक और प्रकार से भी सिद्ध किया गया है । भानुदत्त के एक वर्गीकरण के अनुसार रस तीन प्रकार का है—अभिमुख, विमुख और परमुख । परमुख के आगे चलकर दो भेद होते हैं—अलंकारमुख और भावमुख । इनके सम्बन्ध में पर्याप्त चर्चा पीछे की जा चुकी है अतः यहाँ सन्दर्भ की ही बात कहेंगे । यद्यपि भानुदत्त ने यहाँ अपने विवेचन में स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा कि अभिमुख रस सबसे प्रधान है किन्तु उनका मंतव्य स्पष्ट है । शीर्षकों का क्रम ही उनके मत की स्थापना कर देता है । अतः अभिमुख की कोटि सबसे ऊपर की है और अलंकारमुख और भावमुख की कोटि सबसे नीचे की है, क्योंकि उनमें रस गौण होता है । इस प्रकार रस प्रमुख है और अलंकार आदि गौण हैं । अपनी यह मान्यता उन्होंने 'रसतरंगिणी' के परवर्ती ग्रन्थ '**अलंकार-तिलक**' में स्पष्टतः घोषित कर दी—

अथ रसा आत्मानः । तेषां शरीर काव्यम् । तस्य गतिरीतिवृत्तिदोषतदभावगुणालङ्कारा इन्द्रियाणि । व्युत्पत्तयः प्राणाः । अभ्यासो मन इति ।[1]

यह घोषणा ऐसे ग्रन्थ में की गई है जिसमें रस-विवेचन नहीं है । अतः भानुदत्त का रसवादी दृष्टिकोण स्पष्ट है ।

भानुदत्त के कृतित्व से मध्यभारत की साहित्यिक प्रवृत्तियों का प्रारंभ हुआ है । उनसे पहले भारत के उत्तर में कश्मीर, पश्चिम में अनहिलपट्टन, पूर्व में बङ्ग और दक्षिण में उत्कल, आन्ध्र आदि की साहित्यिक प्रवृत्तियों का परिचय तो प्राप्त हो जाता है किन्तु मध्यभारत का लगभग नहीं । उदाहरण के लिए साहित्यशास्त्र के दो सहस्र वर्षों के इतिहास में केन्द्र-रूप में लगभग बारह सौ वर्षों तक कश्मीर स्थित रहा । उद्‌भट, रुद्रट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, मुकुलभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट आदि इस युग की कश्मीर देश की विभूतियाँ हैं । इसके पश्चात् गुजरात का अनहिलपट्टन राज्य और पूर्व में बङ्गदेश साहित्यिक

[1] *Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society* (New series), Vol. 23 (1947), p. 57.

प्रवृत्तियों के केन्द्र बने जिनमें हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, वाग्भट आदि का सम्बन्ध प्रथम केन्द्र से रहा और जयदेव बङ्ग से संबद्ध रहे। 'एकावली' के रचयिता विद्याधर से साहित्यिक प्रवृत्तियों का केन्द्र दक्षिण भारत बन गया। विद्यानाथ और विश्वनाथ का सम्बन्ध इसी केन्द्र से रहा। इस रूप में भी भानुदत्त का साहित्यशास्त्र के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। भानुदत्त के समय मिथिला नव्य-न्याय का प्रधान केन्द्र था। यही कारण है कि '**रसतरंगिणी**' में यत्र-तत्र न्यायशास्त्र का प्रभाव परिलक्षित होता है और भानुदत्त का नैयायिक-रूप उभरने लगता है।

इस विवेचन के आलोक में '**रसतरंगिणी**' की महत्ता में सन्देह नहीं रह जाता। आधुनिक युग में विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयों में हिन्दी के रीतिकालीन काव्यशास्त्र पर बहुत अधिक अनुसंधान हो रहा है। अतः शोधार्थी का इस ग्रन्थ से पूर्णतः परिचित होना आवश्यक है। जो विषय उसके अनुसंधान का आधार है, स्वयं उसके ही आधार की उपेक्षा की भी कैसे जा सकती है ?

अथ रसतरंगिणी ।

* सरस्वती सह धीभिरस्तु *

श्रीमद्भानुमिश्रविरचिता

रसतरंगिणी

प्रथमस्तरङ्गः

लक्ष्मीमालोक्य लुभ्यन्निगमे[1]मुपहसञ्शोचयन्यज्ञजन्तू-
न्क्षत्रं शोणाक्षि पश्यन्समिति दशमुखं वीक्ष्य रोमाञ्चमञ्चन् ।
हृत्वा हैयंगवीनं चकितमपसरन्म्लेच्छरक्तैर्दिगन्ता-
न्सिञ्चन्दन्तेन भूमिं तिलमिव तुलयन्पातु नः पीतवासाः ।। १ ।।

[अनुवाद—लक्ष्मी को देखकर लुब्ध होने वाले, वेदों का उपहास करने वाले, यज्ञ में बलि दिए जाने वाले पशुओं के प्रति शोक प्रकट करते हुए, क्षत्रियों को लाल-लाल नेत्रों से देखते हुए, युद्ध में रावण को देखकर उत्साह से रोमांचित होते हुए, मक्खन चुराकर भयभीत होकर भागते हुए, म्लेच्छों का वध करके उनके रक्त से दिशाओं को रंगने वाले और अपने दाँत के अग्रभाग पर पृथ्वी को अनायास ही उठाकर उसका उद्धार करने वाले पीताम्बर हमारी रक्षा करें ।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक मंगलाचरण के रूप में है। इसमें विष्णु के विभिन्न अवतारों की स्तुति करते हुए कहा गया है कि विविध रूपों वाले पीताम्बर-धारी विष्णु हमारी रक्षा करें। वास्तव में यहाँ भानुदत्त ने विष्णु के आठ रूपों की कल्पना की है जो भिन्न-भिन्न रसों के आठ स्वरूपों को भी प्रकट करते हैं। रस-विश्लेषण का ग्रन्थ होने के कारण ऐसे देवता की स्तुति करना—जो रस के आठों भेदों को स्वयं में समाहित करता हो—ग्रन्थकार के भक्ति-सिद्धान्त और साथ-साथ ही अन्वेषण-बुद्धि का भी परिचायक है। आठ रसों को अभिव्यक्त करने वाले विष्णु के आठ रूप—

१ निगममुपहरन्निति पाठान्तरम् ।

(१) **लक्ष्मीमालोक्य लुभ्यन्**—(विष्णुरूप में) लक्ष्मी को देखकर लुब्ध होते हुए—अर्थात् लक्ष्मी के सौन्दर्य के प्रति आसक्त होते हुए। यहाँ शृंगार रस का संकेत है।

(२) **निगममुपहसन्**—निगमों (वेदों) का उपहास करते हुए। यहाँ वेद के कष्टसाध्य साधना-मार्ग की अपेक्षा भक्त को सरल मार्ग से मोक्ष दे सकने के कारण वेदों का उपहास किया गया है। जैसा कि संकेत किया गया है, इस संदर्भ में 'निगममुपहरन्' पाठ भी मिलता है। तब इसका अर्थ होगा मत्स्यावतार में शंखासुर का वध करके वेद का उपहार करते हुए। दोनों ही संदर्भों में विष्णु हास्यरसस्वरूप हैं। प्रथम का स्पष्टीकरण किया जा चुका है। द्वितीय संदर्भ के अनुसार विष्णु तिर्यग् जाति का अनुकरण करने से हास्यरस-स्वरूप हैं।

(३) **शोचयन्यज्ञजन्तून्**—यज्ञ में बलि दिए जाने वाले प्राणियों को देखकर उनके प्रति करुणा उत्पन्न होने से शोक करते हुए। यहाँ करुण-रस का संकेत है।

(४) **क्षत्रं शोणाक्षि पश्यन्**—(परशुराम-अवतार के रूप में) क्षत्रियों को लाल-लाल आँखों से देखते हुए। रौद्र-रस की व्यंजना है।

(५) **समिति दशमुखं वीक्ष्य रोमाञ्चमञ्चन्**—(रामावतार में) दशमुख (रावण) को युद्ध में देखकर उत्साह के कारण रोमाञ्चित होते हुए—अर्थात् दशमुख-वध के लिए वीरता के कारण होने वाले स्वाभाविक उत्साह से युक्त। वीर-रस का संकेत स्पष्ट है।

(६) **हृत्वा हैयंगवीनं चकितमपसरन्**—(कृष्णावतार में) हैयंगवीन (मक्खन) को चुराकर चकित—अर्थात् यशोदा के भय से भयभीत—होकर भागते हुए। भयानक-रस का संकेत है।

(७) **म्लेच्छरक्तैर्दिगन्तान्सिञ्चन्**—म्लेच्छों के रक्त से दिशाओं को सींचते हुए—अर्थात् म्लेच्छों का वध करके उनके रक्त से दिशाओं को लाल करते हुए। बीभत्स-रस स्पष्ट है।

(८) **दन्तेन भूमिं तिलमिव तुलयन्**—(वराहावतार में) दाँत की नोक पर भूमि को तिल के समान उठाते हुए। इसमें अद्भुत-रस का संकेत है।

ग्रन्थ के विशिष्ट संदर्भ में भानुदत्त ने यह अभिव्यंजित किया है कि आठ रसों और उनके विविध उपकरणों का विवेचन उनका उद्देश्य है।

भारत्याः शास्त्रकान्तारश्रान्तायाः शैत्यकारिणी।
क्रियते भानुना भूरिरसा रसतरंगिणी॥ २॥

[भानुदत्त शास्त्ररूपी वनों में भटकने के कारण थकी हुई सरस्वती को शान्ति प्रदान करने वाली अत्यन्त रस से परिपूर्ण इस 'रसतरंगिणी' की रचना करते हैं।]

व्याख्या—शास्त्र और रसयुक्त काव्य का अंतर स्पष्ट किया गया है। शास्त्र के माध्यम से की गई ज्ञान-साधना जटिल होती है। सहृदय का चित्त उसमें नहीं रमता। वह पण्डितों और तार्किकों का विषय है। सहृदय के लिए आवश्यक है मनःप्रसादन। भानुदत्त का उद्देश्य है रसयुक्त काव्य के माध्यम से शास्त्र-ज्ञान कराना। इसीलिए उन्होंने कहा कि जिन लोगों की बुद्धि शास्त्र द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में उलझकर रह गई है और जिन्हें फिर भी विषय-बोध नहीं हुआ है उन्हें उनकी यह कृति रसयुक्त काव्य के माध्यम से विषय-बोध कराएगी। अर्थात् विषय का ज्ञान तो उन्हें होगा ही, उनका मनः-प्रसादन भी होगा।

वाणी कमलिनी भानोरेषा रसतरंगिणी।
हंसाः कृतधियस्तत्र युक्तमत्र प्रतीयताम्॥ ३॥

['रसतरंगिणी' के रूप में प्रस्फुटित भानुदत्त की यह वाणी कमलिनी के समान है और इसमें रस लेने वाले सहृदय विद्वान् ही हंस हैं। आशा है वे इसमें युक्तार्थ ही ग्रहण करेंगे।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में रूपक बाँधा गया है। 'रसतरंगिणी' के रूप में अभिव्यक्त भानुदत्त की वाणी कमलिनी के समान है और उसका रस ग्रहण करने वाले हंस विद्वान् हैं। हंस के लिए नीरक्षीरविवेकी कहा गया है। अर्थात् हंस जल और दुग्ध के मिश्रण में से केवल दुग्ध को ही ग्रहण करता है और जल का परित्याग कर देता है। भानुदत्त आशा करते हैं कि इस ग्रन्थ का अध्ययन करने वाले सहृदय विद्वान् भी ऐसे ही विवेकी होंगे।

गिरां देवि तरंगिण्यां वारय क्रूरवारणान्।
यद्भविष्यति लोकानामाविलो विमलो रसः॥ ४॥

[हे वाग्देवी! इस तरंगिणी (नदी) में उद्धत अरसिकों (हाथियों) को मत प्रवेश करने दो अन्यथा इसका विमल रस सहृदय पाठकों के लिए मलिन हो जाएगा।] इसका अर्थान्तर इस प्रकार भी करते हैं—[हे सरस्वती! इस तरंगिणी में क्रूर वारणों के प्रवेश को रोको। ऐसा करने से (अर्थात् उन्हें रोकने से) इसका मलिन रस विमल हो जाएगा।]

व्याख्या—ऐसा व्यक्ति जो अरसिक होता है काव्य के मर्म से अनभिज्ञ

होता है। फलतः वह कुतर्क आदि का आश्रय लेता है। इस प्रकार के व्यक्ति का इस क्षेत्र में कोई अधिकार नहीं। केवल रसिक जन ही काव्य के मर्म के ज्ञाता होते हैं और अपनी सहृदयता के कारण काव्यास्वाद ग्रहण करते हैं। हाथी भी नदी में स्नान करता है और व्यक्ति भी। किन्तु हाथी नदी में स्नान के उपयोग से परिचित नहीं होता। जब तक वह नदी में रहता है, कीचड़ उछालता है और बाहर निकलकर तट की धूल अपने शरीर पर लपेटता है। इस प्रकार वह अन्य स्नानार्थियों का भी अपकार करता है। ऐसे ही अरसिक जन काव्य के मर्म को नहीं जानते और कुतर्क से रसिकों को भी व्यथित करते हैं। ऐसे व्यक्ति 'रसतरंगिणी' के अध्ययन में प्रवृत्त न हों, यह प्रार्थना भानुदत्त ने की है।

हेतोः पूर्ववृत्तित्वनियमादतः पूर्वमेव तस्योपन्यासः समुचितः। रसस्य हेतवो भावादयः। तेन रसेभ्यः पूर्वं भावादय एव निरूप्यन्ते। रसानुकूलो विकारो भावः। विकारोऽन्यथाभावः।

[कार्य की अपेक्षा कारण की स्थिति पहले होती है। अतः प्रथमतः कारण को प्रस्तुत करना ही उचित है। रस के कारण भावादि होते हैं। इसलिए रसों से पूर्व भावादिकों का निरूपण किया जाता है। रस के अनुकूल विकार ही भाव कहलाते हैं। विकार से अभिप्राय है अन्यथाभाव।]

व्याख्या—भानुदत्त कह चुके हैं कि इस ग्रंथ का प्रतिपाद्य है रस-निरूपण। तो फिर भावों का निरूपण क्यों? 'रसतरंगिणी' में रस-निरूपण से पूर्व स्थायी भावों, विभावों, अनुभावों, सात्त्विक भावों और व्यभिचारी भावों का भी निरूपण हुआ है। इसी का उत्तर देते हुए कहा गया है कि किसी कारण से ही किसी कार्य की सिद्धि होती है। अर्थात् कार्य से पूर्व कारण की सत्ता है। इसीलिए पहले कारण पर विचार करना चाहिए। कारण के लिए केशवमिश्र ने 'तर्कभाषा' में कहा है—'यस्य कार्यात् पूर्वभावो नियतोऽनन्यथासिद्धश्च तत् कारणम्। यथा तन्तु-वेमादिकं पटस्य कारणम्'।—अर्थात् कारण कार्य से पूर्व रहता है और कार्य की सिद्धि से पूर्व गौण नहीं पड़ जाता। उदाहरण के लिए तन्तु एवं वेमादिक कपड़े के कारण हैं और कार्य है कपड़ा। जब तक कपड़े का निर्माण नहीं होगा, तन्तु-वेमादिक गौण नहीं पड़ेंगे। इनके बिना कपड़ा बन ही नहीं सकता। इसी प्रकार भावादि रस के कारण हैं और रस है कार्य। तो जब तक कारण को नहीं समझ लिया जाता तब तक आगे नहीं

बढ़ सकते। इसीलिए पहले भावों का विवेचन किया गया। भाव के लिए कहा गया है कि वह रस के अनुकूल विकार है। अनुकूल इसलिए कहा गया है क्योंकि मुख्य है रस की सिद्धि। कारण की प्रकृति के अनुरूप कार्य निष्पन्न होता है। इसीलिए भावों को रसानुकूल विकार कहा है। अन्यथा भाव का तात्पर्य है भाव का ही परिवर्तित रूप। अर्थात् जिसकी पहले अप्रतीति हो उसी की प्रतीति होना विकार या अन्यथा भाव है।

विकारश्च द्विविधः। आन्तरः शारीरश्च। आन्तरोऽपि द्विविधः। स्थायिभावोव्यभिचारिभावश्चेति। शारीरस्तु सात्त्विकभावादिः। यत्तु मनोविकारो भावः। तथा च देहविकारे स्वेदादौ भावपदप्रयोगो गौण इति। तन्न। तुल्यवदुभयत्र भावपदप्रयोगेण विनिगन्तुमशक्यत्वात्। लक्षणाऽनुरोधेन लक्ष्याऽव्यवस्थितेः।

[विकार (भाव) दो प्रकार का है। आन्तरिक तथा शारीरिक (बाह्य)। आन्तरिक भाव भी दो प्रकार का है। स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव। शारीर (बाह्य) सात्त्विक भाव आदि हैं। जो (कुछ) विद्वान् ऐसा कहते हैं कि मनोविकार ही भाव है और शारीरिक विकार स्वेद आदि में भाव पद का प्रयोग गौण है, यह ठीक नहीं है। (क्योंकि) दोनों ही के लिए समान रूप से भाव पद का प्रयोग हुआ है इसलिए केवल एक को ही भाव कहना सम्भव नहीं है। लक्षण के अनुरोध से लक्ष्य की व्यवस्था नहीं होती है।]

व्याख्या—भावों का स्पष्टीकरण करने के उपरान्त इनकी सिद्धि पर विचार किया गया है। यह दो प्रकार से होती है—अन्तर से और शरीर से। आन्तरिक भावों में स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव आते हैं इसलिए आन्तरिक भाव दो प्रकार के कहे गए। सात्त्विक भाव शारीर हैं क्योंकि इनकी सिद्धि देह से ही संभव है। कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि भाव केवल वे हैं जो आन्तर हैं क्योंकि उनका मन से संबंध है। इसलिए उन्हें मनोविकार भी कहा जाता है। स्वेद आदि सात्त्विक भावों का मन से कोई संबंध नहीं है क्योंकि वे देह से उत्पन्न होते हैं। भानुदत्त ने इसका प्रतिवाद किया है। उनका मत है कि भाव पद का प्रयोग दोनों ही के लिए समान रूप से हुआ है। 'लक्षण के अनुरोध से लक्ष्य की व्यवस्था नहीं होती' कहने से उनका यह तात्पर्य है कि लक्षण में 'विकार' शब्द मन और शरीर दोनों के साथ संबद्ध है, इसलिए शारीरिक सात्त्विक भाव भी भाव ही माने जाएँगे। भरत ने भी सात्त्विक भावों को मन से संयुक्त करते हुए कहा है कि सत्त्व मनःप्रभव है और उसकी उत्पत्ति

समाहित मन से ही संभव है—'अत्रोच्यते इह सत्त्वं नाम मनःप्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वाद् उत्पद्यते। मनःसमाधानाच्च सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति'। (नाटयशास्त्र, भाग १, सं. मनोमोहन घोष, १९६७, पृष्ठ ११०)

इतरभावस्यात्मभावत्वोपनायकत्वे सति सजातीयविजातीयभावानभिभाव्यः प्रथमः। पराऽनभिभाव्यो मनोविकारो वा सकलप्रधानो विकारो वा स्थायिभावः। न चान्यभावेऽतिव्याप्तिः। तस्येतरभावस्यात्मभावत्वोपनायकत्वाभावात्।

[अन्य भावों का आत्मभाव के उपनायकत्व-रूप होने पर सजातीय-विजातीय (अनुकूल-प्रतिकूल) भावों से जिसका अभिभव नहीं हो सकता वह स्थायी भाव है। अथवा अन्य भावों से अभिभूत न होने वाला मनोविकार स्थायी भाव है; अथवा मनोविकारों में सबसे प्रधान भाव ही स्थायी भाव है। इस परिभाषा से अन्य भावों में अतिव्याप्ति न होगी क्योंकि उनमें अन्य भावों को अपना उपनायकत्व बनाने की शक्ति नहीं होती।]

व्याख्या—यहाँ तात्पर्य यह है कि अन्य भाव जिसके स्वरूप का प्रकाश करने में सहायक होते हैं और अनुकूल तथा प्रतिकूल भाव जिसे अभिभूत नहीं कर सकते वह स्थायी भाव है। वास्तव में स्थायी भाव की स्थिति भावों में सर्वोपरि मानी गई है। व्यभिचारी भाव जहाँ संचरणशील होते हैं वहाँ स्थायी भाव अडिग रहते हैं। एक व्यभिचारी भाव दो स्थायी भावों के क्षेत्र में आ सकता है किन्तु दो रसों का एक ही स्थायी भाव नहीं हो सकता। इसे ऐसे भी कहें कि स्थायी भाव व्यभिचारी भावों को अभिभूत कर सकते हैं किन्तु व्यभिचारी भाव स्थायी भाव को नहीं कर सकते। यही इनके प्रधान होने का रहस्य है। यह विचार भारतीय काव्यशास्त्र में सुस्पष्ट है। भरत ने अपने 'नाट्यशास्त्र' में उदाहरण से भी इस बात को समझाया है—'यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः। एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह' (७।८)। अर्थात् जैसे मनुष्यों में राजा और शिष्यों में गुरु महान् होता है वैसे ही सभी भावों में स्थायी भाव प्रधान होते हैं। स्थायी भावों के अतिरिक्त अन्य भावों में ऐसी शक्ति नहीं होती कि वे इतर भावों को अभिभूत कर स्वयं प्रधान हो जाएँ। इसीलिए भानुदत्त ने यह स्पष्ट कर दिया कि यह जो परिभाषा दी गई है उससे अतिव्याप्ति सिद्ध नहीं होती। स्पष्ट ही अपने मत को भानुदत्त ने दो प्रकार से प्रतिपादित किया है और सभी भावों में स्थायी भावों के समक्ष उनका गौणत्व सिद्ध किया है।

चरमसमयपर्यन्तस्थायित्वादस्य स्थायित्वव्यपदेशः ।

[सूक्ष्मतम काल-पर्यन्त (अर्थात् रससमय-पर्यन्त) स्थायी होने से इन्हें स्थायी भाव कहा जाता है ।]

व्याख्या—इस संदर्भ में चरम समय का अर्थ है स्थायी भाव का सूक्ष्मतम अवस्था-काल । भाव यह है कि रस-निष्पत्ति के समय तक इनकी स्थिति बनी रहती है । इस कथन में स्थायी भावों की पुष्टि की ओर संकेत किया गया है क्योंकि ये पुष्ट होकर ही रस-रूप में परिणत होते हैं । इस समस्त प्रक्रिया का जो अंतिम सूक्ष्मतम अंश है और जिसके पश्चात् रस निष्पन्न ही हो जाता है वही चरम समय है । चरम का अर्थ नाश-क्षण से नहीं है क्योंकि इनकी तो पुष्टि ही आवश्यक है । नष्ट ये होते नहीं हैं । ऐसा हो तो रसोपलब्धि किस प्रकार संभव हो सकेगी ? ये तो पुष्ट होते हुए रस-रूप में परिणत होते हैं ।

स चाष्टधा । तत्र भरतः—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः ।। ५ ।।

[वह (स्थायी भाव) आठ प्रकार का है । भरत के अनुसार—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये स्थायी भाव कहे गए हैं ।]

व्याख्या—काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में सर्वप्रथम भरत ने अपने ग्रंथ 'नाट्य-शास्त्र' में रस और उसके विविध उपकरणों का उल्लेख किया है । भानुदत्त ने इस विशिष्ट संदर्भ में भरत के 'नाट्यशास्त्र' में प्राप्य इस श्लोक को ही उद्धृत कर दिया है । भानुदत्त पहले ही सभी भावों में स्थायी भावों को प्रधान कह चुके हैं । इसीलिए उन्होंने सर्वप्रथम इन्हीं का विवेचन किया । रस के कारण भावादि हैं, इसलिए पहले भाव लिए गए और भावों में प्रधान है स्थायी भाव, इसलिए पहले इन्हें लिया गया । रति, हास, शोक आदि आठ स्थायी भाव हैं ।

तत्रेष्टवस्तुसमीहाजनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा रतिः । सा च क्वचिद्दर्शनेन, क्वचिच्छ्रवणेन, क्वचित्स्मरणेन । यथा—

[प्रिय वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा से उत्पन्न मन की भावना जो रसत्व को अभी प्राप्त नहीं हुई है रति कहलाती है । और वह कहीं देखने, कहीं सुनने तथा कहीं स्मरण करने से होती है । जैसे—]

व्याख्या—यहाँ क्रम से स्थायी भावों के लक्षण प्रस्तुत किए जा रहे हैं ।

पहले रति को लेते हैं। इष्ट वस्तु का अर्थ है वह वस्तु जो मन के अनुकूल हो अथवा यों कहें कि मन जिसकी इच्छा करे। तो मन के अनुकूल जो वस्तु है उस को प्राप्त करने की इच्छा से उत्पन्न जो मन की भावना है वह अपूर्ण है। यही रति है। प्रश्न उठता है कि अपूर्ण क्यों कहा ? अपूर्ण शब्द को दो अर्थों में विचारेंगे। पहले तो यह कि अपूर्ण का अर्थ पुष्टि के अभाव से सम्बद्ध नहीं है क्योंकि किसी भी स्थायी भाव की पुष्टि ही अपेक्षित है। यह पहले भी कह चुके हैं कि पुष्टि नहीं तो रस कैसा ? अब दूसरी तरह से सोचें। क्या अपूर्ण का अर्थ रसहीनता हो सकता है ? नहीं। इसका कारण यह है कि रसत्व-प्राप्ति तो उद्देश्य ही है। वास्तव में अपूर्ण का अर्थ है पुष्टि की परिणति का अभाव। इस अभाव तक ही स्थायी भाव स्थायी भाव कहलाता है। अभाव दूर होते ही रस की प्राप्ति हो जाती है। स्थायी भाव का क्षेत्र निर्धारित करने के लिए ही ऐसा कहा गया है। अब इस संबंध में विचार करते हैं कि रति कैसे उत्पन्न होती है ? आलंबन के सौन्दर्य का दर्शन करने, उस सौन्दर्य का श्रवण करने अथवा उसका स्मरण करने से रति उत्पन्न होती है। वह रति जो सौन्दर्य के दर्शन अथवा श्रवण से उत्पन्न होती है पुष्ट होकर संयोग-शृंगार में परिणत होती है और स्मरण से उत्पन्न रति वियोग-शृंगार में। आगे रति का उदाहरण देते हैं।

चक्षुर्यस्य कृषीवलो निगदितं पीयूषपाथोधरो
भ्रू संज्ञा परिचारिका समजनि स्फीतं स्मितं दोहदम्।
सन्तापं तरुणार्ककर्कशरुचिं निःश्वासवाताहतिं
कस्मादेष सहिष्यते स च सखि प्रेमद्रुमः कोमलः ॥ ६ ॥

अत्र कोमलपदादपूर्णता।

[जिसकी आँखें कृषक, वाणी अमृत का मेघ, भ्रू-विलास सेविका और गूढ़ मुस्कराहट ही दोहद (गर्भ) है; वह कोमल प्रेम का वृक्ष मध्याह्न के प्रखर सूर्य के सन्ताप तथा तीव्र वायु के झोंकों को कैसे सहन कर सकता है ? यहाँ 'कोमल' पद के कारण अपूर्णता है।]

व्याख्या—यह कथन नायिका की सखी द्वारा नायक के प्रति किया गया है। नायिका तरुणी है और उसके हृदय में प्रेम का अंकुर उत्पन्न हो गया है। नायक से अभी उसका समागम नहीं हुआ है, इसलिए वह कोमलाङ्गी नायिका कामज्वर से पीड़ित होकर निःश्वासों के माध्यम से अपना विरह अभिव्यक्त कर

रही है। सूर्य के सन्ताप से वियोग-पीड़ा (कामज्वर) तथा वायु के झोंकों से विरह-निःश्वासों की अभिव्यक्ति यहाँ इष्ट है। ऐसा वृक्ष जो अभी पूर्णरूपेण पनप नहीं पाया है जैसे सूर्य के तीक्ष्ण ताप और प्रबल वायु के थपेड़ों को सहने में असमर्थ होता है वैसे ही तरुणी नायिका जिसके हृदय में प्रेम का अंकुर उदित ही हुआ है कैसे विरह की अग्नि और तज्जनित निःश्वासों को सहन कर सकती है। यहाँ मुख्य रूप से विवेच्य है 'कोमल' पद। कोमल वृक्ष ताप और प्रबल वायु-वेग को नहीं सह सकता। इसी प्रकार प्रेम का कोमल वृक्ष अर्थात् प्रेमांकुर-भी विरह नहीं सहन कर सकता। प्रतिकूल दशा में जैसे वृक्ष नष्ट हो सकता है वैसे ही नायिका भी वियोग की अंतिम दशा को प्राप्त हो सकती है। तात्पर्य यह है कि अभी तो प्रेम की प्रारम्भिक अवस्था ही है। इसीलिए 'कोमल' पद के कारण पूर्ण (शृंगार) रस की अभिव्यक्ति न होकर उसकी अपूर्णता—अर्थात् (रति) स्थायी भाव है।

कुतूहलकृतवचनवेषवैसादृश्यकृतो मनोविकारः परिमितो हासः। वचनभेदवेषभेदकृतेभयक्रोधे नातिव्याप्तिः। तत्र कुतूहलकृतत्वाभावात्। यथा तातचरणानाम्—

[कुतूहल के उद्देश्य से किए गए वचन और वेष के वैचित्र्य से उत्पन्न परिमित मनोविकार ही हास (स्थायी भाव) है। (प्रस्तुत लक्षण में) वचन और वेष-वैचित्र्य के कारण भय और क्रोध (स्थायी भावों) में अतिव्याप्ति नहीं होगी। (क्योंकि) उनमें कुतूहल नहीं होता। उदाहरणार्थ पूज्य पितृ-चरणों की रचना—]

व्याख्या—वचन और वेष के वैचित्र्य से उत्पन्न अपूर्ण मनोविकार हास भी हो सकता है, भय भी और क्रोध भी। यह अतिव्याप्ति है। इसका कारण यह है कि तीनों के मूल में वचन और वेष का वैचित्र्य वर्तमान है। इस दोष का निवारण करने के लिए ही भानुदत्त ने कहा कि जहाँ कुतूहल ही उद्देश्य होगा वहाँ हास ही होगा और अतिव्याप्ति-दोष समाप्त हो जाएगा। भय और क्रोध के मूल में कुतूहल नहीं होता। हास स्थायी भाव भी तभी होगा जब उत्पन्न मनोविकार परिमित अर्थात् रस-कोटि को अप्राप्त होगा। हास का उदाहरण भानुदत्त ने अपने पिता की रचना से दिया है।

आगच्छन्नगरोपकण्ठमिलितैरावेष्टितो बालकैः
शुद्धान्ते परिचारिकाभिरचिरं सोल्लासमावेदितः।

साकूतं सकुतूहलं बलिवधूवृन्दे पुरो दापय—
त्यन्नं किञ्चिदुदञ्चितस्मितलवः पायात्स वो वामनः ॥ ७ ॥

लवपदादपूर्णता ।

[जिसको आते ही नगर की सीमा पर मिलने वाले बालकों ने (उत्सुकता-वश) घेर लिया था और शीघ्र ही परिचारिकाओं ने बड़े उल्लास से जिसकी सूचना अन्तःपुर में दी थी तथा राजा बलि की वधुओं के सामने जिसे दासियां अन्न (भोजन) दे रही हैं इसी कारण साभिप्राय एवं कुतूहलपूर्वक कुछ मन्द-मन्द मुस्कारते हुए वह वामन तुम्हारी रक्षा करे। (यहाँ) लव शब्द के कारण अपूर्णता है ।]

व्याख्या—यह किसी व्यक्ति द्वारा किसी को आशीर्वाद दिए जाने का प्रसंग है। हास के संदर्भ में भानुदत्त ने पहले कहा है कि कुतूहल के उद्देश्य से किए गए वचन और वेष के वैचित्र्य से उत्पन्न परिमित मनोविकार ही हास स्थायी भाव है। वामनावतार के रूप में विष्णु का यह जो वर्णन किया गया है उससे उनका कुतूहल के उद्देश्य से किया गया वेष-वैचित्र्य स्पष्ट है। 'लव' शब्द का अर्थ ही अल्प है जिसके द्वारा सूचित किया गया है कि वामनावतार-रूप में विष्णु मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं। इसीलिए यह मनोविकार पूर्ण नहीं है। साथ ही कुतूहल उद्देश्य है। अतः स्पष्ट है कि हास स्थायी भाव तक सीमित है, पूर्ण रस की स्थिति को अभी प्राप्त नहीं हुआ है। यदि मनोविकार परिमित न होता तो हास स्थायी भाव पुष्टत्व को प्राप्त करता हुआ अपने क्षेत्र का अतिक्रमण करता और हास्य-रस के रूप में परिणत हो जाता। किन्तु ऐसा है नहीं।

इष्टविश्लेषजनितो रत्यनालिंगितः परिमितो मनोविकारः शोकः। न चेष्टविश्लेषजनितविप्रलम्भश्रृङ्गारस्य करुणरसत्वापत्तिः। तस्य रत्यालिङ्गितत्वात्। न च रतिः प्रीतिः तया विना शोकोपि नोत्पद्यते इति तथा्चासम्भव इति वाच्यम्, इष्टसमीहाजनितमनोविकृतेरेवर-तेरुक्तत्वात्। कुमारसम्भवे रत्याः, कादम्बर्य्यां महाश्वेतायाः, रघु-काव्येऽजस्य प्रलापे करुण एव रसः। तत्रतत्र बाधनिश्चयादिष्टवस्तु-समीहाया अभावात्। यत्र च मृते जीविताशा तत्र श्रृङ्गार एव रसः, बाधसंदेहस्य ग्राह्यसंदेहपर्यवसिततया समीहाया अप्रतिबंधकत्वात्। तथा च यूनोरेकतरस्मिन् मृते प्रलापः करुणरसः, जीवतोर्विश्लिष्टयोः प्रलापः श्रृङ्गारः। अत एव रसरत्नदीपिकायां करुणरसोदाहरणम्—

[प्रियजन के वियोग से उपन्न, रतिभाव से रहित परिमित मनोविकार ही शोक (नामक स्थायीभाव) है । प्रियजन के वियोग के कारण यहाँ वियोग-शृङ्गार में लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं होगी क्योंकि वियोग-शृङ्गार में रति-भाव विद्यमान रहता है । (दूसरी शंका उठाते हैं कि) रति भी प्रीति को ही कहते हैं । उसके बिना शोक भी उत्पन्न नहीं होगा । इसलिए यह लक्षण असम्भव है । (इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि) रति वहीं होती है जहाँ प्रियजन से भविष्य में इष्ट-साधन की आशा होती है । (इसी-लिए) 'कुमारसम्भव' में रति, 'कादम्बरी' में महाश्वेता का और 'रघुवंश' में अज के विलाप में करुण-रस ही है । (क्योंकि) उक्त प्रसंगों में बाध (जीवना-भाव) का निश्चय होने से भावी इष्ट-साधन की आशा का नितान्त अभाव है । जहाँ मृतप्राय व्यक्ति में जीवन की (धूमिल) आशा (भी) होगी वहाँ शृङ्गार-रस ही होगा क्योंकि जीवन-सन्देह की स्थिति में भावी इष्ट-साधन की भावना या इच्छा की समाप्ति नहीं हो जाती । इस तरह युवक-युवती में एक की मृत्यु होने की स्थिति में किए गए प्रलाप में करुण-रस होगा और जीवित स्थिति में वियोग होने पर किए गए प्रलाप में शृङ्गार-रस होगा । इसीलिए 'रसरत्नदीपिका' में (यह) करुण-रस का उदाहरण—]

व्याख्या—शृङ्गार-रस के दो स्पष्ट भेद हैं—संयोग-शृङ्गार और वियोग शृङ्गार । इनमें शृङ्गार शब्द विवेच्य है । शृङ्गार-रस का स्थायी भाव है रति । अतः रति भी दोनों ही पक्षों में विद्यमान है । शोक एक पृथक् स्थायी भाव है जिसका सीधा संबंध करुण-रस से है । इसीलिए प्रियजन के वियोग में जहाँ रति-भाव विद्यमान नहीं है वहीं शोक स्थायी भाव होगा । विद्यमान होने की स्थिति में तो इस पक्ष में वियोग-शृङ्गार ही होगा । इसीलिए इस लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष नहीं है । यह तो तब होता जब यह कहते कि प्रियजन के वियोग से उत्पन्न परिमित मनोविकार ही शोक स्थायी भाव है क्योंकि प्रियजन का वियोग शृङ्गार में भी होता है और करुण में भी । इसी कारण से इस परिमित मनोविकार को रति-भाव से रहित कहा गया है । फिर यह शंका उठाई गई है कि रति और प्रीति तो एक ही हैं और शोक तो उसी व्यक्ति के लिए होगा जिससे किसी प्रकार की रति रही होगी । अतः यहाँ रति शोक में समाविष्ट है और यह लक्षण असिद्ध हो जाता है । इसका उत्तर देते हुए बताया गया है कि रति तो जीवित में ही होती है, मृत में नहीं । और शोक क्योंकि मृत के लिए ही होता है अतः रति तो वहाँ विनष्ट हो ही गई । प्रियजन

से भविष्य में इष्ट-साधन की आशा उसके जीवित रहते ही की जा सकती है और तब तक रति भी रहती ही है। उसके मृत होते ही रति भी समाप्त हो जाती है और भविष्य में इष्ट-साधन की आशा भी नहीं रहती। यही शोक है। अतः मानना यह चाहिए कि जब तक प्रियजन के जीवन की आशा भी है तब तक रति भी है और इसीलिए तब तक वियोग-शृङ्गार भी है अथवा यों कहें कि तब तक शोक भी नहीं होता और इसीलिए करुण-रस भी नहीं होता क्योंकि जीवन में सन्देह का अर्थ मृत्यु तो नहीं है। इसी को स्पष्ट करने के लिए भानुदत्त ने 'कुमारसम्भव', 'कादम्बरी' और 'रघुवंश' से दृष्टान्त दिए हैं। ये आख्यान प्रसिद्ध हैं ही। ये सब प्रमाण जुटाने के उपरान्त ही भानुदत्त ने यह कहा कि प्रेमी-प्रेमिका में एक की मृत्यु होने की स्थिति में किए गए प्रलाप में करुण-रस होगा जिसे स्थायी भाव के संदर्भ में इस प्रकार कहा गया है कि प्रियजन के वियोग से उत्पन्न रति-भाव से रहित परिमित मनोविकार ही शोक है। भरत ने भी शोक के लिए इष्टजन-वियोग स्वीकार किया है—'शोको नाम इष्टजनवियोगविभवनाशवधबन्धदुःखानुभवनादिभिर्विभावैरुत्पद्यते' (७/१० से आगे का गद्य)। किन्तु भानुदत्त के अनुसार इस लक्षण में अतिव्याप्ति दोष हो सकता है क्योंकि इष्टजन-वियोग में रति के अभाव का संदर्भ यहाँ नहीं दिया गया है। हाँ, दशरूपककार धनञ्जय ने अवश्य ही यह कहा है कि जहाँ एक के मृत होने पर दूसरा प्रलाप करे वह शोक है—'मृते त्वेकत्र यत्रान्यः प्रलपेच्छोक एव सः' (दशरूपक, ४/६६)। भानुदत्त का मत यही है। इसे स्पष्ट करने के लिए भानुदत्त ने 'रसरत्नदीपिका' से यह उदाहरण प्रस्तुत किया है—

अयि जीवितनाथ जीवसीत्यभिधायोत्थितया तया पुरः।
ददृशे पुरुषाकृतिः क्षितौ हरकोपानलभस्म केवलम् ॥ ८ ॥

['हे जीवननाथ ! जीवित हो !' यह कहकर उठी हुई रति ने सामने पृथ्वी में पुरुष की आकृति के रूप में केवल शिव के कोपानल से हुई भस्ममात्र को ही देखा।]

व्याख्या—प्रसंग का आवश्यक संकेत यह है कि शिव ने कामदेव को भस्म कर दिया था। कामदेव की स्त्री का नाम था रति। इस संबंध में उसके द्वारा किया गया विलाप रति-विलाप के नाम से प्रसिद्ध है जिसका संकेत स्वयं भानुदत्त ने भी पहले किया है। इस उदाहरण से भी स्पष्ट है कि जीवन-सन्देह की स्थिति में करुण-रस नहीं होता। यदि ऐसा होता तो उक्त श्लोक की

प्रथम पंक्ति ही उदाहरण के लिए पर्याप्त थी जहाँ रति 'हे जीवननाथ ! जीवित हो !' इस सन्देह से युक्त है। परन्तु करुण-रस के लिए जीवन के अभाव का निश्चय होना आवश्यक है। इसीलिए दूसरी पंक्ति में भस्ममात्र का वर्णन है। तभी करुण की स्थिति होगी। सन्देह की स्थिति में तो वियोग-शृङ्गार ही होगा।

ननु विप्रलम्भस्य पूर्वानुरागमानप्रवासकरुणात्मकत्वाज्जीवतोरपि विप्रलम्भस्य करुणरसत्वमायातमिति चेत्। सत्यम्, तत्र करुणारसस्याङ्गत्वेन भासमानत्वात्तत्र करुणात्मकव्यपदेशः। यथा—

[(इस विषय में एक और शंका होती है कि) विप्रलम्भ की चार स्थितियाँ मानी गई हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण। इसलिए जीवित को भी विप्रलम्भ की स्थिति में करुण-रस होगा। (इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि) सत्य है, परन्तु ऐसी स्थिति में करुण-रस अंग होकर आएगा। प्रमुख तो विप्रलम्भ-शृङ्गार ही होगा। जैसे—]

व्याख्या—विप्रलम्भ-शृंगार के चार भेद हैं—पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण। पूर्वानुराग का अभिप्राय है रूप-सौन्दर्य आदि के श्रवण अथवा दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक-नायिका की उस दशा का जो कि उनके समागम के पहले की दशा हुआ करती है। मान का अभिप्राय है प्रणय-कोप। कार्यवश, शापवश अथवा संभ्रमवश नायक के देशान्तरगमन को प्रवास कहा गया है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के मत में करुण-विप्रलम्भ वह शृंगार-प्रकार है जिसे प्रेमी और प्रेमिका में से किसी एक के दिवंगत हो जाने, किन्तु पुनरुज्जीवित हो सकने की अवस्था में, जीवित बचे दूसरे के हृदय के शोक-संवलित रति-भाव का अभिव्यञ्जन कहा गया है। इसके संदर्भ में भानुदत्त का यह मत है कि यहाँ करुण-रस अंगी नहीं, अंग होकर आएगा। वास्तविक रस शृंगार ही रहेगा। एक उदाहरण देते हैं—

विरहज्वरमूर्च्छया पतन्तीं नयनेनाश्रुजलेन सिच्यमानाम्।
समवेक्ष्य रतिं विनिःश्वसन्तीं करुणा कुड्मलिता बभूव शम्भोः॥ ६॥
कुड्मलितेत्यपूर्णता।

[विरह-ज्वर की मूर्च्छा से गिरती हुई तथा नयनों के अश्रुजल से सिञ्चित, निःश्वास लेती हुई रति को देखकर शिव के हृदय में करुणा अंकुरित हुई। (यहाँ) कुड्मलिता (इस शब्द) से अपूर्णता (द्योतित) है।]

व्याख्या—शिव के द्वारा कामदहन कर दिए जाने पर रति अपने पति के मृत शरीर को देखकर विलाप कर उठी। यहाँ शोक का उदाहरण दिया गया

है। नायक-नायिका में एक के गतदेह होने पर दूसरे द्वारा किया गया प्रलाप शोक है—यह भानुदत्त विवेचित कर चुके हैं। इसी का उन्होंने यह उदाहरण प्रस्तुत किया है। यहाँ रति को काम के विषय में जीवनाशा नहीं है। यदि जीवनाशा होती तो यह विप्रलम्भ-श्रृंगार का क्षेत्र होता। जीवनाशा न होने से यह करुण-रस का क्षेत्र है जिसमें 'कुड्मलिता' शब्द से करुणा की परिमितता स्पष्ट कर शोक स्थायी भाव की सिद्धि की गई है।

अवज्ञादिकृतः प्रमोदप्रतिकूलः परिमितो मनोविकारः क्रोधः। प्रमोदप्रतिकूलेतिविशेषणाद्दशमुखदुर्वचनावमानितस्य रामस्य वीररसे नातिव्याप्तिः। यथा परशुरामवाक्यम्—

[अपमान आदि से उत्पन्न प्रमोद-विरोधी मन का सीमित भाव ही क्रोध है। 'प्रमोदप्रतिकूलता'—इस विशेषण के कारण, (उपर्युक्त लक्षण में) अतिव्याप्ति-दोष न होगा। अन्यथा रावण के दुष्ट वचनों से अपमानित राम में भी वीर के स्थान पर रौद्र होता किन्तु राम के मन में उत्साह प्रमुख है जो प्रमोद का विरोधी नहीं है। अतः वहाँ वीर-रस है। क्रोध का परशु-रामवाक्य से उदाहरण—]

व्याख्या—क्रोध अपमान आदि से उत्पन्न होता है किन्तु यह आवश्यक है कि वह प्रमोद के प्रतिकूल हो। यदि प्रमोदप्रतिकूलता उसमें नहीं हुई तो अतिव्याप्ति-दोष हो सकता है क्योंकि राम भी रावण के दुष्ट वचनों से अप-मानित हैं किन्तु वहाँ प्रमोद-प्रतिकूल होने का भाव नहीं है। अर्थात् राम के मन में क्रोध नहीं, उत्साह का वर्द्धन हो रहा है जो वीर-रस में परिणत होता है। यदि प्रमोदप्रतिकूलता होती तो क्रोध की वृद्धि होती और वहाँ रौद्र-रस होता। इसीलिए क्रोध स्थायी भाव के लिए आवश्यक है प्रमोदप्रतिकूलता का होना क्योंकि इसी से क्रोध के इस लक्षण की उत्साह में व्याप्ति असंभव है। यहाँ क्रोध का उदाहरण परशुरामवाक्य से दिया जा रहा है।

नाद्यारभ्य करोमि कार्मुकलताविन्यस्तहस्ताम्बुजः
किञ्चित्पाटलभासि लोचनयुगे तावन्निमेषोदयान्।
यावत्सायककोटिपाटितरिपुक्ष्मापालमौलिस्खलन्-
मल्लीमाल्यपतत्परागपटलैर्नामोदिनी मेदिनी ॥ १० ॥

किञ्चित्पाटलत्वादपूर्णता।

[कार्मुकलता से युक्त हस्ताम्बुज वाला (अर्थात् हाथ में धनुष को धारण

करने वाला) मैं आज से लेकर तब तक अपने किञ्चित् रक्तवर्ण नेत्रों के पलक नहीं झपकने दूँगा जब तक कि बाण की नोक से विनष्ट शत्रु नृपों के सिर से स्खलित होती हुई मल्लिका की माला के पराग से पृथ्वी सुगन्धित नहीं हो जाती। (यहाँ) किञ्चित्पाटल शब्द से अपूर्णता है।]

व्याख्या—यह क्रोध का उदाहरण है। क्षत्रियों के विनाश के लिए कृत-संकल्प परशुराम प्रतिज्ञा करते हैं। परशुराम कैसे हैं, यह कहा गया है कि हस्त-रूपी कमल में धनुष-रूपी लता लिपटी हुई है जिनके; वे परशुराम ऐसे हैं। उनके नेत्र किञ्चित् रक्तवर्ण हैं—इसलिए वचन और वेष से क्रोध की व्यञ्जना हो रही है। 'किञ्चित्पाटल' में किञ्चित् शब्द ही स्थायी भाव की सीमा का निर्धारण कर रहा है। इसी के कारण अपूर्णता—अर्थात् स्थायी भाव का सद्भाव सिद्ध है क्योंकि परिपाक रसत्व को अप्राप्त है। इसीलिए रौद्र-रस न होकर उसका स्थायी भाव क्रोध ही यहाँ है।

शौर्यदानदयान्यतमकृतः परिमितो मनोविकार उत्साहः। वीरस्तु युद्धवीर-दानवीर-दयावीरभेदात् त्रिधा। युद्धवीरस्योत्साहो यथा—

[शौर्य, दान, दया—इनमें किसी से भी उत्पन्न मन का सीमित भाव उत्साह कहलाता है। वीर-रस तो युद्धवीर, दानवीर, दयावीर भेद से तीन प्रकार का है। पहले युद्धवीर का उत्साह—]

व्याख्या—शौर्य से उत्पन्न मन के सीमित भाव से, जिसे उत्साह कहा जाता है, वीर-रस के त्रिविध भेदों में युद्धवीर, दान से दानवीर और दया से दयावीर की निष्पत्ति क्रमशः होती है। स्थायी भाव एक ही है और वह है उत्साह किन्तु उसके उपर्युक्त त्रिविध स्तर हैं और उन्हीं के अनुरूप वीर-रस के त्रिविध भेदों की सृष्टि की जाती है। भरत ने भी वीर-रस के तीन भेद किए थे—दानवीर, धर्मवीर और युद्धवीर। स्पष्ट ही उन्होंने दयावीर का परिगणन नहीं किया है। हेमाद्रि ने 'भागवतमुक्ताफलटीका' में दयावीर का विवेचन किया है। अब यह स्पष्ट है कि भानुदत्त ने भरत के धर्मवीर को छोड़ दिया है। वास्तव में इन्होंने इन भेदों का ग्रहण 'दशरूपक' से ग्रहण किया है। धनञ्जय के अनुसार—'उत्साहभूः स च दयारणदानयोगात्त्रेधा…' (४/७२)। धनिक की व्याख्या के अनुसार युद्धवीर राम हैं, दानवीर परशुराम हैं और दयावीर जीमूतवाहन हैं। भानुदत्त ने इस व्यवस्था में एक ही परिवर्तन किया है और वह यह कि दयावीर विष्णु को बताया है। शेष वैसे ही है। यह आगे स्पष्ट होगा। अब युद्धवीर के उत्साह का उदाहरण देते हैं।

सेनां संघटयन्द्युतिं द्विगुणयंश्चापं चमत्कारयन्
नेत्रस्याभिमुखो भविष्यति जगद्विद्रावणो रावणः।
इत्युत्साहविचारमूढहृदयो देवो रघूणां पति–
र्ज्याविन्यासविधिं विनैव विशिखं बाणासने न्यस्तवान् ॥ ११ ॥

अत्र विचारादपूर्णता।

[जब रघुपति राम ने विचार किया कि जगत् को पीड़ित करने वाला रावण अपनी सेना को संगठित करता हुआ, उत्साह को दूना बढ़ाता हुआ और धनुष को चढ़ाकर मेरे नेत्रों के सामने होगा तो विचारमूढ़ हृदय से व्यग्रता के कारण राम ने बिना प्रत्यञ्चा चढ़ाए ही धनुष पर बाण का संधान कर दिया। यहाँ विचार पद से अपूर्णता है।]

व्याख्या—राम के पक्ष में केवल विचारमात्र होने से अथवा यों कहें कि बाण का प्रहार न होने से अभी स्थायी भाव उत्साह ही है। यदि समुपस्थित रावण पर राम प्रत्यञ्चा चढ़ाए हुए धनुष से बाण का संधान करते तो वीर-रस होता। यद्यपि आलंबन रावण है और राम आश्रय हैं किन्तु आलंबन आश्रय के समक्ष समुपस्थित नहीं है। इसीलिए आश्रय राम में उत्साह की सूचना दी गई है। आलंबन के समक्ष आते ही राम में जो उत्साह है वह वीर-रस में परिणत हो जाएगा।

दानवीरस्योत्साहो यथा—

आदर्शाय शशांकमण्डलमिदं हर्म्याय हेमाचलं
दीपाय द्युमणिं महीमिव कथं नो भिक्षवे दत्तवान्।
दित्सापल्लवितप्रमोदसलिलव्याकीर्णनेत्राम्बुजो
जानीमो भृगुनन्दनस्तदखिलं न प्रायशो दृष्टवान् ॥ १२ ॥

पल्लवितं न तु फलितमित्यस्याऽपूर्णता।

[दानवीर के उत्साह का उदाहरण—भृगुनन्दन ने जिस तरह पृथ्वी दान की उसी तरह दर्पण के लिए चन्द्रमा, गृह के लिए हिमाचल और दीपक के लिए सूर्य को भी दान क्यों नहीं कर दिया? इसका कारण यह था कि दान करने की तीव्र इच्छा के उल्लास और रोमाञ्च के कारण उनके नयन-कमल आनन्दाश्रुओं से पूरित हो गए थे जिससे वे इन वस्तुओं को देख नहीं पाए। (प्रस्तुत उदाहरण में) 'पल्लवित' अपूर्णावस्था (का द्योतक होने से स्थायी भाव) है क्योंकि पूर्णावस्था 'फलित' में ही हो सकती है।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में भृगुनन्दन (परशुराम) के दान की महिमा का वर्णन है। भाव यह है कि भृगुनन्दन ने पृथ्वी का दान किया और तज्जनित सुख से उनके नेत्रों में अश्रु भर आए। फलतः वे चन्द्रमा, हिमाचल और सूर्य को स्पष्टतः नहीं देख पाए। अर्थात् यदि उनके नेत्रों में आनन्दाश्रु न आ जाते तो वे इन वस्तुओं को स्पष्ट देख पाते और इन्हें भी दान कर देते। 'पल्लवित' शब्द ही यहाँ उत्साह स्थायी भाव का सूचक है। 'फलित' का प्रयोग होने पर तो स्पष्ट ही दानवीर का रस-संबंधी क्षेत्र आ जाता।

दयावीरस्योत्साहो यथा—

दुस्तारसंसारपयोधिपारप्रकारमालोचयतो जनानाम्।
समुत्थितो वक्षसि कैटभारेः कृपांकुरः कौस्तुभकैतवेन ॥१३॥

अंकुरोपन्यासादपूर्णता।

[(अब) दयावीर का उत्साह (वर्णन करते हैं)—सांसारिक मनुष्य दुस्तर संसार-सागर के पार किस प्रकार जा सकते हैं इस पर विचार करते हुए भगवान् विष्णु के वक्ष में कौस्तुभ मणि के रूप में मानो कृपा का अंकुर उद्भूत हो गया। (यहाँ) अंकुर का उपन्यास करने से अपूर्णता है।]

व्याख्या—इसमें भगवान् विष्णु की जीवों पर दया का वर्णन है। संसार-सागर में फँसे प्राणियों का उद्धार कैसे हो, यह दयावीर विष्णु की चिन्ता का विषय है। यह सोचते हुए उनके हृदय में प्राणियों के प्रति कृपा अंकुरित हुई। यहाँ जो उत्साह के लिए कृपा को अंकुरित कहा गया है वही अपूर्णता है और इसी से उत्साह स्थायी भाव है।

अपराधविकृत-रवविकृत-सत्त्वादिजनितोऽपरिपूर्णो मनोविकारो भयम्। यथा—

तार्क्ष्यपक्षपवनोपसेवितं
वीक्ष्यवीक्ष्य यदुनन्दनं पुरः।
भीतभीत इव तत्र कालियो
मन्दमन्दमुपसर्तुमुद्यतः॥ १४॥

इवोपन्यासादपूर्णता।

[अपराध, भयंकर शब्द अथवा भयंकर प्राणी आदि के कारण उत्पन्न जो अपरिपूर्ण मनोविकार (है) वही भय कहलाता है। जैसे—गरुड़ के पंखों के पवन से सेवित कृष्ण को सामने देख-देखकर कालिय नाग डरा-डरा सा धीरे-धीरे खिसक जाने के लिए उद्यत हो गया। यहाँ 'इव'—अर्थात् 'सा' (भीतभीत इव—डरा-डरा-सा) कहने से अपूर्णता है।]

व्याख्या—अपराध करने से, भयंकर शब्द के श्रवण से अथवा भयंकर प्राणी के दर्शन से उत्पन्न अपरिपूर्ण मनोविकार ही भय है। भरत ने इस संदर्भ में अपराध को गुरु और राजा के प्रति किया गया अपराध माना है। भानुदत्त की इस संबंध में शेष सहमति भरत से स्पष्ट है। भानुदत्त के अनुसार तीन वस्तुएँ यहाँ ली गई हैं—अपराध, भयंकर शब्द का श्रवण और भयंकर प्राणी का दर्शन। अब भरत का मत देखिए—'गुरुराजापराधेन रौद्राणाञ्चापि दर्शनात्। श्रवणादपि घोराणां भयं मोहेन जायते' (७।२२)। अब श्लोक के अर्थ पर विचार करें। भानुदत्त ने इसमें कृष्ण को देखकर भयभीत कालिय नाग का वर्णन किया है। कृष्ण गरुड़ के पंखों के पवन से सेवित हैं। यह कैसे ? कृष्ण विष्णु के अवतार हैं और विष्णु का वाहन गरुड़ है। यह स्थापना यहाँ इसलिए की गई कि जैसे गरुड़ और सर्प में स्वाभाविक वैर होता है वैसा ही वैर कृष्ण और कालिय नाग में भी है। गरुड़ के समक्ष सर्प का भय स्वाभाविक है और ऐसे ही कृष्ण के समक्ष कालिय नाग का भयभीत होना स्वाभाविक है। भय स्थायी भाव यहाँ 'इव' का उपन्यास करने से है क्योंकि इसमें अपूर्णता विद्यमान है।

अप्रियदर्शनस्पर्शनस्मरणजनिता मनोविकृतिरपरिपूर्णा जुगुप्सा। यथा—

शार्दूलशावकचटच्चटपाटचमान—
सारङ्गशृङ्गवति भूभृति रामचन्द्रः।
वासं चकार न बभार तथा जुगुप्सां
दुःखेषु दुःखमतिरेव न दुःखितानाम्॥ १५॥

न तथेतिपदादपूर्णता।

[अप्रिय वस्तु के दर्शन, स्पर्श तथा स्मरण से उत्पन्न जो अपरिपूर्ण मनोविकार (है) वही जुगुप्सा (नामक स्थायी भाव) कहलाता है। उदाहरण—रामचन्द्र ने ऐसे शृङ्गों वाले पर्वत पर वास किया जहाँ सिंहशावक द्वारा मृगों के विदारित किए जाने से चट-चट की आवाज आ रही थी। परंतु इससे उन्हें विशेष घृणा नहीं हुई क्योंकि जो दुःखी होते हैं उन्हें दुःख के कारणों में भी दुःख की विशेष अनुभूति नहीं होती। (यहाँ) 'न तथा' (ऐसा) कहने से अपूर्णता है।]

व्याख्या—यहाँ जुगुप्सा का विषय है अप्रिय वस्तु का श्रवण अर्थात् सिंहशावक द्वारा मृगों को विदारित किए जाते समय की 'चट-चट' ध्वनि। किन्तु

भानुदत्त ने श्रवण का उल्लेख नहीं किया है। अप्रिय वस्तु के दर्शन, स्पर्श तथा स्मरण की ही बात उन्होंने कही है। रामचन्द्र स्वयं दुःखी हैं और दुःख का एक और कारण, मृगों का विदारित किया जाना, उनके समक्ष है। किन्तु पहले ही दुःखी व्यक्ति दुःख के अन्य कारणों से अधिक दुःखी नहीं दिखाई देते क्योंकि दुःख उनकी प्रकृति में रमा होता है। इस श्लोक में 'न तथा' ऐसा कहने से अपूर्णता है—अर्थात् जुगुप्सा भाव उत्पन्न तो हुआ पर वैसा नहीं जो रस कहा जा सके। इसीलिए यहाँ उक्त स्थायी भाव है।

चमत्कारदर्शनस्पर्शनश्रवणजनितोऽपरिपूर्णो मनोविकारो विस्मयः। यथा—

युध्यन्तमर्जुनं वीक्ष्य के वा देवा न विस्मिताः।
न मेने बहु गोविन्दो दृष्टकर्णपराक्रमः ॥ १६ ॥

न मेने इतिपदादपूर्णता।

[किसी चमत्कार के दर्शन, स्पर्श एवं श्रवण से उत्पन्न जो अपरिपूर्ण मनोविकार (है) वह विस्मय कहलाता है। उदाहरण—अर्जुन को युद्ध करते हुए देखकर कौन देवता विस्मित नहीं हुए ? परन्तु श्रीकृष्ण को बहुत अधिक आश्चर्य नहीं हुआ क्योंकि वे कर्ण का पराक्रम देख चुके थे। यहाँ 'न मेने' से अपूर्णता है।]

व्याख्या—यहाँ चमत्कार का आधार है दर्शन। अर्थात् श्रीकृष्ण का अर्जुन को युद्ध करते हुए देखना। चमत्कार भी युद्ध-पराक्रम का है जिसे अर्जुन कृतवर्मा के साथ युद्ध करते हुए प्रदर्शित कर रहे हैं। कोई भी देवता ऐसा नहीं है जो इस चमत्कार से विस्मित न हुआ हो। किन्तु श्रीकृष्ण बहुत अधिक विस्मित इसलिए नहीं हुए क्योंकि वे उससे भी अधिक चमत्कार का दर्शन उस समय कर चुके थे जब उन्होंने कर्ण के युद्ध-पराक्रम को देखा था। यहाँ 'न मेने' से अपूर्णता इसलिए है क्योंकि श्रीकृष्ण को विस्मय तो हुआ किन्तु बहुत अधिक नहीं। इस तरह 'विस्मय' नामक स्थायी भाव हुआ।

शृङ्गारादौ चमत्कारदर्शनाद्यत्र मनोविकृतिरङ्गतया भासते तत्र शृङ्गारादय एव रसाः। प्राधान्येन यत्र भासते तत्राद्‌भुत एव रसः। अङ्गतया यथा—

[शृङ्गार आदि में चमत्कार-प्रदर्शन से जहाँ (विस्मय) मनोभाव अङ्ग होकर आता है वहाँ शृङ्गार आदि ही रस होंगे और जहाँ (विस्मय) प्रधान हो वहाँ अद्‌भुत रस होगा। (विस्मय) अङ्गभूत का उदाहरण—]

व्याख्या—अङ्गी वह है जिसके अधीन अङ्ग हैं। उदाहरण के लिए मेरा

हाथ अङ्ग है और मैं अङ्गी हूँ क्योंकि यह अङ्ग मेरे अधीन है। इस प्रकार अङ्ग गौण और अङ्गी प्रधान है। इसी प्रकार गौण मनोभाव अङ्गी अर्थात् प्रधान मनोभाव का अतिक्रमण नहीं कर सकेगा। यहाँ अङ्गभूत अर्थात् गौण मनोभाव विस्मय का उदाहरण दिया गया है।

वैषम्यं श्रुतिपङ्कजात्प्रकटयत्यानन्दनीरं दृशोः
स्वर्णालंकरणाद्व्यनक्ति पुलको वैधर्म्यभङ्गश्रियः।
तस्या नूपुरपद्मरागमहसः पादारविन्दश्रियो
भेदं सिञ्जितमेव वक्तिः किमतः शिल्पं विधेर्वर्ण्यताम् ॥ १७ ॥

[नेत्रों के आनन्दाश्रु ही कर्णाभूषण बने हुए कमलों से नेत्रों की पृथक् प्रतीति कराते हैं, स्वर्ण की ही कान्ति के समान सुन्दर अङ्गों का रोमाञ्च आभूषणों से उनको पृथक् करता है; इसी प्रकार चरणकमलों की लालिमा तथा नूपुरों में जटित पद्मरागमणि की लालिमा के पार्थक्य का ज्ञान नूपुरों की ध्वनि से ही होता है। विधाता के शिल्प का इससे अधिक क्या वर्णन हो सकता है।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में नायिका के सौन्दर्य का वर्णन है। उसने कानों में कमल के आभूषण पहने हुए हैं जो उसके नेत्रों से समता करते हैं परन्तु कमल और नेत्रों में भेदक तत्त्व है नेत्रों का आनन्दाश्रु। शरीर में धारण किए हुए स्वर्णाभूषणों से शरीर की कान्ति का सादृश्य होने से भेदक तत्त्व है पुलक (रोमाञ्च) जो शरीर में है, आभूषणों में नहीं। पैरों में धारण किए हुए नूपुरों में जड़ी हुई पद्मरागमणि की लालिमा और उसके चरणकमलों की लालिमा में सादृश्य होने से भेदक तत्त्व नूपुरों की ध्वनि है। इतने अधिक सौन्दर्य का विधान करने वाले विधाता के शिल्प का वर्णन कैसे किया जाए? प्रस्तुत उदाहरण में विस्मय प्रमुख नहीं अपितु शृङ्गार प्रमुख है और विस्मय गौण होने से उसका अङ्ग है।

प्राधान्येन यथा—

विना सायं कोऽयं समुदयति सौरभ्यसुभगः
किरञ्ज्योत्स्नाधारामधिधरणि तारापरिवृढः।
धनुर्धत्ते स्मारं तिरयति विहारं न तमसां
निरातंकः पंकेरुहयुगलमंके घटयति ॥ १८ ॥

[प्रधान मनोभाव विस्मय का उदाहरण—बिना सायंकाल हुए ही यह कैसा नक्षत्रों का अधिपति (चन्द्रमा) उदित हो रहा है जो सुरभि एवं सुगन्ध

से युक्त है तथा अपनी किरणों से सारी पृथ्वी पर चांदनी बिखेर रहा है; जो कामदेव के धनुष को धारण करता है और अन्धकार-समूह को भी दूर नहीं करता। साथ ही यह अपूर्व चन्द्रमा निर्भय होकर अपने अंक में कमलों के जोड़े को नृत्य कराता है ।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में नायिका के मुखरूपी चन्द्रमा का वर्णन है। अपूर्व चन्द्रमा यही नायिका का मुख है, प्रसिद्ध चन्द्रमा नहीं। प्रसिद्ध चन्द्रमा तो सायंकाल में ही उदित होता है किन्तु नायिका का मुख-रूपी चन्द्रमा समय के बन्धन में नहीं है—अर्थात् सदैव ही उदित रहता है। आकाश-स्थित चन्द्रमा सुगन्धि से रहित है किन्तु यह सुवास-युक्त है। वह प्रसिद्ध चन्द्रमा अपनी ज्योत्स्ना-धारा का प्रसार सभी जगह समान रूप से नहीं कर पाता किन्तु यह तो पृथ्वी पर सर्वत्र ही अपनी कान्ति छिटकाता है। यहाँ भाव यह है कि प्रसिद्ध चन्द्रमा तो मुक्त क्षेत्र तक ही अपनी चाँदनी फैलाता है किन्तु यह चन्द्रमा केलि-कक्ष में भी, जहाँ उस चन्द्रमा की किरणें नहीं पहुँच पातीं, अपनी ज्योत्स्ना फैलाता है। उस चन्द्रमा के पास कामदेव का धनुष कहाँ ? किन्तु यह चन्द्रमा तो भ्रू-लता के रूप में उसे भी धारण करता है—अर्थात् रसिक नायक के हृदय के लिए कामदेव के प्रभाव का काम करता है। प्रसिद्ध चन्द्रमा का गुण अन्धकार-हरण है किन्तु यह अन्धकार का हरण नहीं करता क्योंकि इसके कृष्ण केशों का अन्धकार भी रहता है। उस चन्द्रमा के अंक में कमलों का जोड़ा कहाँ ? वह तो कलंक को धारण किए हुए है। किन्तु इस चन्द्रमा के अंक में दो नेत्रों के रूप में कमलों का जोड़ा सदैव नृत्य करता रहता है। यहाँ नायिका का वर्णन होने से तारों से अभिप्राय मोतियों की माला से है। आकाश-स्थित चन्द्रमा नक्षत्रों के बीच चमकता है और यह चन्द्रमा मोतियों की माला के मध्य शोभित है। मुख-कांति ही ज्योत्स्ना-धारा है, भौंहें काम का धनुष हैं, कृष्ण केश अन्धकार है और कमलों का जोड़ा दो नेत्र हैं। इस प्रकार यहाँ साध्यवसाना लक्षणा है।

यह नया चन्द्रमा विस्मयकारक है। यहाँ विस्मय प्रधान है अतः अद्भुत रस ही होगा, शृंगार नहीं।

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां स्थायिभावनिरूपणं नाम प्रथमस्तरंगः ।

[भानुदत्त-विरचित 'रसतरंगिणी' की स्थायिभावनिरूपण नामक प्रथम तरंग समाप्त हुई ।]

द्वितीयस्तरङ्गः

अथ विभावा निरूप्यन्ते। विशेषेण भावयन्त्युत्पादयन्ति ये रसांस्ते विभावाः। ते च द्विविधाः। आलम्बनविभावा उद्दीपनविभावाश्चेति। यमालम्ब्य रस उत्पद्यते स आलम्बनविभावः। यो रसमुद्दीपयति स उद्दीपनविभावः।

[अब विभावों का निरूपण करते हैं। जो विशेष रूप से रसों को भावित अर्थात् उत्पन्न करते हैं वे ही विभाव कहलाते हैं। वे दो प्रकार के हैं—आलम्बन-विभाव और उद्दीपन-विभाव। जिसका आलम्बन लेकर रस उत्पन्न होता है वह आलम्बन-विभाव होता है। जो रस को उद्दीप्त करता है वह उद्दीपन-विभाव होता है।]

व्याख्या—यहाँ कहा गया है कि जो विशेष रूप से रसों को भावित अर्थात् उत्पन्न करते हैं वे ही विभाव कहलाते हैं। रस-निष्पत्ति का यह एक आवश्यक तत्त्व है। लोक में जो-जो पदार्थ लौकिक इत्यादि भावों के उद्बोधक होते हैं वे ही काव्य अथवा नाट्य में निविष्ट होने पर विभाव कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि लोक में रामादि पुरुषों के हृदय में रत्यादि भावों के उद्बोधन के जो सीतादि-रूप कारण हैं वे ही काव्य अथवा नाट्य में विभाव कहलाते हैं। इनके आश्रय से रस प्रकट होता है अतः इन्हें कारण, निमित्त अथवा हेतु माना जाएगा। विभाव आश्रय रामादि में भावों को जाग्रत भी करते हैं और उन्हें उद्दीप्त भी करते हैं। इस आधार पर इनके दो भेद हैं। जिस व्यक्ति अथवा वस्तु के कारण किसी व्यक्ति में कोई भाव जाग्रत होता है उस व्यक्ति अथवा वस्तु को उस भाव का आलंबन-विभाव कहा जाता है। अतः विभाव का प्रथम भेद हुआ आलंबन-विभाव। वास्तविक रसभूमि यही है क्योंकि इसके बिना न तो काव्य-रचना ही संभव है और न ही काव्यास्वाद। अब दूसरे भेद उद्दीपन-विभाव पर विचार करें। कहा भी है कि उद्दीपन-विभाव वे हैं जो रस को उद्दीप्त करते हैं। रस को उद्दीप्त करने वाली आलम्बन की चेष्टाएँ आदि तथा देशकाल की स्थितियाँ उद्दीपन-विभाव हैं। इनसे आश्रय के हृदय में उत्पन्न रति आदि स्थायी भाव अधिकाधिक उद्दीप्त तथा तीव्र होते हैं।

आलम्बनविभावो यथा—

प्राणस्य प्रतिमूर्तिः प्रत्यात्मा पुण्यलतिकायाः ।
अधिदैवतं नयनयोः सा मम या काऽपि सा सैव ॥ १ ॥

[आलम्बन-विभाव का उदाहरण—प्राणों की प्रतिमूर्ति, पुण्यलतिका की प्रत्यात्मा, नेत्रों की पूज्य देवता मेरी जो कुछ भी हो, पर वह वह ही है ।]

व्याख्या—यहाँ आलम्बन-विभाव का उदाहरण दिया गया है। नायक नायिका के प्रति अपने उद्गार यहाँ प्रकट कर रहा है। प्राणों की प्रतिमूर्ति का भाव यह है कि वह मेरा प्राण ही है। पुण्यलतिका की प्रत्यात्मा कहने से नायक का तात्पर्य यह है कि मानो उसके रूप में मेरे सारे पुण्य साकार हो उठे हैं। वह नेत्रों की पूज्य देवता है अर्थात् नेत्र हर समय उसी की ओर लगे रहना चाहते हैं। भला उसका-सा जोड़ और कहाँ हो सकता है? इस प्रकार यहाँ नायक में नायिकाविषयक रति है। नायिका आलम्बन है।

शृङ्गारस्योद्दीपनविभावाः । तत्र भरतः—

ऋतुमाल्यालंकारैः प्रियजनगान्धर्वकाव्यसेवाभिः ।
उपवनगमनविहारैः शृङ्गाररसः समुद्भवति ॥ २ ॥

चन्द्रचन्दनादय ऊहनीयाः ।

[शृङ्गार के उद्दीपन-विभाव के विषय में भरतमुनि का कथन—ऋतु, माल्य, अलंकार आदि, प्रियजन से सम्बन्धित गीत और काव्य के सेवन से, उपवन में गमन और विहार करने से शृङ्गार-रस उद्दीप्त होता है। चन्द्र, चन्दन आदि का इन्हीं से अध्याहार कर लेना।]

व्याख्या—शृङ्गार-रस के उद्दीपन विभावों की व्याख्या में भानुदत्त ने भरत का मत प्रस्तुत किया है। मनोनुकूल ऋतु से, माला व आभूषण को धारण करने से, प्रियजन के सहवास तथा उसके संबंध में गीत, काव्यादि के सेवन से, उपवन में जाने व वहाँ विहार करने से शृङ्गार-रस की उद्दीप्ति होती है। जिस प्रकार ये सब शृंगार-रस के उद्दीपन विभाव हैं वैसे ही चन्द्रमा का अवलोकन तथा चन्दन का अनुलेप भी उद्दीपन विभाव हैं।

उद्दीपनविभावस्योदाहरणम् । यथा—

सन्ध्याशोणाम्बरजवनिका कामिनोः प्रेम नाट्यं
नान्दी भ्राम्यद्भ्रमरविरुतं मारिषः कोऽपि कालः ।
तारापुष्पाञ्जलिमिव किरन्सूचयन्पुष्पकेतो—
नृत्यारम्भं प्रविशति सुधादीधितिः सूत्रधारः ॥ ३ ॥

[उद्दीपन-विभाव का उदाहरण—सन्ध्याकालीन रक्ताम्बर ही मानो जवनिका है, प्रिय-युगल का प्रेम ही मानो नाट्य है, फूलों पर मँड़राते हुए भौंरों की गुंजार ही मानो नान्दी-पाठ है और कोई विशेष काल (वसन्त) ही मानो विदूषक है। ऐसे समय नक्षत्रों के रूप में ही मानो पुष्पांजलि का विकिरण करता हुआ और कामदेव के नृत्यारम्भ की सूचना देता हुआ चन्द्रमा मानो सूत्रधार के समान मंच पर प्रवेश करता है।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में चन्द्रोदय का प्रसंग है। विश्व-रूपी मंच पर होने वाले कामदेव के नृत्य की सूचना देने के लिए मानो सूत्रधार प्रकट हुआ है। भारतीय नाट्यविधान की प्रारम्भिक रूपरेखा यह है कि सर्वप्रथम नान्दी-पाठ होता है और उसके उपरान्त सूत्रधार मंच पर पर्दे के पीछे से प्रवेश करता है। सूत्रधार दर्शकों को नाट्य-वस्तु से सूचित करता है। बाद में नाटक प्रारम्भ होता है। यहाँ पर भौंरों की गुंजार नान्दी-पाठ है, विश्व मंच है, संध्या का रक्तिम आकाश पर्दा है, चन्द्रमा सूत्रधार है और नाट्य-वस्तु है प्रेमी-युगल की प्रेम-क्रीड़ा। भाव यह कि समस्त विश्व काम के अभिभूत हो रहा है। ये सभी उपकरण उद्दीपन-विभाव हैं।

अथ हास्यरसस्य विभावाः। तत्र भरतः—

विपरीतालंकारैर्विकृताचाराऽभिधानवेशैश्च।
विकृतैरर्थविशेषैर्हसतीति रसः स्मृतो हास्यः॥ ४॥

अंगवैकृतादय ऊहनीयाः।

[अब हास्य-रस के विभाव कहते हैं। भरत के अनुसार—विपरीत आभूषणों के धारण, विचित्र चेष्टा, भाषण, वेश और विचित्र बनावट वाले पात्रों को देखने से हास्य होता है। इसमें अंगों की विचित्र बनावट करना भी सम्मिलित है।]

व्याख्या—विपरीत आभूषणों के धारण से तात्पर्य है अंग-विशेष के उपयुक्त आभूषण किसी अन्य अंग पर धारण करना। इसे देखकर हास्य उत्पन्न होता है। भरत के अनुसार—

अदेशजो हि वेषस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते॥ (२१/७१)

अर्थात् एक स्थान के निश्चित वेष को दूसरे स्थान पर धारण करने से शोभा उत्पन्न नहीं होती, कमर में पहनी जाने वाली मेखला को कोई वक्ष पर धारण

कर ले तो अन्यों के लिए यह हास्य का ही कारण होगा। विकृताचार से आशय है विपरीत अथवा विचित्र प्रकार की चेष्टाएँ करना। जैसे ग्रीष्म में ताप-सेवन। विकृताभिधान है विचित्र भाषण। उदाहरणार्थ 'किन्नर' को 'किनल' कहना। विकृतवेश स्पष्ट ही है। यह संकेत पहले भी आ चुका है। कुब्जा, वामन आदि विकृत अर्थ विशेष हैं। भानुदत्त ने आगे अंगविकृति की बात कही है। वास्तव में इसका समावेश श्लोक में ही हो चुका है।

यथा—

केयूरं घर्घरयन्भ्रमयन्मौलिं विवर्तयन्बाहुम्।
नेत्राञ्चलं चपलयन्नटयति मायाशिशुच्छायाम् ॥ ५ ॥

[उदाहरण है—केयूर को घुंघरू के समान पैर में धारण करता हुआ सिर को घुमाता हुआ, बाहु का इधर-उधर विक्षेप करता हुआ, नेत्रों को चपलता से घुमाता हुआ नट मायाशिशु की छाया को नृत्य करा रहा है।]

व्याख्या—नट बालमुकुन्द की मूर्ति को नृत्य करा रहा है। वह नट कैसा है? उसने बाहुभूषण केयूर को घुँघरू के समान पैर में धारण किया हुआ है। यह विपरीत अलंकार तो है ही, साथ ही विकृताचार भी है। क्यों? घुंघरू रणनात्मक होते हैं किन्तु केयूर नहीं। किन्तु यह नट तो इन्हीं से यह व्यापार सिद्ध करना चाहता है। इसीलिए यहाँ विकृताचार भी है। सिर को घुमाना-बाहु का इधर-उधर विक्षेप आदि अंगविकृति हैं। ये सब हास्य-रस के उद्दीपन-विभाव हैं।

अथ करुणरसस्य विभावाः। तत्र भरतः—

इष्टजनस्य विनाशाच्छापात्क्लेशाच्च बन्धनाद्व्यसनात्।
एतैरर्थविशेषैः करुणाख्यरसः समुद्भवति ॥ ६ ॥

बन्धुदारिद्र्यादय ऊहनीयाः। यथा—

[करुण-रस के विभाव, भरतमुनि के अनुसार—प्रियजन के विनाश, शाप, क्लेश, बन्धन, आपत्ति आदि विशिष्ट स्थितियों में करुण नामक रस की उत्पत्ति होती है। इसी के अन्तर्गत प्रियजनों का दारिद्रय आदि भी सम्मिलित हैं। जैसे—]

व्याख्या—प्रियजन के विनाश से अर्थ है उसकी मृत्यु। शाप किसी प्रकार का अपराध करने से मिलता है। क्लेश में शारीरिक-मानसिक पीड़ाएँ सम्मिलित हैं। बन्धन का अर्थ कारावास है। आपति का अर्थ स्पष्ट ही है। इसी प्रकार

इनमें बन्धु-बान्धवों का दारिद्रच भी सम्मिलित है। ये सब विभाव करुण-रस के हैं। यहाँ एक उदाहरण दिया गया है—

त्वां पश्यतो भुजगपाशनिबद्धदेह—
मद्याऽपि मे यदसवो न बहिः प्रयान्ति।
नेत्रे निमीलयसि पश्यसि नैव ताव—
दास्यं मदीयमिति लक्ष्मण युक्तमेव ॥ ७ ॥

[हे लक्ष्मण ! तेरे शरीर को नागपाश में बँधा हुआ देखकर अभी भी जो मेरे प्राण नहीं निकले हैं इसीलिए तूने मेरा मुख न देखने की इच्छा से अपने नेत्र बन्द कर लिए हैं, यह उचित ही है।]

व्याख्या—लक्ष्मण नागपाश के बन्धन में पड़ कर अचेत हो गया है और उसके नेत्र मुँद गए हैं। किन्तु राम शोक प्रकट करते हुए कहते हैं कि लक्ष्मण के नेत्र अचेत होने के कारण नहीं मुँदे अपितु लक्ष्मण ने स्वयं यह सोचकर मूँद लिए हैं कि मुझे नागपाश में बँधा देखकर भी बन्धु राम ने शोक से ग्रस्त हो अपने प्राणों का त्याग नहीं किया। अतः ऐसे बन्धु का मुँह न देखना ही ठीक है। इसे राम भी उचित ही समझते हैं। लक्ष्मण आलंबन है और बन्धन उद्दीपन।

अथ रौद्ररसस्य विभावाः। तत्र भरतः—
आयुधखड्गाभिभवाद्वैकृतभेदाद्विदारणाच्चैव।
संग्रामसंभवार्थादिभ्यः सञ्जायते रौद्रः ॥ ८ ॥
वैरिदर्शननिर्भर्त्सनादय ऊहनीयाः। यथा—

[रौद्र-रस के विभाव भरत मुनि के अनुसार—खड्ग आदि आयुधों के पराभव से, अनादर-चेष्टा से, आघात पहुँचाने से और युद्ध-सम्भव कार्यों में रौद्र-रस उत्पन्न होता है। शत्रु का दर्शन और उसके द्वारा किया जाने वाला पराभव भी इसी में सम्मिलित हैं। जैसे—]

व्याख्या—युद्ध में वैरी के नाश हेतु प्रयुक्त किए जाने वाले जो खड्ग आदि शस्त्र हैं उनके असफल रह जाने से, शत्रु द्वारा की गई अनादर की चेष्टा से, शत्रु द्वारा आक्रमण से चोट पहुँचाए जाने से और युद्ध में होने वाले अन्य सभी कार्यों—जैसे व्यूह-रचना, प्रतिघात आदि से—रौद्र-रस उत्पन्न होता है। शत्रु का दर्शन और उसके द्वारा किया जाने वाला दुर्दम आक्रमण भी इन्हीं में परिगणनीय हैं। एक उदाहरण है—

तन्वन्ती तिमिरद्युतिं कृतवती प्रत्यर्थिचक्रव्यथा-
मेषा भार्गव तावकी विजयते निस्त्रिंशधारा निशा ।
युद्धक्रुद्धविपक्षपक्षविदलत्कुम्भीन्द्रकुम्भस्थल-
भ्रश्यन्मौक्तिककैतवेन परितस्तारावलीं वर्षति ।९॥

[हे भार्गव ! अन्धकार (अर्थात् शत्रु पक्ष के शोक) का विस्तार करती हुई, शत्रुरूप चक्रवाकों को पीड़ित करती हुई तुम्हारी यह खड्गरूपी निशा युद्ध में क्रुद्ध हुए शत्रु-पक्ष के मतवाले हाथियों के मस्तक को विदीर्ण कर उनसे मुक्ताओं के बहाने ही मानो तारापंक्ति को बरसा रही है ।]

व्याख्या—प्रस्तुत उदाहरण में परशुराम के खड्ग का वर्णन रात्रि के रूप में किया गया है। रात्रि अन्धकार का विस्तार करती है और परशुराम का खड्ग शत्रुओं के शोक का विस्तार करता है। इसी प्रकार शत्रुरूपी चक्रवाक इस खड्ग से पीड़ित है। इस के द्वारा क्रुद्ध गजों का मस्तक विदीर्ण होता है और गजदान के मौक्तिक बिन्दु फूट पड़ते हैं और रात्रि अन्धकार में तारों की पंक्तियों का निर्माण करती है। इस प्रकार परशुराम के खड्ग और रात्रि में साधारण धर्म दिखाए गए हैं।

अथ वीररसस्य विभावाः । तत्र भरतः—

उत्साहाध्यवसायादविषादित्वादविस्मयान्मोहात् ।
विविधादर्थविशेषाद्वीररसो नाम संभवति ॥ १० ॥

विजयबलादय ऊहनीयाः । यथा—

[वीर-रस के विभाव भरत के अनुसार—उत्साहमूलक पुरुषार्थ से, विषाद और विस्मय के अभाव से, मोह से तथा लोकप्रचलित विविध अनुकूल प्रसंगों से वीर-रस उत्पन्न होता है। इन्हीं में विजय तथा बल भी ग्रहण किए जायेंगे। जैसे—]

व्याख्या—उत्साह से युक्त जो पुरुषार्थ है उससे, विषाद और विस्मय की अनुपस्थिति से, मूल में किसी वस्तु के मोह की भावना से तथा संसार में प्रचलित औचित्यमूलक प्रसंगों की रक्षा हेतु वीर-रस की उत्पत्ति होती है। इन्हीं के अन्तर्गत विजय की भावना तथा उसके लिए आवश्यक शक्ति-संग्रह अथवा विजय के निश्चय के लिए प्रतिपक्ष के बल का अनुमान भी आते हैं। एक उदाहरण दिया जाता है—

लंकाधिपः संयति शंकनीयो जम्भारिदम्भापहबाहुवीर्यः ।
इत्यालपन्तं हनुमन्तमेष रामः स्मितैरुत्तरयाञ्चकार ॥ ११ ॥

['जिसके बाहुबल ने इन्द्र के दर्प का भी हरण किया उस लंकाधिप रावण से युद्ध में शंकित रहना चाहिए'—इस प्रकार कहते हुए हनुमान को राम ने केवल मुसकराहट के रूप में ही उत्तर दिया ।]

व्याख्या—प्रस्तुत उदाहरण में रावण के बल का वर्णन करते हुए हनुमान की उक्ति से राम का उत्साह और अधिक बढ़ता है । हनुमान का मंतव्य यह है कि इन्द्र के दर्प का भी दलन करने वाला वह रावण कोई साधारण वीर नहीं है इसलिए उससे युद्ध के समय सावधान रहना चाहिए । किन्तु राम को प्रतिपक्ष के बल का स्पष्ट अनुमान है और अपनी विजय का निश्चय है । इसलिए वे अन्त में रावण की पराजय को निश्चित समझते हैं और मुसकरा देते हैं । यहाँ वीर-रस का आलम्बन रावण है और हनुमान का कथन उद्दीपन ।

जैसा कि हम देख चुके हैं, भानुदत्त ने वीर के युद्धवीर, दानवीर और दयावीर—ये तीन भेद किए हैं । उपर्युक्त रूप में युद्धवीर के विभावों का वर्णन करने के पश्चात् वे शेष के विभावों का भी निरूपण करते हैं ।

दानवीरस्य विभावो यथा—

वपुषा विनयं वहन्ति केचिद्वचसा केऽपि चरन्ति चारुचर्याम् ।
अतिथौ समुपागते सपर्य्यां पुलकैः पल्लवयन्ति केऽपि सन्तः ।। १२ ।।

[दानवीर का विभाव । जैसे—अतिथि के आने पर कोई शरीर से विनय प्रकट करते हैं, कोई वाणी से शिष्टाचार का निर्वाह करते हैं परन्तु कुछ सन्त ऐसे भी होते हैं जो रोमाञ्च के द्वारा ही अतिथि की पूजा प्रारम्भ कर देते हैं ।]

व्याख्या—सभी व्यक्ति दानवीर नहीं हैं । कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो अतिथि के आगमन पर अपने शारीरिक व्यवहार या चेष्टाओं मात्र से अतिथि के समक्ष अपना विनय-भाव प्रकट करते हैं । उदाहरण के लिए द्वार पर ही उसे देखकर स्वागत के लिए दौड़ना, आसन देना, हाथ जोड़ कर खड़े हो जाना आदि । ऐसे व्यक्ति व्यवहारकुशल होते हैं । कुछ व्यक्ति ऐसे होते हैं जो मीठे वचनों से अतिथि का स्वागत करते हैं । उदाहरण के लिए अतिथि के आगमन को अपने गर्व की बात कहना, कुशल-क्षेम पूछना, सेवा के लिए कहना आदि । इन्हें शास्त्रनिष्णात-बुद्धि कहा जाएगा । किन्तु कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो अतिथि को देखकर ही हर्ष से पुलकायमान हो जाते हैं । सच्चे दानवीर यही हैं क्योंकि अंतःकरण से शुद्ध होकर अतिथि का स्वागत करते हैं । यहाँ अतिथि

आलम्बन है और उसका आगमन उद्दीपन।

दयावीरस्य विभावो यथा—

कथमविरलजाग्रद्भक्तिभाजो निशायां
तमसि दुरवगाहे प्राणिनो वीक्षणीयाः।
इति किमु समुदञ्चद्दीपलेखाभिराम-
द्युतिमुरसि मुरारिः कौस्तुभं सम्बभार ॥ १३ ॥

[दयावीर का विभाव। जैसे—निरन्तर जागरूक होकर भक्ति करने वाले प्राणी इस प्रगाढ़ अन्धकार वाली रात्रि में किस प्रकार देखे जा सकेंगे? मानो इसी कारण विष्णु भगवान् प्रकाशमान दीपवर्तिका के सदृश कान्ति वाली कौस्तुभ मणि को अपने वक्ष पर धारण करते हैं।]

व्याख्या—प्रस्तुत उदाहरण में अपने भक्तों के प्रति विष्णु की दया का वर्णन है। विष्णु अपने हृदय-प्रदेश पर कौस्तुभ मणि को धारण करते हैं जो अत्यन्त प्रकाशमान है। यहाँ कल्पना यह है कि वे इसे अलंकार-रूप में धारण नहीं करते वरन् इसलिए धारण करते हैं कि निरन्तर उद्योगयुक्त होकर जो यह लोक उनकी भक्ति में लगा है उसे अन्धकारपूर्ण रात्रि में किस प्रकार देखा जा सकेगा। अर्थात् विष्णु अपने भक्तों पर सतत् दया-भाव रखते हैं। इसलिए अन्धकार को दूर करने वाली और भक्तों को उनके दृष्टिगत करने वाली कौस्तुभ मणि वे धारण करते हैं। यहाँ भक्त आलम्बन हैं और उद्दीपन है अन्धकार में वीक्षण-योग्यता।

ननु स्वनिष्ठ उत्साहः कथमुद्दीपनविभावो भवतीति चेत्—सत्यम्। उद्दीपनविभावो ज्ञायमान एव गमकः। स च स्वनिष्ठः परनिष्ठो वेति न विशेषः। अनुभावस्तु स्वनिष्ठ एव गमकः। तस्यानुमापकत्वेन पक्षवृत्तित्वादिनियमादिति। ननु दयावीरः कथं करुण एव नान्तर्भवति, निरुपाधिपरदुःखप्रहरणेच्छा दया। सा च करुणया विना न संभवतीतिचेन्न। करुणस्य स्थायिभावः शोकः, दयावीरस्य स्थायिभाव उत्साह इति स्थायिभावभेदेन भेदात्। ननु दयावीरे करुणरसप्रतीतेः का गतिरिति चेत्। सत्यम्। करुणया विना दयावीरस्याऽननुभवादिति करुणायास्तत्रानुभावकत्वादिति।

[यहाँ यह शंका करते हैं कि स्वनिष्ठ उत्साह कैसे उद्दीपन-विभाव हो सकता है? समाधान करते हुए कहते हैं कि उद्दीपन-विभाव वस्तु-ज्ञान

के साथ ही गमक होता है और वह स्वनिष्ठ है या परनिष्ठ इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। अनुभाव तो स्वनिष्ठ होकर ही गमक होते हैं क्योंकि उनमें अनुमितिजन्य ज्ञानविषयत्व होने से पक्षवृत्तिता विद्यमान है। यहाँ यह शंका करते हैं कि दयावीर का करुण में ही अन्तर्भाव क्यों नहीं होता? क्योंकि निःस्वार्थ भाव से परदुःख-निवारण की इच्छा ही दया है, और वह करुणा के बिना संभव नहीं है। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि करुण का स्थायी भाव शोक है और दयावीर का स्थायी भाव उत्साह है, इस स्थायी भाव के भेद से दयावीर का करुण में अन्तर्भाव नहीं हो सकता। अब फिर शंका करते हैं कि यदि स्थायी भाव के भेद के कारण पृथक् मानते हो तो दयावीर में करुण रस की प्रतीति क्यों होती है? इसका समाधान करते हैं कि करुणा के बिना दयावीर का अनुभव नहीं होता, इसलिए दयावीर में करुण-रस की अनुभावकता होगी ही।]

व्याख्या—एक समस्या यह है कि दसवें श्लोक में जो 'उत्साहाध्यवसायात्' पद दिया है उससे क्या स्पष्ट आशय है? वहाँ कहा गया है कि उत्साहमूलक पुरुषार्थ से तथा इसी प्रकार अन्य उल्लिखित प्रसंगों से वीर-रस उत्पन्न होता है। तो इस पद में उत्साह को उद्दीपन-विभाव माना जाए अथवा उत्साहमूलक पुरुषार्थ को? मात्र उत्साह को इसलिए नहीं माना जा सकता कि उत्साह-रूप स्थायी भाव का उद्दीपक उत्साह ही कैसे हो सकता है? अपना उद्दीपक कोई आप ही कैसे बन सकता है? दूसरे पक्ष को भी नहीं माना जा सकता क्योंकि पुरुषार्थ स्वयं उत्साह के अधिकरण में स्थित है। यह पक्षवृत्तित्वनियम होगा। यही समाधान आगे किया गया है। कहते हैं कि उद्दीपन-विभाव वस्तुज्ञान के साथ ही गमक होता है। भाव यह है कि उत्साहमूलक पुरुषार्थ सदैव ही उत्साहजन्य हो यह नहीं कहा जा सकता। उत्साह के रूप में जो पुरुषार्थ है वही उत्साहजन्य है किन्तु इसमें लौकिक सन्निकर्ष आवश्यक है और पुरुषार्थ अलौकिक सन्निकर्षोत्पन्न भी है जो उत्साह की अनुपस्थिति में भी उत्पन्न होता है। साथ ही यह उत्साह को उद्दीप्त भी करता है। इस प्रकार पुरुषार्थ-रूप में जो उत्साह है वह उद्दीपन करता है। अतः स्वनिष्ठ-परनिष्ठ में भी भेद नहीं रहता क्योंकि मुख्य है वस्तुज्ञान। विषय के बोध के लिए और भी एक उदाहरण से इसे समझाते हैं। अनुभाव सदैव स्वनिष्ठ होकर ही गमक होते हैं। इसका कारण यह है कि उनमें अनुमितिजन्य ज्ञानविषयत्व होता है। इसीलिए उसमें निज पक्ष प्रधान हो जाता है।

इस समाधान के पश्चात् दूसरी समस्या उठाई गई है। वह यह है कि दयावीर का करुण-रस में ही अन्तर्भाव क्यों नहीं होता ? यह स्पष्ट ही है कि दूसरों के दुखों को दूर करने की जो इच्छा है वह निःस्वार्थ भाव से प्रेरित होने के ही कारण दया कही जाती है और वह करुणा के बिना संभव नहीं होती है। इसका समाधान सरल ही है। उत्तर है स्थायी भाव के भेद के कारण। भाव यह है कि करुण-रस का स्थायी भाव शोक है और दयावीर का उससे पृथक् उत्साह है। इसीलिए दयावीर का करुण-रस में अन्तर्भाव नहीं हो पाता।

तो फिर एक शंका और है। यदि स्थायी भाव के भेद के कारण इन्हें पृथक् माना गया तो फिर दयावीर में करुण-रस की प्रतीति क्यों होती है, अर्थात् करुण से रहित दयावीर क्यों नहीं प्रतीत होता ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि करुणा के बिना दयावीर का अनुभव नहीं होता। इसलिए दयावीर में करुण-रस की अनुभावकता होगी ही।

वास्तव में भानुदत्त का आशय बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है। पहला प्रश्न तो यही है कि इस संबंध में तीन पारिभाषिक शब्द प्रयुक्त किए गए हैं—दया, करुणा और करुण। करुण तो ठीक है, रस के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है किन्तु करुणा और दया से स्पष्ट आशय क्या है, यह ज्ञान नहीं होता। बात यह है कि भानुदत्त यहाँ करुण-रस और करुणा के बीच भटक कर रह गए हैं।

अथ भयानकस्य विभावाः। तत्र भरतः—

विकृतरवसत्त्वदर्शनसङ्ग्रामारण्यशून्यगृहगमनात्।
गुरुनृपयोरपराधात्कृतकः स भयानको ज्ञेयः॥ १४॥

धाटीबन्धुबन्धनश्रवणश्मशानदर्शनादय ऊहनीयाः। यथा—

[भयानक-रस के विभाव भरत के अनुसार—भयंकर शब्द करने वाले प्राणी को देखने से, युद्धभूमि, वन अथवा सुनसान घर में जाने से और बड़ों तथा राजा के प्रति किए गए अपराध से भयानक-रस उत्पन्न होता है। आक्रमण, बन्धुजनों के बन्धन के श्रवण, श्मशान-दर्शन आदि भी इसी के अन्तर्गत ग्राह्य हैं। एक उदाहरण देते हैं—]

व्याख्या—ऐसे हिंसक प्राणी का दर्शन जो भयंकर शब्द करता हो, युद्धभूमि में हो रहा संग्राम, निर्जन वन अथवा भवन में प्रवेश और अपने से बड़े व्यक्तियों तथा शासक राजा के प्रति किए गए अपराध से भयानक-रस की उत्पत्ति होती है। प्रतिपक्षी के आक्रमण, बन्धु-बान्धवों के बन्धन के समाचार

और शवयात्रा में श्मशान के दर्शन आदि को भी इन्हीं में संयुक्त कर लेना चाहिए। यहाँ एक उदाहरण दिया गया है—

उद्यत्कान्तिकठोरकेसरदलत्पाथोधरप्रस्खल—
द्विद्युद्दीधितिकाञ्चनीकृतजगन्निःशेषभूमीधरः।
स्फूर्जत्कण्ठनिनादभिन्नवसुधामार्गप्रविष्टद्विज—
प्रौढाशीर्वचनप्रहर्षितबलिर्व्यालोकि मायाहरिः॥ १५॥

[जिसके तीव्र कान्तिमान एवं कठोर केसरसमूह से घर्षित बादलों से प्रकट होने वाली बिजली की किरणों से संसार के सभी पर्वत सुनहरे हो गए थे और जिनके तीव्र कण्ठ-गर्जन से गुञ्जित पृथ्वी के भागों में रहने वाले द्विजों के ओजपूर्ण आशीर्वचनों ने राजा बलि को प्रसन्न किया है, ऐसे माया-हरि को सभी लोकों ने देखा।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में विष्णु के नृसिंह-रूप का वर्णन है। रूप का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं उनका केसरसमूह अर्थात् गर्दन के बाल तीव्र कान्तिमान एवं कठोर हैं तथा जब वे बादलों से घर्षित होते हैं तो उनसे विद्युत् की किरणें फूटती हैं और उन किरणों से संसार के सभी पर्वत स्वर्णकान्ति के हो जाते हैं। पृथ्वी का प्रत्येक स्थल उनके घोष गर्जन से गुञ्जित है।

इस उदाहरण में स्पष्ट ही आलम्बन नृसिंहावतार में विष्णु हैं और उनका घोष गर्जन उद्दीपन है किन्तु फिर भी भयानक-रस की पुष्टि यहाँ नहीं है। यह उदाहरण असफल है।

अथ वीभत्सस्य विभावाः। तत्र भरतः—

अनभिमतदर्शनेन च गन्धरसस्पर्शदोषैश्च।
उद्वेजनैश्च बहुभिर्बीभत्सरसः समुद्भवति॥ १६॥

अहृद्यवस्तूनां श्रवणादय ऊहनीयाः। यथा—

[बीभत्स-रस के विभाव भरत की सम्मति में—अनिच्छित वस्तु के दर्शन से, दोषपूर्ण गन्ध, रस एवं स्पर्श से और अनेक उद्वेगकारक तत्त्वों से बीभत्स-रस उत्पन्न होता है। अरुचिकर वस्तुओं का सुनना भी इसी में सम्मिलित है। उदाहरणार्थ—]

योधानामधरैरशोककुसुमैर्नेत्रैः सितैरम्बुजै—
र्दन्तैः कुन्ददलैः करैः सरसिजैः संपाद्य पुष्पाञ्जलिम्।
झिल्लीं कर्णयुगे विधाय करिणां रक्तावसिक्तांगकैः
प्रेतानां बटुकैः पुरः पुरभिदो नृत्यं समारभ्यते॥ १७॥

[अशोककुसुम के स्थान पर वीरों के कटे हुए ओठों को लेकर श्वेत-कमल के स्थान पर नेत्र, कुन्द के स्थान पर दांत और कमल के स्थान पर उनके हाथों को लेकर पुष्पाञ्जलि अर्पित करते हुए तथा कर्णाभूषण के लिए कानों में झींगुरों को लटकाकर और हाथियों के रक्त से अपने अंगों को सिक्त करके प्रेतों के बालकों ने महादेव जी के सामने अपना नृत्य आरम्भ किया।]

व्याख्या—बीभत्स-रस के उद्दीपन विभावों का वर्णन करके यहाँ एक उदाहरण दिया है जिसमें प्रेत-शिशुओं का बीभत्स-रूप में महादेव जी के सामने नृत्य करने का वर्णन है। अशोककुसुम के स्थान पर उन्होंने वीरों के कटे हुए ओठों को इसलिए लिया कि उनमें समान रंगसाम्य है, श्वेतकमल के रंगसाम्य के आधार उनके नेत्रों का ग्रहण किया, कुन्द-सी उज्ज्वल स्वच्छ वस्तु के लिए दाँतों को लिया जो वैसे ही हैं। कमल के स्थान पर उनके हाथों को लिया तथा भगवान् शिव के प्रति ये सब उपकरण एकत्रित कर अपनी पुष्पांजलि अर्पित की। स्वयं उनका रूप कैसा है, इस संबंध में कहते हैं कि उनका समस्त शरीर हाथियों के रक्त से लिप्त है और दोनों कानों में कर्णाभरण के स्थान पर वाद्य करने वाले जीवित झींगुर लटकाए हुए हैं। यहाँ बीभत्स के आलम्बन प्रेत-शिशु हैं और वीरों के अधरादि का दर्शन उद्दीपन है।

अथाद्भुतरसस्य विभावाः। तत्र भरतः—

यत्त्वतिशयार्थयुक्तं वाक्यं शिल्पं च कर्म रूपं च।
तत्संबद्धैरर्थै रसोऽद्भुतो नाम सम्भवति ॥ १८ ॥

मायेन्द्रजालार्थलाभादय ऊहनीयाः। यथा—

[अब अद्भुत-रस के विभाव कहते हैं। भरत के अनुसार—अतिशयार्थ-युक्त वाक्य, शिल्प, कर्म और रूप से संबंधित अर्थों में अद्भुत-रस होता है। इसी में माया, इन्द्रजाल, अर्थलाभ आदि का भी ग्रहण कर लेना चाहिए। उदाहरण है—]

व्याख्या—अतिशय अर्थ को व्यञ्जित करने वाले वाक्य अर्थात् आश्चर्य उत्पन्न करने वाले भाषण, शिल्प-चमत्कार, कार्य व रूप-धारण से अद्भुत-रस की उत्पत्ति होती है। माया, इन्द्रजाल, अर्थलाभ—अर्थात् चमत्कार से रुपया बनाना, दुगुना करना आदि भी इसमें सम्मिलित हैं। एक उदाहरण देते हैं—

उद्दामोद्दाममाद्यत्प्रतिभटदलनोदग्रजाग्रत्प्रभावः
सोऽयं देवो मुदे वो भवतु नरहरिस्तारिताशेषविश्वः।

यस्य प्रौढप्रतापोद्भटविकटसटाकोटिभिः पाटिताना—
मन्त्राण्यम्भोधराणां बहिरिव निरगुर्विद्युतां कैतवेन ।। १६ ।।

[जिसके अतिशय प्रताप से युक्त और विकट सटाकोटि से विदीर्ण बादलों की आँतें ही मानो बिजली के रूप में बाहर निकल गई हों, और अत्यन्त मदयुक्त शत्रुओं के विनाश के कारण जिसका प्रभाव सुविदित है, वह सम्पूर्ण विश्व को तारने वाला देव नृसिंह तुम्हारा कल्याण करे ।]

व्याख्या—यहाँ नृसिंहावतार के आश्चर्यचकित करने वाले स्वरूप का वर्णन है। उनका रूप कैसा है, इस संबंध में कहते हैं कि उनका प्रताप अतिशय है तथा सटाकोटि अर्थात् केसरसमूह विकट है। भाव यह कि उनकी गर्दन पर फैले बाल अत्यन्त तीक्ष्ण हैं जो जब बादलों से घर्षण करते हैं तो उनसे बिजली की किरणें फूट पड़ती हैं। यहाँ कल्पना है कि ये बिजली की किरणें बादलों से नहीं फूटीं वरन् उनके विदीर्ण हो जाने के कारण उनकी आँतें ही बाहर निकल आई हैं। उनके बल को सभी जानते हैं क्योंकि उन्होंने वीरता के मद में छके शत्रुओं का भी दलन किया है। यहाँ अद्भुत-रस के आलम्बन नृसिंहावतार हैं और अतिशय अर्थ के सूचक वाक्य उद्दीपन हैं।

इन्द्रजालार्थलाभो यथा—

व्योम्नि प्रांगणसीम्नि सान्ध्यकिरणं विस्तीर्य चेलाञ्चलं
ध्वान्तैः कार्मणपांसुभिस्त्रिजगतां नेत्राणि संमोहयन् ।
ताराः शौक्तिकमौक्तिकानि विहगश्रेणीरवच्छद्मना
झिञ्झीकृत्य बहिः करोति वदनात्पञ्चाशुगो मायिकः ।। २० ।।

[इन्द्रजाल और अर्थलाभ का उदाहरण—विशाल आकाश के प्रांगण में सांध्यकिरणों के रूप में अपना वस्त्रांचल फैलाकर, अन्धकाररूपी जादू की धूलि से तीनों लोकों के नेत्रों को सम्मोहित करता हुआ, पक्षियों के शब्द के रूप में झि-झि शब्द करता हुआ कामदेवरूपी इन्द्रजालिक मानो अपने मुख से ताराओं के रूप में शुक्ता-मुक्तियों को निकाल रहा है।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में धीरे-धीरे आते हुए अन्धकार और उदय होते हुए तारों का वर्णन है। कामदेव की कल्पना इन्द्रजालिक के रूप में की गई है। यह कामदेव जो है वही माया करने वाला इन्द्रजालिक है। मंत्र की शक्ति से यह सम्पन्न है। आकाश ही इसके लिए प्रांगण है, सन्ध्याकालीन किरणें ही इसका वस्त्रांचल हैं जिसे यह मायिक फैला रहा है। अन्धकार क्या है? इस विषय में कहते हैं कि दृष्टि के बन्धन के लिए यह बिखेरी गई जादू की धूलि

है जिससे तीनों लोकों के प्राणियों की दृष्टि विमोहित हो गई है। अर्थात् अन्धकार में देख सकने योग्य नहीं रही है। पक्षियों का भिं-भिं शब्द ही इसका उच्चारण है। आकाश में जो तारे निकल कर फैलते जा रहे हैं वे मानो इस इन्द्रजालिक के मुख से सीप के मोती बाहर निकल रहे हैं।

भानुदत्त ने श्लोक के प्रारम्भ में इन्द्रजाल और अर्थलाभ के उदाहरण की बात कही है किन्तु यह उदाहरण केवल इन्द्रजाल का ही है। यहाँ अद्भुत-रस का आलम्बन कामदेव है तथा इन्द्रजाल उद्दीपन है।

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां विभावनिरूपणं नाम द्वितीयस्तरंगः।

[भानुदत्त-विरचित 'रसतरंगिणी' की विभावनिरूपण नामक द्वितीय तरंग समाप्त हुई।]

तृतीयस्तरङ्गः

अथाऽनुभावा निरूप्यन्ते। ये रसाननुभावयन्ति अनुभवगोचरतां नयन्ति ते अनुभावाः कटाक्षादयः, करणत्वेनाऽनुभावकता। करणत्वं च फलायोगव्यवच्छेदसम्बन्धित्वम्।

[अब अनुभावों का निरूपण करते हैं। रसों का अनुभव कराने वाले अर्थात् उन्हें अनुभव का विषय बनाने में कारणरूप तत्त्व ही अनुभाव कहलाते हैं। जैसे कटाक्ष आदि करण होने से अनुभाव होंगे और फल के अभाव को निवृत्त करने वाला कारण ही करण कहलाता है।]

व्याख्या—यहाँ से अनुभावों का विवेचन प्रारम्भ किया जा रहा है। भरत ने वाणी तथा अंग-संचालनादि द्वारा व्यक्त अभिनयरूप भावाभिव्यंजन को अनुभाव कहा है। धनंजय ने 'अनुभावो विकारस्तु भावसंसूचनात्मकः' (४/३) कहकर इन्हें विकाररूप एवं भावों का सूचक कहा है। विश्वनाथ की परिभाषा अधिक स्पष्ट है—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥ (३/१३२-१३३)

—अर्थात् उन-उन कारणों से हृदय में उद्बुद्ध रत्यादि भावों को बाहर प्रकाशित करने वाले अंगादि-व्यापारों का नाम अनुभाव है। लोक में तो (रत्यादि भावों के) अंगादि-व्यापार कार्य समझे जाया करते हैं किन्तु काव्य-नाट्य के क्षेत्र में इन्हें अनुभाव की संज्ञा प्राप्त है। यहाँ भाव यह है कि लोक के राम आदि के हृदय में सीता आदि आलम्बन तथा उपवन-विहार आदि उद्दीपन-विभाव से रत्यादि-रूप स्थायी भाव उद्बुद्ध हुआ करता है। तो राम आदि की जो-जो अंग-चेष्टाएँ उनके उद्बुद्ध रत्यादि भावों को दूसरों पर प्रकट किया करती हैं उन्हें लोक में तो रत्यादि भावों के कार्य कहा जाता है किन्तु काव्य-नाट्य में कवि और नाटककार के वर्णन और अंकन के विषय बना दिए जाने पर इन्हें ही अनुभाव कहा जाता है। स्थायी भावों के उद्दीपक होने के कारण इन्हें रसों का अनुभव कराने वाला कहा गया है। भावों की सूचना देने के कारण ये भावों के अनु अर्थात् पश्चाद्वर्ती एवं कार्यरूप कहे गए हैं।

कटाक्षादि करण हैं इसलिए वे अनुभाव होंगे। भाव यह है कि अनुभाव की स्थिति में रस की उत्पत्ति अनिवार्य रूप से होगी। यहाँ एक शंका उठ सकती है। विभाव भी तो रस की उत्पत्ति के लिए करण (साधनरूप) हैं। इसलिए यह परिभाषा विभावों पर भी घट सकती है। यहाँ इसी शंका का निवारण करने के लिए कहा गया है कि फल के अभाव को निवृत्त करने वाला कारण ही करण कहलाता है। अर्थात् विभावमात्र से अनिवार्य रूप से फल (रस-निष्पत्ति) सम्भव नहीं होता जबकि अनुभावों (कटाक्षादि) से अनिवार्य रूप से होता है।

ननु रसे कथमनुभावकापेक्षेति चेत्। सत्यम्, स्थायीभावः परिपूर्णो रसः, तस्य चान्तरत्वाज्ज्ञापकेन विना कथं ज्ञानमित्यनुभावस्यापेक्षणीयत्वात्।

[शंका करते हैं कि रसों में अनुभाव की अपेक्षा नहीं है। ठीक है, परन्तु रस की पूर्ण स्थिति स्थायी भाव में ही होती है और वह रस आंतर है इसलिए उसकी अनुभूति ज्ञापक के बिना कैसे हो सकेगी। ज्ञापक के रूप में अनुभाव की अपेक्षा अवश्यम्भावी है।]

व्याख्या—इस सिद्धांत में पहली शंका यह उठाई गई है कि रसों में अनुभाव की अपेक्षा अर्थात् आवश्यक ा नहीं होती है क्योंकि विभाव को ही भाव्यमान होकर रसरूपता प्राप्त हो जाती है। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यह ठीक है किन्तु रस की पूर्ण स्थिति स्थायी भाव में ही होती है। विभाव, अनुभाव या व्यभिचारी भाव में पृथक्-पृथक् रस की स्थिति नहीं है। इनके योग से ही रस की सिद्धि होती है। और वह रस आंतर अर्थात् अनुभूति का विषय है, प्रत्यक्ष दृश्यमान् नहीं; इसलिए उसकी अनुभूति उसके ज्ञापक के बिना अर्थात् उसका ज्ञान कराने वाले के बिना कैसे होगी? अनुभाव ज्ञापक ही हैं और इसीलिए उनकी अपेक्षा अवश्यम्भावी है।

ननु कटाक्षादयः कथमुद्दीपनविभावा न भवंति, दृष्टे कटाक्षादौ कामिनोर्मनोविकारः परिपूर्णो भवति। अनुभवसिद्धत्वेनापह्नोतुमशक्यत्वात्। किंच, प्राचीनसंमतिरपि—

ईषद्वक्रितपक्ष्मपंक्तिभिरनाकूतस्मितैर्वीक्षितै—
रेतैरेव तवाद्य सुन्दरि करक्रोडे जगद्वर्तते।
अन्तःपांसुलहेमकेतकदलद्रोणी दुरापश्रियो
दोर्मूलस्य विभावनादिषु पुनः क्रूरे किमाकाङ्क्षसि॥ १॥

इत्यादय इति चेत् । सत्यम्, कटाक्षादीनां करणत्वेनानुभावकत्वम्, विषयत्वेनोद्दीपनविभावत्वम्, तथा चात्मनि रसाऽनुभवकरणत्वेन नायकं प्रति कटाक्षादयोऽनुभावाः । ते च दृष्टिगोचरीभूताः कामिनो-मनोविकारं कारयन्तो विषयत्वेनोद्दीपनविभावा इति ।

[शंका उठाते हैं कि कटाक्षादि को अनुभाव मानने की अपेक्षा इन्हें उद्दीपन-विभाव ही क्यों न माना जाए क्योंकि कटाक्षादि के दर्शन से प्रणयियों का मनोविकार पूर्ण हो जाता है । यह अनुभवसिद्ध भी है और इसे छिपाया भी नहीं जा सकता । इसी मत को प्राचीन विद्वानों की सम्मति से भी पुष्ट करते हैं —

पलकें थोड़ी तिरछी करके और स्वाभाविक मुसकराहट के साथ देखने मात्र से ही हे सुन्दरी, आज सारा जगत् तेरे हस्तगत है । फिर भी, हे निष्ठुरे ! तू अपनी भुजाओं के उस मूल भाग को बार-बार देखकर और क्या चाहती है जिस भाग की शोभा को पराग से परिपूर्ण स्वर्णकेतक का पुष्पगुच्छ भी नहीं पा सकता है ।

यहाँ कटाक्ष का उद्दीपन-विभाव के रूप में वर्णन किया है । इसका समाधान करते हैं कि यह ठीक है, परन्तु कटाक्षादि के दोनों ही रूप हैं । जहाँ उनमें स्थायी भाव का करणत्व है वहाँ वे अनुभाव होंगे और जहाँ वे प्रकर्षयुक्त रसजनकज्ञान के विषय होंगे वहाँ उद्दीपन-विभाव भी हो सकते हैं । और स्वयं रसानुभूति करने से नायक के संदर्भ में कटाक्षादि अनुभाव हैं और प्रणयियों के मनोभावों को उद्दीप्त करने में कारण होने पर उद्दीपन-विभाव होंगे ।]

व्याख्या —कटाक्ष आदि के दर्शन से प्रणयियों अर्थात् नायक-नायिका का मनोविकार पूर्ण हो जाता है । यह बात लोक में अनुभव से भी सिद्ध है और ऐसा स्पष्ट देखा भी जाता है । तो इस आधार पर इन्हें उद्दीपन-विभाव क्यों न कहें । रचनाओं में भी इसी अभिमत की पुष्टि है । उदाहरण के लिए प्राचीन रचना को लीजिए । एक सखी अपनी दूसरी सखी से कह रही है कि दृष्टि को कटाक्षपूर्वक तिरछी करके और स्वाभाविक स्मित के रूप में ही ऐसे सौन्दर्य वाली तुझ को देखने से यह सारा संसार तेरे वश में हो गया है । अर्थात् जगत् को वश में करने के लिए तेरे इतने ही सौन्दर्य से अधिक कुछ नहीं चाहिए । फिर भी तू अपनी भुजाओं के उस मूल भाग अर्थात् वक्ष-प्रदेश को बार-बार देखकर और क्या चाहती है ? अर्थात् संसार तो पहले ही तेरे वश में है, इससे अधिक

और तू क्या प्राप्त करना चाहती है। भाव यह है कि अभी भी तुझे सन्तोष नहीं है इसीलिए स्वर्णकेतक के पुष्पगुच्छ से भी कहीं अधिक सुन्दर अपने वक्ष-प्रदेश को बार-बार देखकर तू और भी कुछ चाहती है।

स्पष्ट ही यहाँ कटाक्ष का वर्णन उद्दीपन-विभाव के रूप में किया गया है क्योंकि नायिका के कटाक्ष और स्मित से ही सारा संसार उसके वश में हो गया है। इस प्रकार कटाक्ष को अनुभाव न मानकर विभाव ही मानें तो उचित होगा। इसके उत्तर में भानुदत्त ने कहा है कि कटाक्षादि के दोनों ही रूप हैं। अनुभाव वे वहाँ पर हैं जहाँ वे स्थायी भाव के कारणत्व से युक्त हैं तथा विभाव वहाँ पर हैं जहाँ वे प्रकर्षयुक्त रसजनकज्ञान के विषय हैं। उदाहरण के लिए एक नायक जो स्वयं रसानुभूति कर रहा है उसके लिए कटाक्ष अनुभाव है और जहाँ कटाक्ष से नायक-नायिका के मनोभावों को उद्दीप्त होने में सहायता मिल रही है वहाँ उद्दीपन-विभाव है।

स चानुभवः कायिकमानसाहार्यसात्त्विकभेदाच्चतुर्धा। कायिका भुजक्षेपादयः, मानसाः प्रमोदादयः, नाट्ये चतुर्भुजत्वज्ञानादय आहार्याः, सात्त्विका रोमाञ्चादयः।

[यह अनुभाव कायिक, मानस, आहार्य और सात्त्विक भेद से चार प्रकार का है। हस्त आदि का संचालन कायिक, उल्लास आदि मानसिक अनुभाव हैं। नाटकादि में चतुर्भुज आदि रूप धारण करना आहार्य और रोमाञ्च आदि सात्त्विक अनुभाव हैं।]

व्याख्या—अनुभाव चार प्रकार के हैं। वे हैं—कायिक अर्थात् शारीरिक, मानस अर्थात् मानसिक, आहार्य और सात्त्विक। प्रायः 'तन की कृत्रिम चेष्टा' को शारीरिक अथवा कायिक अनुभाव कहा गया है। इसके अंतर्गत भिन्न-भिन्न मनोभावों के अनुसार कटाक्षपात, भृकुटि-भंग आदि आंगिक क्रियाओं को माना जाता है। भानुदत्त ने उपर भुजक्षेप उदाहरण दिया है। मानसिक अनुभाव के लिए 'मन सम्भव मोदादि कहँ' की बात कही गई है। वास्तव में अन्तःकरण की भावना के अनुकूल मन में हर्ष-विषाद आदि के उद्वेलन को मानसिक अनुभाव कहा गया है। हर्ष के क्षेत्र में भानुदत्त ने प्रमोद का उदाहरण दिया है। आहार्य के संबंध में उन्होंने कहा है कि नाटकादि में चतुर्भुज आदि रूप धारण करना इस क्षेत्र में आता है। यह ठीक है कि नाटक में आहार्य अनुभावों की सर्वाधिक सिद्धि होती है किन्तु इसे सीमित दृष्टिकोण कहा जाएगा। वास्तव में मन में जब जैसा भाव उत्पन्न हो, उसके अनुकूल भिन्न-भिन्न प्रकार

की वेश-रचना को आहार्य अनुभाव कहा जाएगा। अन्तःकरण के विशेष धर्म 'सत्त्व' से उत्पन्न ऐसे अंग-विकार को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं जिससे हृदयगत रस या भाव का ज्ञान होता है। इसीलिए इन्हें मनःप्रभव कहा गया है।

अथ शृङ्गारस्याऽनुभावाः। तत्र भरतः—

नयनवदनप्रसादैः स्मितमधुरवचनप्रमोदैश्च।
विविधैरङ्गविकारैस्तस्याऽभिनयः प्रयोक्तव्यः॥ २॥

कटाक्षभुजक्षेपादय ऊहनीयाः। यथा—

[शृङ्गार-रस के अनुभाव, भरत के अनुसार—नयन और मुख के विकास से, स्मित, मधुर वचन और प्रमोद से तथा विविध शारीरिक चेष्टाओं से उस का अभिनय होता है। यहाँ कटाक्ष एवं हस्त-संचालन आदि भी सम्मिलित हैं। एक उदाहरण—]

व्याख्या—नयन और मुख में विकसित उल्लास, मन्द मुसकान, प्रिय संभाषण और प्रमोद तथा अन्य विविध प्रकार की आंगिक चेष्टाओं से शृङ्गार-रस की अभिव्यक्ति की जाती है। कटाक्ष और भुजक्षेप अर्थात् हस्त-संचालन को इन्हीं में स्वीकार कर लेना चाहिए। अन्य विविध प्रकार की आंगिक चेष्टाओं में प्रिय के प्रति किए गए विविध शारीरिक संकेत ही ग्राह्य होंगे। यहाँ एक उदाहरण दिया गया है—

मुक्ताहारः स्तनकलशयोः कर्णयोः कर्णिकारं
मौलौ माला परिभवभयादेव दूरे न्यवारि।
दृष्टेऽभीष्टे समजनि पुनः सुभ्रुवो भूषणाय
प्रातर्वातोत्तरलकमलद्रोहदक्षः कटाक्षः॥ ३॥

[अपने प्रियतम के दर्शन हो जाने पर उस सुन्दर भौंहों वाली सुन्दरी के लिए, प्रातःकालीन वायु से चंचल हुए कमल के समान सुन्दर उसके कटाक्ष ही पर्याप्त आभूषण थे (और इसीलिए) स्तनकलशों से मुक्ताहार, कानों से पुष्पाभूषण और केशपाश से माला को मानो अपमानित होने के भय से दूर कर दिया।]

व्याख्या—यहाँ प्रिय के दर्शन पर नायिका के सुन्दर कटाक्ष का वर्णन है। नायिका ने प्रिय-दर्शन होने पर अन्य आभूषण—स्तनकलशों का मुक्ताहार, कानों का पुष्पाभूषण और केशपाश की माला को इसलिए हटा दिया कि वे नायक को आकर्षित करने के लिए कटाक्ष से हीन सिद्ध हो रहे थे। नायिका का

कटाक्ष कैसा है ? इस विषय में कहते हैं कि वह ऐसे कमल के समान सुन्दर है जो प्रातःकालीन वायु के स्पर्श से चंचल हो रहा है। अतः अन्य आभूषणों की तुलना में नायिका का यह चंचल कटाक्ष अत्यधिक सुन्दर है। यहाँ नायिका में नायक-विषयक रति होने से उसका कटाक्ष अनुभाव है।

अथ हास्यस्याऽनुभावाः। तत्र भरतः—

विकृताकारैर्वाक्यैरङ्गविकारैर्विकृतवेषैश्च।
हास्यं जनयेद्यस्मात्तस्माज्ज्ञेयो रसो हास्यः ॥ ४ ॥

आस्याधरविवरणदशनदर्शननासाकपोलस्पन्ददृष्टिव्याकुञ्चनादय ऊहनीयाः। यथा—

[हास्य-रस के अनुभाव, भरत की सम्मति में—विकृताकार वाक्यों से, अंग-विकारों से और विकृत वेश से हास्य-रस जाना जाता है। मुख और ओष्ठों का संचालन, दाँतों का दिखाना, नासिका और कपोल का फड़काना तथा दृष्टि-संकुचन आदि भी इसी में ग्राह्य हैं। जैसे—]

व्याख्या—भरत के अनुसार यहाँ हास्य-रस के अनुभाव बताते हैं। विकृताकार वाक्य अर्थात् ऐसे वाक्य जिनकी बनावट विचित्र है, अंगविकार अर्थात् शैथिल्य आदि का अनुकरण और विकृत अर्थात् विचित्र परिधान का ग्रहण, इनसे जो रस जाना जाता है वह हास्य-रस है। मुख और ओठों को इधर-उधर घुमाना, दाँतों को बाहर निकालना, नाक और कपोलों को हिलाना तथा नेत्रों को मीचना आदि इसी में सम्मिलित हैं। एक उदाहरण दिया है—

पात्रीकृत्य कपालमण्डलमिदं पीयूषभानोः कलां
वर्तीकृत्य फणामणिं फणिपतेः सम्पाद्य तस्यां शिखाम्।
सायं दीपविधिं वितन्वति शिशौ मन्दं हसन्त्या तया
किञ्चित्कुञ्चिदपांगभंगकुटिला दृष्टिः समारोपिता ॥ ५ ॥

[कपालमंडल को पात्र बनाकर, चन्द्रमा की कला को बत्ती बनाकर और शेषनाग के फण की मणि को उसकी शिखा बनाकर सायंकालीन दीपविधि का संपादन करते हुए शिशु को देखकर मन्द-मन्द हँसती हुई पार्वती ने किञ्चित् वक्र नेत्रकोण की चेष्टा से कुटिल दृष्टि उस पर डाली।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में शिशु गणेश की हास्यजनक चेष्टाओं को देखकर पार्वती पर हुई प्रतिक्रिया का वर्णन है। शिशु गणेश की चेष्टाएँ ऐसी हैं कि वे दीपक के पात्र के लिए कपाल का प्रयोग, बत्ती के लिए चन्द्रमा की कला का प्रयोग और प्रकाशमयी लौ के लिए शेषनाग के फण की मणि का

प्रयोग कर रहे हैं और इस प्रकार सन्ध्या में दीप जलाने की क्रियाओं का उपक्रम कर रहे हैं। यहाँ पार्वती की कुटिल दृष्टि अनुभाव है।

अथ करुणाऽनुभावाः। तत्र भरतः—

निःश्वसितेन च रुदितैर्मोहागमनपरिदेवनैश्चैव।
अभिनेयः करुणरसो देहाघातादिभिश्चैव॥ ६॥

मुखशोषप्रलापवैवर्ण्यादय ऊहनीयाः। यथा—

[करुण-रस के अनुभाव, भरत के अनुसार—निःश्वास, रोदन, मूर्च्छा, दुःखकथा तथा देहताड़न आदि से करुण-रस अभिनेय (जानने योग्य) है। मुखशोष (उदासी), प्रलाप और विवर्णता—ये भी इसी में ग्राह्य हैं। जैसे—]

व्याख्या—प्रिय व्यक्ति के मृत्युजनित बिछोह के कारण शोक में हुए निःश्वास, रुदन, मूर्च्छा, स्मरण तथा देहताड़न से करुण-रस का अभिनय किया जाता है। इन्हीं में उदासी, प्रलाप और विवर्णता को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए। यहाँ एक उदाहरण है—

ताते निर्गच्छति गणपतौ नाकनद्याऽपि तस्या
वाचां देव्यास्त्यजति शिथिलं कङ्कणं नैव दोष्णोः।
अद्याप्यार्द्रीभवति कुचयोर्नैव पाटीरपंको
नेत्रे निर्यत्पयसि न पुनः कज्जलं स्थैर्यमेति॥ ७॥

[पूज्य पिता गणपति के स्वर्गवास हो जाने पर आज भी वाग्देवी की भुजाओं के कंकण शिथिल ही बने हुए हैं, स्तनों का चन्दन-पंक भी शुष्क ही बना है और आँखों से निरन्तर बहने वाले अश्रुप्रवाह के कारण काजल स्थिर नहीं हो पाता है।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में भानुदत्त ने अपने पिता (गणपति मिश्र) के दिवंगत होने पर उनके वियोग में सरस्वती की करुणावस्था का चित्रण किया है। इस श्लोक से यह सिद्ध है कि भानुदत्त के पिता गणपति मिश्र परम विद्वान् व्यक्ति थे। यहाँ कल्पना की गई है कि पिता की मृत्यु से सरस्वती को वैधव्य प्राप्त हो गया है। वाग्देवी की भुजाओं के कङ्कण दुर्बलता के कारण शिथिल हो गए हैं, अर्थात् वाग्देवी का समस्त शरीर कृश हो गया है; विरह-दुःख के कारण स्तनों का चन्दन-पंक सूख गया है और अविराम रोदन से नेत्रों में डाला गया काजल बह जाता है। यहाँ सरस्वतीनिष्ठ निःश्वास, रोदनादि अनुभाव हैं।

अथ रौद्ररसस्याऽनुभावाः। तत्र भरतः—

नानाप्रहरणसंकुलशिरसः कम्पैः कराग्रनिष्पेषैः।

घोरैरर्थविशेषैस्तस्याभिनयः प्रयोक्तव्यः ॥ ८ ॥
भ्रुकुटीदन्तौष्ठपीडनादय ऊहनीयाः । यथा—

[रौद्र-रस के अनुभावों का वर्णन करते हैं । भरत के अनुसार—अत्यधिक प्रहार करने के कारण काँपते हुए सिर से, हाथों को मलने से और विकट अर्थविशेषों (चेष्टा या कर्म) से रौद्र-रस की अभिव्यक्ति के लिए अभिनय करना चाहिए । भौंह, दांत, ओष्ठों के पीड़न आदि भी ग्राह्य हैं । जैसे—]

व्याख्या—भरत के मत के अनुसार यहाँ रौद्र-रस के अनुभावों का वर्णन किया गया है। नाना प्रकार के अत्यधिक प्रहार के कारण काँपते हुए व्याकुल सिर से, पराजय के भाव में हस्ताग्र को परस्पर मलने से और घोर अर्थविशेषों–अर्थात् अदर्शनीय कर्म व चेष्टाओं से अभिनय किए जाने पर रौद्र-रस की अभिव्यक्ति होती है। इन्हीं में भ्रू-संकुचन, दन्त-घर्षण और ओठों के पीड़न को भी सम्मिलित कर लेना चाहिए। इस संबंध में यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत किया गया है—

येये भीमेन बद्धभ्रुकुटिघनरवं दन्तनिष्पीडितोष्ठं
विक्षिप्ता व्योम्नि विन्ध्याचलचटुलचमत्कारभाजः करीन्द्राः ।
तेषामेषा कपोलादिव भयविधुता काचिदुड्डीय लग्ना
बिम्बे पीयूषभानोर्मधुकरपटली लाञ्छनस्यच्छलेन ॥ ९ ॥

[भौंहें चढ़ाकर, घोर शब्द करते हुए, दांतों और ओष्ठों को पीसते हुए भीमसेन ने विन्ध्याचल के सदृश भीमकाय जो-जो हाथी आकाश में फेंके, मानो उन्हीं के गण्डस्थल से भय के कारण उड़ी हुई भौंरों की मण्डली चन्द्रमा के बिम्ब पर जाकर ठहर गई है और वही चन्द्रमा में कलंक के रूप में दिखाई दे रही है।]

व्याख्या—प्रस्तुत उदाहरण में भीमसेन के रौद्र रूप का वर्णन है जब वह युद्ध में बड़े-बड़े हाथियों को उठाकर आकाश में फेंकता है। भीमसेन का रौद्र रूप कैसा है, इस संबंध में कहा गया है कि उनकी भौंहें चढ़ी हुई हैं, घोर शब्द का वे उच्चारण कर रहे हैं, दाँतों का घर्षण कर रहे हैं और ओठों को पीड़ित कर रहे हैं। हाथियों का आकार विन्ध्याचल के सदृश विशालकाय बताया गया है। ऐसे हाथियों को भी वे अनायास ही उठाकर आकाश की दिशा में फेंक देते हैं। चन्द्रमा में जो लांछन दीख पड़ता है उस के लिए कल्पना की गई है कि वह चन्द्रमा पर बैठा हुआ भौंरों का समूह है जो हाथियों के गण्ड-स्थलों से भय के कारण उड़ कर यहाँ आकर बैठ गया है। यहाँ भीम का

ओष्ठ और दाँतों को पीसना और हाथियों को फेंकना आदि कर्म अनुभाव हैं।

अथ वीरस्याऽनुभावाः। तत्र भरतः—

शौर्यधैर्यवीर्यैरुत्साहपराक्रमप्रभावैश्च।

वाक्यैराक्षेपकृतैर्वीररसः सम्यगभिनेयः॥ १०॥

विजयबलादय ऊहनीयाः। नन्वतीन्द्रियस्य रसस्य ज्ञापकाः शरीरधर्मा भवितुमर्हन्ति त एव सर्वत्रोक्ताः। तथा च धैर्योत्साहौ न शरीरधर्माविति चेत्। सत्यम्, धैर्यपदेन चाञ्चल्याभाव उत्साहपदेन चाश्रुपातादयो विवक्षिताः। यद्वा—अनुभावश्चतुर्विधः, तत्र मानसोऽप्यनुभाव उक्तः। तस्य च ज्ञानमेवाऽनुभावकम्। तच्च मानसमैन्द्रियकं वेति न विशेषः।

[वीर-रस के अनुभाव, भरत के अनुसार—शौर्य, धैर्य और वीरता से; उत्साह, पराक्रम और प्रभाव से तथा आक्षेपपूर्ण वाक्यों से वीर-रस का अभिनय होता है। विजय प्राप्त करने की शक्ति आदि भी ग्राह्य हैं। यहाँ एक शंका उठाई गई है कि अतीन्द्रिय रस के ज्ञापक शारीरिक धर्म होते हैं; ऐसा ही सर्वत्र स्वीकार किया गया है। यहाँ धैर्य और उत्साह शारीरिक धर्म नहीं हैं अपितु मन के हैं (इसलिए ये अनुभाव नहीं हो सकते)। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि उक्त लक्षण में 'धैर्य' से अभिप्राय 'चंचलता के अभाव' तथा 'उत्साह' से अभिप्राय 'अश्रुपातादि' का है (और ये दोनों ही शारीरिक धर्म हैं इसलिए अनुभाव हो सकते हैं)। अथवा—अनुभाव चार प्रकार का कहा गया है, उनमें मानस अनुभाव भी है। उसका ज्ञान-मात्र ही अनुभावन की शक्ति रखता है। इसलिए मानस हो या शारीरिक, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता।]

व्याख्या—यहाँ भरत की सम्मति देते हुए शौर्य, धैर्य और वीरता; उत्साह, पराक्रम और प्रभाव तथा आक्षेपपूर्ण वाक्यों को वीर-रस के अनुभाव कहा गया है और यह अनुमति भी दी गई है कि इनमें विजय प्राप्त करने की शक्ति को भी सम्मिलित किया जा सकता है। यहाँ वीर्य से तात्पर्य बल-विशेष से है, शत्रु का बन्धन करना पराक्रम कहलाता है और उसका वध करना प्रभाव कहलाता है। आक्षेपपूर्ण वाक्यों से तात्पर्य है शत्रु के प्रति कहे गए तिरस्कारपूर्ण वचन। इस संबंध में एक शंका उठाई गई है। वह यह है कि कहा जाता है कि शारीरिक धर्म ही अप्रत्यक्ष रस का ज्ञान कराते हैं। उपर्युक्त अनुभावों में 'धैर्य' और 'उत्साह' को छोड़कर सभी शारीरिक धर्म हैं। 'धैर्य' और 'उत्साह' शरीर के

व्यापार न होकर मन के व्यापार हैं। इसलिए कोई कह सकता है कि ये शारीरिक धर्म न होकर मन के धर्म हैं—इसलिए रस के ज्ञापक नहीं हैं, अर्थात् इन्हें अनुभावों के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। भानुदत्त का कहना है कि ऐसा नहीं है। उन्होंने इसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि 'चंचलता का अभाव' ही 'धैर्य' है और 'अश्रुपातादि' ही 'उत्साह' है। और ये दोनों शारीरिक धर्म हैं। अतः ये अनुभाव कहे ही जाएँगे। अपने मत का सुदृढ़ प्रतिस्थापन करने के लिए भानुदत्त ने एक और प्रकार से भी इस शंका का समाधान किया है। वे कहते हैं कि पहले अनुभाव चार प्रकार के कहे जा चुके हैं—कायिक अर्थात् शारीरिक, मानस अथवा मानसिक, आहार्य और सात्त्विक। इनमें किसी भी प्रकार के अनुभाव का ज्ञान-मात्र ही अनुभाव में समर्थ होता है। अतः अनुभाव शारीरिक हो या मानसिक—इससे कोई अंतर नहीं पड़ता। यहाँ हम यह भी कह सकते हैं कि 'धैर्य' और 'उत्साह' भी मनःरूप अनुभाव है। शारीरिक अनुभाव की भी उनमें प्रत्यक्ष सिद्धि है।

युद्धवीरस्याऽनुभावो। यथा—

अग्रे वासवजित्समग्रसमरव्यापारदीक्षागुरुः
पार्श्वे तस्य विपक्षपक्षदमनक्रीडाधनो रावणः।
इत्थं जल्पति सर्वतः परिजने सन्ध्यास्मृतिं कुर्वतः
श्रीरामस्य न कुम्भकस्य पवने क्षुण्णः स कोऽपि क्रमः ॥११॥

[युद्धवीर का अनुभाव। जैसे—'युद्धकौशल की सभी विधियों में निपुण इन्द्रजित् आगे (सेनापति है और उसके पीछे खेल-खेल में शत्रुपक्ष का दमन करने वाला रावण है।' सभी स्वजनों के ऐसा कहने पर भी सन्ध्या करते हुए श्रीराम की प्राणायाम-क्रिया के क्रम में व्याघात नहीं पड़ा।]

व्याख्या—यहाँ पर युद्धवीर का अनुभाव बताने के लिए एक उदाहरण दिया गया है। श्रीराम सन्ध्या करते हुए प्राणायाम-क्रिया में दत्तचित हैं। उधर लंका की सेना युद्ध के लिए सज्जित होकर आगे बढ़ती आ रही है। इस विषय में कहा गया है कि इन्द्रजित् उसका संचालन करते हुए सबसे आगे हैं। वे इन्द्रजित् युद्धकौशल की सभी विधियों में निपुण हैं। इन्द्रजित् के पीछे रावण चल रहा है जिसके लिए शत्रु का संहार करना क्रीड़ा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यह देखकर राम के शुभचिन्तकों ने सन्ध्या करते हुए राम को चेतावनी दी। किन्तु वे दत्तचित्त हो कर उसमें ही लगे रहे, अर्थात् वे उसी निर्विकार भाव से सन्ध्या और प्राणायाम करते रहे। यहाँ इन्द्रजित् और रावण

के शौर्य का वर्णन सुनकर भी अप्रभावित रहने वाले राम के धैर्य का वर्णन है। स्पष्ट ही यहाँ राम में चंचलता का अभाव-रूप धैर्य अनुभाव है। राम निश्चय ही युद्धवीर हैं।

दयावीरस्याऽनुभावो यथा—

ध्वान्तस्तोमधरे जगद्भयकरे पाथोधरे वर्षति
क्रोडव्याकुलवत्सगोकुलदयादीनेक्षणः केशवः ।
हस्तन्यस्तमहीधरच्युतिभिया नैवांगुलीपल्लवै-
र्वेणुं स्त्रस्तमुरीकरोति न तनोः स्त्रस्तं हरत्यंशुकम् ॥ १२ ॥

[दयावीर का अनुभाव उदाहरणार्थ—अन्धकार-समूह को धारण करने वाले और जगत् को भयभीत करने वाले मेघ के बरसने पर, अपने ही निकट व्याकुल बछड़ों और गायों के प्रति दया से दीन दृष्टि वाले श्रीकृष्ण, हाथ में रखे हुए पर्वत के छूट जाने के भय से, न तो गिरती हुई वेणु को अंगुली-पल्लवों से संभालते हैं और न शरीर के गिरते हुए वस्त्रों को ही संभालते हैं।]

व्याख्या—यहाँ वर्षा के कारण जलमग्न गोवर्द्धन का उद्धार करने वाले श्रीकृष्ण की दया का वर्णन है। मेघ अन्धकार-समूह को धारण करने वाले हैं अर्थात् जल से परिपूर्ण हैं और वर्षा से समस्त जग को भयभीत करने वाले हैं। बछड़ों और गायों की रक्षा में तत्पर श्रीकृष्ण की दृष्टि उनके प्रति हृदय की दया के कारण दीन हो गई है। उन्होंने हाथ में गोवर्द्धन पर्वत को संभाला हुआ है। उनके हाथों से वेणु छूट रही है और शरीर से वस्त्र स्खलित हो रहा है किन्तु वे उन्हें इस भय से नहीं संभाल रहे कि कहीं इस प्रयास में उन बछड़ों और गायों की रक्षा के निमित्त हाथ में धारण किया हुआ गोवर्द्धन पर्वत हाथ से छूट न जाए, अर्थात् कहीं इनको संभालने में पर्वत न छूट जाए और बछड़ों तथा गायों पर संकट आ जाए। यहाँ दयावीर का धैर्य अनुभाव है। श्रीकृष्ण दयावीर हैं।

दानवीरस्याऽनुभावो यथा—

औदास्यं न विधेहि गच्छ न गृहात्संवीक्ष्य मृद्भाजनं
याचे किन्तु भवन्तमेतदखिलं कौत्स क्षणं क्षम्यताम् ।
दासश्चेदहमस्मि चेद्वसुमती सर्वैव संगृह्यतां
स्वर्णं चेद्गुरुदक्षिणा धनपतेरानीय सम्पाद्यते ॥ १३ ॥

[दानवीर का अनुभाव, जैसे—"हे कौत्स ! मेरे यहाँ मिट्टी के पात्र देख-कर उदास न होइए और न ही घर से जाइए। आप क्षण भर के लिए क्षमा करें, मैं आपसे केवल इतनी ही याचना करता हूँ, यदि मुझ सेवक से गुरु-दक्षिणा चुकायी जा सकती हो तो मैं उपस्थित हूँ, यदि पृथ्वी के द्वारा आप अपनी गुरुदक्षिणा चुकाना चाहें तो सारी पृथ्वी ले लीजिए, और यदि गुरुदक्षिणा में स्वर्ण ही देना हो तो वह भी कुबेर से लाकर मैं पूरी कर दूँगा।]

व्याख्या—यहाँ यज्ञ में सर्वस्व दान कर देने पर भी कौत्स को अपने गुरु की दक्षिणा चुकाने के लिए स्वर्ण-राशि देने के लिए रघु के उत्साह का वर्णन है। सर्वस्व दान कर देने से रघु ने कौत्स का स्वागत मिट्टी के पात्रों से ही किया था। कौत्स के प्रति रघु का यह कथन है कि मेरे यहाँ मिट्टी के पात्र देख कर इसलिए उदास न होइए कि यहाँ से कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। उसके लिए तो मैं स्वयं, मेरी यह समस्त पृथ्वी और कुबेर का स्वर्ण भी प्रस्तुत है। यहाँ कौत्स आलम्बन, दानवीर रघु का दान ही अनुभाव है।

अथ भयानकस्याऽनुभावाः। तत्र भरतः—

करचरणनेत्रमस्तकसर्वांगानां प्रकम्पनैश्चैव।
शुष्कोष्ठतालुकण्ठैर्भयानको नित्यमभिनेयः ॥ १४ ॥

रोमाञ्चवदन वैवर्ण्यस्वरभेदादय ऊहनीयाः। यथा—

[अब भयानक-रस के अनुभाव कहते हैं। भरत के मत में—कर, चरण, नेत्र, मस्तक आदि सर्वांगों के प्रकम्पन तथा ओष्ठ, तालु और कण्ठ के शुष्क रूप से भयानक-रस अभिनेय होता है। रोमाञ्च, मुख का विवर्ण होना तथा स्वरविकार आदि भी इसमें गृहीत होंगे। जैसे—]

न्यस्तव्यस्ततृणावलीढवदनव्याकीर्णफेनोच्चयं
काकुव्याकुलघोरघर्घररवं स्फारीभवल्लोचनम्।
कम्पप्रस्खलदंघ्रिवामनतनुश्वासोर्मिनुन्नाधरं
विस्तीर्णे भुजगस्य वक्रकुहरे कृष्णस्य गावः स्थिताः ॥१५॥

[टूटे और बिखरे घास के तिनकों से युक्त जिनके मुख से फेन निकल रहा है, व्याकुल होकर जोर से और विचित्र स्वर में रम्भाती हुई जिन की आँखें फैल गई हैं, काँपते हुए जिनके पैर अस्थिर हो गए हैं, शरीर भी सिकुड़ गया है और लम्बे-लम्बे निःश्वासों से जिनके ओष्ठ कांप रहे हैं, ऐसी कृष्ण की गायें भुजंग के विस्तृत मुख-गह्वर में जा पड़ीं।]

व्याख्या—यहाँ नाग के विस्तृत मुख में प्रविष्ट भयभीत कृष्ण की गायों का वर्णन है। गायों के लिए कहा गया है कि उनके मुख में घास के टूटे और बिखरे हुए तिनके हैं तथा मुख से झाग निकल रहा है, भयाकुल होकर वे वेग सहित विचित्र स्वर में रम्भा रही हैं; नेत्र विस्फारित हो गए हैं, उनके स्थिर पैर काँपने के कारण अस्थिर हो गए हैं, शरीर भय के कारण संकुचित हो गया है तथा उनके ओष्ठ इसलिए प्रकम्पित हो रहे हैं क्योंकि वे दीर्घ निःश्वास छोड़ रही हैं। यहाँ भुजंग आलम्बन के कारण भयभीत गायों में कम्पन आदि अनुभाव हैं।

अथ बीभत्साऽनुभावाः। तत्र भरतः—

आननेत्रविघूर्णननासास्यच्छादनैश्चैव।
अव्यक्तपादपतनैर्बीभत्सः सम्यगभिनेयः॥ १६॥

सर्वांगसंहारष्ठीवनादय ऊहनीयाः। यथा—

[बीभत्स-रस के अनुभाव, भरत के अनुसार—मुख, नेत्र को घुमाना या बनाना, नासिका और मुख के ढकने से तथा अस्वाभाविक रूप से पादविक्षेपादि से बीभत्स का अभिनय होता है। सभी अंगों का सिकोड़ना और थूकना आदि भी ग्राह्य हैं। जैसे—]

कपटहरेर्मुखकुहरे विकृते संवीक्ष्य दिनकरं लक्ष्मीः।
हतदैत्यपललकवलभ्रान्त्या मुखमंशुकैः पिदधे॥ १७॥

[मायारूप धारण किए हुए विष्णु के विकृत मुख में सूर्य को मारे हुए दैत्य का मांस समझकर लक्ष्मी कपड़े से मुख को ढकती है।]

व्याख्या—मायावी विष्णु के मुख में सूर्य को मांस का ग्रास समझती हुई लक्ष्मी की घृणा व्यंजित है। विष्णु ने मायारूप धारण किया हुआ है और उनके मुख में सूर्य स्थित है। यह दृश्य देखकर लक्ष्मी समझती हैं कि विष्णु ने अभी जिस दैत्य का संहार किया था उसके मांस को भक्षणार्थ मुँह में ले लिया है। इससे उन्हें घृणा होती है और उस दृश्य को अदर्शनीय करने के लिए वे अपने मुँह को कपड़े से ढक लेती हैं। यहाँ दैत्य का मांस आलम्बन तथा लक्ष्मी का मुख ढकना अनुभाव है।

अथाद्भुतरसाऽनुभावाः। तत्र भरतः—

करस्पर्शग्रहणोल्लासैर्हाहाकारैश्च साधुवादैश्च।
वेपथुगद्गदवचनैः स्वरभेदैरभिनयस्तस्य॥ १८॥

निर्निमेषप्रेक्षणरोमाञ्चादय ऊहनीयाः। यथा—

[अद्भुत-रस के अनुभाव, भरत की सम्मति में—हाथ के स्पर्श और ग्रहण से उल्लास प्रकट करके, हा ! हा ! शब्द करके, साधुवादों से, कम्प और गद्गद वचनों से तथा स्वरभेद से अद्भुत का अभिनय होता है। अपलक होकर देखना, रोमाञ्च आदि भी ग्राह्य हैं। जैसे—]

व्याख्या—अद्भुत दृश्य के देखने पर करों का परस्पर स्पर्श करना और एक हाथ से दूसरे हाथ का ग्रहण करना तथा इस पद्धति से अपने हर्षजनित चित्तविकास को प्रदर्शित करना, आश्चर्यसूचक हा ! हा ! शब्दों का उच्चारण करना, साधुवाद करना अर्थात् प्रशंसा करना, कम्पित गद्गद वचनों से बोलना तथा स्वरभेद आदि अद्भुत के अनुभाव हैं। अपूर्व दृश्य या कर्म को पलक झपके बिना देखते रह जाना, रोमाञ्चित हो जाना आदि भी यहाँ सम्मिलित हैं। एक उदाहरण दिया गया है—

पाण्डवं वीक्ष्य दोर्दण्डखण्डितारातिमण्डलम् ।
अद्याऽपि नाकिनां नेत्रे निमेषा नैव जाग्रति ।। १६ ।।

[अपने बलशाली भुजदण्डों से शत्रमण्डल को खण्डित करने वाले पाण्डव को देखकर आज भी देवताओं की पलक नहीं झपकती हैं।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में पाण्डव अर्जुन अपनी शक्तिशालिनी भुजाओं से शत्रुओं के समूह का मर्दन कर रहा है। यह अत्यन्त ही अद्भुत दृश्य है। इसे देखते हुए देवगण आज भी आश्चर्यचकित हैं और उनकी पलकें निमिष मात्र के लिए भी नहीं झपक रही हैं। अर्थात् वे आश्चर्य से इतने स्तब्ध हो गए हैं कि युद्ध समाप्त हो जाने पर भी अपलक बैठे हैं।

यहाँ अर्जुन आलम्बन तथा देवताओं का उसे युद्ध करते हुए निर्निमेष प्रेक्षण अनुभाव है।

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यामनुभावनिरूपणं नाम तृतीयस्तरंगः ।

[भानुदत्त विरचित 'रसतरंगिणी' की अनुभावनिरूपण नामक तृतीय तरंग समाप्त हुई ।]

चतुर्थस्तरङ्गः

अथ सात्त्विकभावा निरूप्यन्ते। तत्र भरतः—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभेदोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रुप्रलय इत्यष्टौ सात्त्विका मताः॥ १॥

[अब सात्त्विक भावों का निरूपण करते हैं। भरत के अनुसार—स्तम्भ, स्वेद, रोमांच, स्वरभेद, वेपथु (कम्प), वैवर्ण्य, अश्रु, प्रलय (चेष्टा-निरोध) ये आठ सात्त्विक भाव माने गए हैं।]

नन्वस्य सात्त्विकत्वं कथम्, व्यभिचारित्वं न कुतः, सकलरससाधारण्यादिति चेत्। अत्रकेचित्, सत्त्वं नाम परगतदुःखभावनायामत्यन्ताऽनुकूलत्वम्, तेन सत्त्वेन धृताः सात्त्विका इति व्यभिचारित्वमनादृत्य सात्त्विकव्यपदेश इति। तन्न, निर्वेदस्मृतिप्रभृतीनामपि सात्त्विकव्यपदेशापत्तेः। न च परदुःखभावनायामष्टावेते समुत्पद्यन्त इत्यनुकूलशब्दार्थः। अत एव सात्त्विकत्वमप्येतेषामिति वाच्यम्। निर्वेदादेरपि परदुःखभावनायामप्युत्पत्तेरिति। अत्रेदं प्रतिभाति—सत्त्वशब्दस्य प्राणिवाचकत्वादत्र सत्त्वं जीवशरीरम्। तस्य धर्माः सात्त्विकाः। इत्थं च शारीरभावाः स्तम्भादयः सात्त्विका भावा इत्यभिधीयन्ते। स्थायिनो व्यभिचारिणश्च भावा आन्तरतया न शरीरधर्मा इति।

[(यहाँ एक शंका उठाई गई है कि) इन्हें सात्त्विक भाव क्यों कहा गया है, व्यभिचारी भाव क्यों नहीं? यदि कहो कि सभी रसों में ये समान रूप से रहते हैं इसलिए ये सात्त्विक भाव हैं तो यह उचित नहीं है। कुछ का यह कहना है कि सत्त्व से अभिप्राय है—परगतदुःखभावना से तादात्म्य-रूप सात्त्विकता से युक्त होने के कारण ही इन्हें सात्त्विक भाव कहा गया है, यह विशेषता व्यभिचारियों में नहीं है, यह भी ठीक नहीं है क्योंकि निर्वेद, स्मृति आदि व्यभिचारियों में भी यह सात्त्विक भाव निहित रहता है। यह विचार भी उपयुक्त नहीं कि परगतदुःखभावना में इन आठ की ही उत्पत्ति होती है इसलिए यह शब्द इनके लिए ही अनुकूल है और ये ही सात्त्विक कहलाएंगे। क्योंकि परगतदुःखभावना में निर्वेदादि की भी उत्पत्ति होती है।

(इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि) यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि सत्त्व शब्द प्राणीवाचक है, यहाँ सत्त्व का अभिप्राय जीवयुक्त शरीर से है। उस (शरीर) के धर्म को सात्त्विक कहते हैं। इस प्रकार शरीर के भाव स्तम्भ आदि सात्त्विक भाव कहाएंगे। स्थायी और व्यभिचारी भाव आन्तर भाव हैं, शरीर के धर्म नहीं, इसलिए उन्हें सात्त्विक नहीं कहा जा सकता।]

व्याख्या—भरत के मतानुसार सात्त्विकों की गणना करने के पश्चात् भानुदत्त ने यह प्रश्न उठाया है कि इन्हें सात्त्विक ही क्यों कहते हैं, व्यभिचारी क्यों नहीं कहते? तात्पर्य यह है कि सत्त्व जीव का नाम है। अतः उसके आश्रित होने के कारण ये सात्त्विक कहलाते हैं। यह कहना इसलिए ठीक नहीं है क्योंकि जीव का आश्रय व्यभिचारियों में भी होता है। तो फिर ये आठ ही क्यों सात्त्विक कहाते हैं? प्रश्न यह है। सभी रसों में ये समान रूप से रहते हैं, इसलिए इन्हें सात्त्विक कहा जाता है, यह कहना भी ठीक नहीं है। किसी ने इस समस्या का समाधान इस प्रकार किया है कि इनमें परगतदुःखभावना से तादात्म्य-रूप सात्त्विकता विद्यमान रहती है इसलिए इन्हें सात्त्विक कहा जाता है। यह भी उचित नहीं है क्योंकि निर्वेद, स्मृति आदि व्यभिचारियों में भी यह भावना विद्यमान रहती है। निर्वेद व्यभिचारी की व्याख्या करते हुए भरत ने निर्वेदोत्पादक कई कारणों का उल्लेख किया है—दारिद्र्य, व्याधि, इष्टजन-वियोग, तत्त्वज्ञान आदि। इस सम्बन्ध में पण्डितराज जगन्नाथ ने विस्तृत विचार किया है। उनका मत है कि जिसकी, वेदान्त आदि के द्वारा, नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार से उत्पत्ति होती है और जिसका नाम विषयों से विरक्ति है, उसे निर्वेद कहते हैं। किन्तु यह निर्वेद इष्टवियोग, अनिष्ट-प्राप्ति तथा गृह-कलह इत्यादि से भी उत्पन्न हो सकता है और तब वह 'व्यभिचारी' होता है, 'स्थायी' नहीं। तत्त्वज्ञान से उद्भूत निर्वेद ही 'स्थायी' संज्ञा का अधिकारी है। भाव यह है कि निर्वेद यदि संचारी है तो उसमें परगतदुःखभावना विद्यमान है ही। दुःख अथवा सुख के स्मरण की स्थिति को 'स्मृति' माना गया है। अतः स्पष्ट ही यह विशेषता सात्त्विकों में ही नहीं है, व्यभिचारियों में भी है। यही बात इस तरह से भी कही जा सकती है कि परगतदुःखभावना से इन आठ सात्त्विकों का ही संबंध नहीं है, निर्वेदादि व्यभिचारियों का भी है। इसलिए उनमें भी सात्त्विकत्व होना चाहिए। किन्तु ऐसा है नहीं।

भानुदत्त ने इस समस्या का समाधान इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि सत्त्व शब्द प्राणीवाचक है। भाव यह है कि सत्त्व से आशय है जीवयुक्त शरीर।

उसके धर्म को ही सात्त्विक कहा जाएगा। इसीलिए स्तम्भादि सात्त्विक हैं। स्थायी और व्यभिचारी शरीर के धर्म नहीं, आन्तर भाव हैं। अतः स्थायी-व्यभिचारी और सात्त्विक का पार्थक्य स्पष्ट है।

भरत का मत है कि सत्त्व को मनःप्रभव कहा जाता है। इनके अनुसार ये अनुभाव सात्त्विक इस कारण से हैं कि इनका अभिनय विशेष मनोयोग से ही सम्भव है और चित्त-विक्षेप के साथ कोई व्यक्ति इनका अभिनय नहीं कर सकता। अन्तःकरण के विशेष धर्म सत्त्व से उत्पन्न ऐसे अंग-विकार को सात्त्विक अनुभाव कहते हैं जिससे हृदयगत रस या भाव का ज्ञान होता है। अब हम यदि फिर भानुदत्त की विचारणा पर ध्यान दें तो ज्ञात होगा कि जीव का आश्रय व्यभिचारियों में भी होता है और सात्त्विकों में भी किन्तु सात्त्विकों के लिए जीव के साथ-साथ शरीर का आश्रय भी अनिवार्य है। इसीलिए इन्हें शरीर का धर्म कहा गया है जबकि स्थायी और व्यभिचारी जीव के आश्रय में नितांत आंतर हैं, वे शरीर के धर्म नहीं हैं। हेमचन्द्र के अनुसार 'सत्त्व' का अर्थ है प्राण। स्थायी भाव ही प्राण तक पहुँच कर सात्त्विक का रूप धारण कर लेते हैं। प्राण से पृथ्वी का भाव प्रधान हो जाने पर स्तम्भ, जल प्रधान हो जाने पर अश्रु, तेज की प्रधानता होने पर स्वेद, तेज के तीव्रता-शून्य होकर प्रधान होने पर वैवर्ण्य, आकाश का भाग प्रधान होने पर प्रलय, वायु के मन्द, मध्य तथा उत्कृष्ट आवेश से रोमांच, कम्प तथा स्वरभंग होता है। शरीर-धर्म बाह्य स्तम्भादि ही इन आंतरिक स्तम्भादि की व्यंजना करते हैं।

शरीरधर्मत्वे सति गतिनिरोधः स्तम्भः। न च निद्रादऽपस्मारादावतिव्याप्तिः, शरीरधर्मपदेन व्यावर्तनात्। प्रलयभावे तु चेष्टानिरोधो न तु गतिनिरोधः। तस्य विभावा हर्षरागभयदुःखविषादविस्मयक्रोधाः। यथा—

[शरीर के धर्म गतिसामान्य का निरोध स्तम्भ कहलाता है। 'शरीर के धर्म' ऐसा कहने से निद्रा और अपस्मार (मृगी) में अतिव्याप्ति नहीं होगी। प्रलयभाव में चेष्टा-रूप गति का निरोध रहता है पर गतिसामान्य का निरोध नहीं रहता। स्तम्भ के विभाव हर्ष, राग, भय, दुःख, विषाद, विस्मय, क्रोध हैं। जैसे—]

व्याख्या—गतिसामान्य शरीर-धर्म के रूप में जब निरोधित हो जाए तो स्तम्भ होता है। भरत ने कहा है कि हर्ष, भय, रोग, विस्मय, विषाद, लज्जा, मादकता तथा रोष आदि से शरीरांगों का अकस्मात् संचालन रुक जाना स्तम्भ

सात्त्विक कहलाता है। गतिसामान्य का निरोध निद्रा और अपस्मार में भी रहता है, तो अतिव्याप्ति हो सकती है। यहाँ यह मत है कि निद्रा और अपस्मार में शरीर के धर्म गतिसामान्य का निरोध नहीं रहता। इसलिए यहाँ अतिव्याप्ति नहीं होगी। प्रलयभाव में भी निरोध रहता है पर उसका संबंध चेष्टा-रूप गति से होता है, गतिसामान्य से नहीं। इसलिए वहाँ भी इस लक्षण की अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। विश्वनाथ ने सुख तथा दुःख से निश्चेष्ट तथा संज्ञाहीन हो जाने को प्रलय कहा है। वास्तव में प्रलय तथा स्तम्भ में यह अंतर है कि स्तम्भ में प्राणों की सत्ता और उसकी चेतना बनी रहती है किन्तु प्रलय में प्राणहीनता प्रतीत होती है। स्तम्भ चेतना रहने पर भी अचेतनवत् स्थिति का नाम है और प्रलय चेतनाहीन चेष्टा-निरोध है। हर्ष, राग, भय, दुःख, विषाद, विस्मय और क्रोध स्तम्भ के विभाव हैं। यहाँ स्तम्भ का एक उदाहरण दिया है:––

श्रोणी पीनतरा तनुः कृशतरा भूमीधरात्पीवरा
वक्षोजस्य तटी कुतो निजकुटी मातर्मया गम्यताम् ।
इत्युद्भाव्य कदम्बकुञ्जनिकटे निर्विश्य मन्दस्मितं
गोविन्दं समुदीक्ष्य पक्ष्मलदृशा स्तम्भस्तिरोधीयते ॥ २ ॥

['हे मातः ! मेरा नितम्ब-भाग पीन है और शरीर कृश है; मेरा स्तनतट पर्वत से भी पुष्ट है, अतः मैं अपनी कुटी तक कैसे जाऊँ ?' ऐसा कहकर कदम्ब-कुंज के निकट प्रवेश करके मन्द-मन्द हँसते हुए कृष्ण को देखकर सुन्दर नेत्रों वाली नायिका अपने स्तम्भ को छिपाती है।]

व्याख्या––यहाँ कृष्ण को देखकर अतिशय हर्ष और राग के कारण होने वाले स्तम्भ का वर्णन है। नायिका अपनी सखी के प्रति कथन करती है। यहाँ 'मातः !' सम्बोधन अनुकम्पा के लिए है। नायिका का नितम्ब-भाग भारी है और शरीर दुबला-पतला है तथा स्तनप्रदेश पर्वत से भी अधिक पुष्ट है। इस प्रकार भार से दबी हुई यह नायिका अपने घर तक किस प्रकार पहुँचे ? वास्तव में यहाँ स्थिति इस प्रकार है कि कदम्ब-कुंज के निकट कृष्ण को देखकर नायिका में स्तम्भ सात्त्विक का उदय हो आया है और वह वहाँ ही रुक जाने को विवश हो गई है। उक्त कथन के द्वारा नायिका ने इस भाव को सखी के प्रति छिपाना चाहा है। यहाँ कृष्ण-दर्शन से होने वाले स्तम्भ का कारण हर्ष-राग आदि हैं।

वपुषि सलिलोद्गमः स्वेदः। अस्य विभावा मनस्तापहर्षलज्जाक्रोधभयश्रमपीडाघातमूर्च्छाः। यथा—

[शरीर से होने वाला जल का प्रादुर्भाव स्वेद कहलाता है। इसके विभाव मनस्ताप, हर्ष, लज्जा, क्रोध, भय, श्रम, पीड़ा, आघात, मूर्च्छा हैं। उदाहरण :—]

कान्ते तव कुचप्रान्ते राजन्ते स्वेदबिन्दवः।
हृष्यता मदनेनेव कृताः कुसुमवृष्टयः॥ ३॥

[प्रिये ! तेरे स्तनतट पर स्वेदबिन्दु इस प्रकार शोभा देते हैं मानो कामदेव ने प्रसन्न होकर पुष्पवृष्टि की हो।]

व्याख्या—यह नायिका के प्रति नायक की उक्ति है। इसीलिए 'कान्ते !' सम्बोधन स्पष्ट है। यह कहा गया है कि नायिका के कुचमण्डल पर स्वेद की बूँदें शोभा दे रही हैं। यहाँ उत्प्रेक्षा की गई है कि मानो कामदेव ने प्रसन्न हो कर स्वेदबिन्दुओं के रूप में फूलों की वृष्टि की हो। यहाँ सात्त्विक स्वेद का विभाव हर्ष है।

विकारसमुत्थरोमोत्थानं रोमाञ्चः। अस्य विभावाः शीतालिंगन-हर्षभयक्रोधाः। यथा—

[विकार से उत्पन्न रोमोद्गम ही रोमाञ्च है। इसके विभाव शीत, आलिंगन, हर्ष, भय, क्रोध हैं। जैसे—]

बकुलमुकुलकोषरोषनिर्यन्मधुकरकूजितभाजि कुञ्जभूमौ।
पुलकयति कपोलपालिमालि ! स्मितसुभगः कथमद्य नन्दसूनुः॥४॥

[हे सखी ! बकुल पुष्पों के कोष में से रोषपूर्वक बाहर निकलते हुए भ्रमरों के गुंजन से युक्त कुञ्जभूमि में मन्द हास्य से सुन्दर लगने वाले इस कृष्ण का कपोलभाग किस प्रकार रोमाञ्चित हो रहा है।]

व्याख्या—यह नायिका के प्रति सखी का वचन है। कृष्ण कुञ्जभूमि में खड़े हुए हैं। कुञ्जभूमि के लिए कहा गया है कि वह बकुल वृक्ष के पुष्पों के मध्य से रोषपूर्वक बाहर निकलते हुए भौरों के गुंजन से गुंजित हो रही है। कृष्ण ऐसे स्थल पर मंद-मंद हँस रहे हैं और उनके कपोल रोमांचित हो रहे हैं। भाव यह है कि नायिका के सौन्दर्य को देखकर कृष्ण में रोमाञ्च सात्त्विक का उदय हुआ है। यहाँ सात्त्विक भाव रोमाञ्च का विभाव हर्ष है।

गद्गदत्वप्रयोजकीभूतस्वरस्वभाववैजात्यं स्वरभंगः। अस्य विभावाः क्रोधभयहर्षमदाः। यथा—

[गद्गदता के कारण स्वाभाविक स्वर की विलक्षणता ही स्वरभंग है। इसके विभाव क्रोध, भय, हर्ष, मद हैं। जैसे—]

व्याख्या—स्वाभाविक जो स्वर है उसमें विलक्षणता आ जाने को स्वर-भंग कहते हैं। स्वाभाविक स्वर में विलक्षणता तो अनुकरण में भी आ जाती है। अतः अतिव्याप्ति हो सकती है। इसी के निवारण के लिए यहाँ गद्गद् शब्द दिया है जो स्वाभाविक स्वर की विलक्षणता का कारण है। क्रोध, भय, हर्ष, मद स्वरभंग के विभाव हैं। एक उदाहरण दिया है:—

व्यक्तिः स्यात्स्वरभेदस्य कोपादुक्तिः क्रियेत चेत्।
इति पत्युः पुरो राधा मौनमाधाय तिष्ठति ॥ ५ ॥

[यदि कोप से कुछ वचन कहे जाएँ तो स्वरभंग का भेद खुल जाएगा, इसलिए राधा पति के सामने मौन धारण किए हुए है।]

व्याख्या—यह कथन एक सखी के प्रति दूसरी सखी का है। वर्ण्य-विषय हैं राधा और उसका स्वरभंग। कथन का आशय इस प्रकार है कि राधा यदि कुपित होकर अपने पति के प्रति कुछ वचन कहती है तो उसकी वाणी का स्वरभंग पति के आगे प्रकट हो जाएगा जो स्वयं राधा का अभिमत नहीं है। इसीलिए राधा कुपित होकर कुछ नहीं कहती और पति के समक्ष मौन धारण किए हुए स्थित है। यहाँ सात्त्विक स्वरभंग का विभाव क्रोध है।

भावत्वे सति शरीरनिस्पन्दो वेपथुः। भावत्वे सतीति विशेषणदानात् सूचकस्पन्दादौ नाऽतिव्याप्तिः। शरीरपदं चेष्टाश्रयमात्रपरम्, तेन शरीरावयवकम्पे नाऽव्याप्तिः। अस्य विभावा आलिंगनहर्षभीत्यादयः। यथा—

[भावत्व होने पर शरीर की क्रिया वेपथु है। 'भावत्व होने पर' ऐसा कहने से शकुनसूचक (आँख के फड़कने) आदि में अतिव्याप्ति नहीं होगी। शरीर से अभिप्राय चेष्टाश्रय मात्र से है, इसलिए शरीर के किसी अवयव के कम्प में भी लक्षण घटित होगा। इसके विभाव आलिंगन, हर्ष, भीति आदि हैं। जैसे—]

व्याख्या—भावत्व होने पर शरीर की क्रिया वेपथु है। भाव के राहित्य में यह असम्भव है। इसीलिए यहाँ 'भावत्व होने पर' कहा गया है। यदि ऐसा नहीं कहा जाता तो शकुनसूचक आँख के फड़कने आदि में अतिव्याप्ति हो जाती किन्तु होती नहीं है। इसका कारण यह कि उसमें भावत्व विद्यमान नहीं है। इसलिए अक्षिस्पन्दन वेपथु नहीं होगा। शरीर को यहाँ चेष्टाश्रय कहा गया है—अर्थात् शरीर व शरीर का अवयव दोनों का ही ग्रहण होगा। इसी-लिए शरीर के किसी अवयव के कम्प में भी यह लक्षण घटित होगा। अर्थात्

वह भी वेपथु होगा। आलिंगन, हर्ष, भय आदि इसके विभाव हैं। एक उदाहरण देते हैं:—

कथय कथमुरोजदामहेतोर्यदुपतिरेष चिनोतु चम्पकानि।
भवति करतले यदस्य कम्पः प्रियसखि ! मत्स्मृतिरेव मत्सपत्नी ॥६॥

[हे प्रिय सखी ! यह बता कि यह कृष्ण स्तनों के हार के लिए चम्पक पुष्पों का चयन कैसे करे ? क्योंकि मेरी स्मृति ही मेरी सौत बनकर इसके हाथों में कम्प उत्पन्न कर देती है।]

व्याख्या—यह राधा का अपनी सखी के प्रति कहा गया वचन है। राधा के इस कथन की व्यंजना यह है कि जब भी कृष्ण स्तनों के हार के लिए चम्पक पुष्पों का चयन करने का प्रयत्न करते हैं तो उन पुष्पों को देखते ही उन्हें मेरी स्मृति हो आती है जिससे उनके हाथ काँपने लगते हैं और वे फूल नहीं चुन पाते। फलस्वरूप मेरे स्तनतट के लिए हार नहीं बन पाता। इस तरह मेरी स्मृति ने मेरा अहित किया, अतः वह मेरी सौत है। यहाँ कृष्ण के करतलों में होने वाले वेपथु का विभाव हर्ष है।

विकारप्रभवप्रकृतवर्णान्यथाभावो वैवर्ण्यम्। अस्य विभावा मोहभयक्रोधशीततापश्रमाः। यथा—

[चित्तवृत्ति के विकार से उत्पन्न स्वाभाविक वर्ण का बदल जाना ही वैवर्ण्य कहलाता है। इसके विभाव मोह, भय, क्रोध, शीत, ताप, श्रम हैं। जैसे—]

व्याख्या—स्वाभाविक वर्ण अर्थात् प्रकृत रंग का परिवर्तन हो जाना वैवर्ण्य कहा जाता है किन्तु इसके मूल में होता है चित्तवृत्ति का विकार। इसे यदि न कहा जाए तो वृद्धावस्था, ताप आदि के कारण हुए वर्ण-परिवर्तन के लिए इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो सकती है। किन्तु अतिव्याप्ति है नहीं क्योंकि वे विकारप्रभव नहीं होते। मोह, भय, क्रोध, शीत, ताप, श्रम—ये वैवर्ण्य के विभाव हैं। एक उदाहरण दिया गया है—

कुक्कुटे कुर्वति क्वाणमाननं श्लिष्टयोस्तयोः।
दिवाकरकराक्रान्तशशिकान्तिमिवादधौ ॥७॥

[प्रातःकाल के समय कुक्कुट की ध्वनि को सुनकर आलिंगनबद्ध नायक-नायिका का मुख इसी प्रकार म्लान हो गया जिस प्रकार कि सूर्योदय होने पर चन्द्रमा की कान्ति फीकी पड़ जाती है।]

व्याख्या—नायक-नायिका समस्त रात्रि प्रणय-क्रीड़ाओं में रत रहे किन्तु

फिर भी उनकी तृप्ति नहीं हुई। आलिंगनबद्ध अवस्था में उन्हें अचानक प्रातः के समय कूजने वाले कुक्कुट की ध्वनि सुनाई दी। यह ध्वनि सुनते ही उन दोनों के मुख म्लान हो गए—अर्थात् प्रसन्न मुख पर उदासी छा गई। इसका कारण यह था कि तृप्ति अभी हुई नहीं है और प्रातःकाल हो गया है। अर्थात् अब तो अतृप्त ही रह जाना होगा। इस संबंध में यहाँ उत्प्रेक्षा की गई है। उनके स्वाभाविक कान्ति से प्रसन्न मुख इसी प्रकार म्लान हो गए जैसे सूर्य के आगमन से चन्द्रमा की स्वाभाविक कान्ति क्षीण हो जाती है। इस उदाहरण में सात्त्विक भाव वैवर्ण्य का विभाव सन्ताप है।

विकारजनितमक्षिसलिलमश्रु। अस्य विभावा हर्षामर्षधूमभयशोकजृंभाशीतनिर्निमेषप्रेक्षणानि। यथा—

[विकार से उत्पन्न नेत्रों का जल ही अश्रु है। इसके विभाव हर्ष, अमर्ष, धूम, भय, शोक, जृंभा, शीत और अपलक देखना हैं। जैसे—]

व्याख्या—नेत्रों में जल का प्रादुर्भाव अश्रु कहलाता है किन्तु अश्रु का मूल कारण है विकार का होना। धूम आदि से उत्पन्न अश्रुओं में अतिव्याप्ति-निवारण के लिए यहाँ 'विकार' शब्द दिया है। अर्थात् नेत्रों में जल का प्रादुर्भाव धूम आदि से भी हो सकता है किन्तु उसे सात्त्विक अश्रु नहीं कह सकेंगे। हर्ष, अमर्ष, धूम, भय, शोक, जृंभा, शीत और निर्निमेष प्रेक्षण सात्त्विक अश्रु के विभाव हैं। एक उदाहरण प्रस्तुत है—

विसृजविसृज चित्त दुःखधारामयमुपकण्ठमुपागतो मुरारिः।
इति कथयितुमश्रुबिन्दुरक्ष्णोर्निपतति वक्षसि पक्ष्मलायताक्ष्याः॥८॥

[हे चित्त! दुःख के आवेग को त्याग दे क्योंकि यह कृष्ण निकट ही आ गया है—मानो यह कहने के लिए ही उस सुन्दर नेत्रों वाली नायिका के अश्रु उसके वक्षस्थल पर गिर रहे हैं।]

व्याख्या—यह कथन एक सखी का दूसरी सखी के प्रति है जिसमें राधा का वर्णन किया गया है। यह कहा गया है कि राधा के नेत्रों से अश्रु जल टपक कर उसके वक्षस्थल पर गिर रहा है। इसके लिए यह उत्प्रेक्षा की गई है कि नेत्रों का अश्रुजल वक्षस्थल पर मानो यह कहने के लिए टपक रहा है कि उस स्थान पर स्थित हृदय अब दुःख को इसलिए भुला दे क्योंकि कृष्ण से मिलन का समय आ पहुँचा है। यहाँ सात्त्विक भाव अश्रु का विभाव हर्ष है।

शारीरत्वे सति चेष्टानिरोधः प्रलयः। शारीरत्वे सतीति विशेषणान्निद्रादौ नातिव्याप्तिः। स्तम्भादयः शरीरधर्मास्तेषां साहचर्यकथ-

नेन प्रलयोऽपि शरीरधर्म एव। तेनाऽत्र चेष्टापदेन शरीरचेष्टैवाऽभिमता। मनसस्तु कर्म भवति, न तु चेष्टा। अत एव चेष्टाश्रयः शरीरमिति शास्त्रीयं लक्षणम्। अस्य विभावा रागौत्कण्ठचादयः। यथा—

[शरीरधर्म होने पर भी चेष्टा का निरोध प्रलय कहाता है। निद्रा आदि में भी चेष्टानिरोध है, उसमें लक्षण का निवारण करने के लिए शरीरधर्म शब्द दिया। स्तम्भ आदि शरीरधर्म हैं, उन्हीं के साहचर्य से प्रलय भी शरीर का धर्म माना जाएगा। और चेष्टा से भी अभिप्राय शरीर की चेष्टा से ही है, क्योंकि मन का तो कर्म होता है, चेष्टा नहीं। इसलिए शरीर ही चेष्टा का आश्रय है, यह शरीर का लक्षण शास्त्रों में किया है। इसके विभाव राग, उत्कण्ठा आदि हैं। जैसे—]

व्याख्या—चेष्टाओं का बाधित होना प्रलय कहा जाता है। वे चेष्टाएँ चाहे शरीर का धर्म ही क्यों न हों। अर्थात् उन्हीं चेष्टाओं का निरोध जो शरीर-धर्म होती हैं प्रलय कहलाएगा। भानुदत्त ने पहले कहा था कि शरीर-धर्म सात्त्विक कहलाता है। अब यहाँ कहा है कि ऐसी चेष्टाएँ, जिनमें शरीर-धर्म निहित होता है, जब बाधित हो जाएंगी तो उन्हें प्रलय कहा जाएगा। मात्र चेष्टाओं का निरोध ही सात्त्विक की श्रेणी में नहीं आएगा। यहाँ अतिव्याप्ति न हो इसीलिए 'शरीर-धर्म' शब्द दिया है। चेष्टाओं का निरोध तो निद्रा में भी है किन्तु यह इसीलिए प्रलय नहीं है क्योंकि निद्रा शरीर-धर्म न होकर आंतर-धर्म है। स्तम्भ आदि शरीर-धर्म कहे जाते हैं। इन्हीं के साथ वर्णन करने से प्रलय भी शरीर का धर्म माना जाएगा। और चेष्टा शरीर की ही होती है, मन की नहीं क्योंकि मन का तो कर्म कहा जाता है। शास्त्रीय ग्रन्थों में यह बात कही ही गई है कि शरीर चेष्टाओं का आश्रय अर्थात् आधार है। प्रलय के विभाव हैं राग, उत्कण्ठा आदि। एक उदाहरण दिया जाता है—

नो वक्त्रं नमितं धुतं न च शिरो व्यावर्तितं नो वपु—
र्वासो न श्लथमाहृतं निगदितं नो वा निषेधाक्षरम्।
शोणं नाऽपि विलोचनं विरचितं क्रीडाकलाकातरं
चेतः केवलमानने मधुरिपोर्व्यापारितं राधया ॥ ६ ॥

[राधा ने न तो मुख ही नीचे झुकाया, न सिर ही हिलाया, न रूठकर शरीर ही घुमाया, न शिथिल वस्त्र को ही सम्हाला, न निषेधपरक कोई अक्षर ही कहा और न आँखें ही लाल कीं; केवल क्रीड़ाकला के लिए कातर चित्त को कृष्ण के मुख पर आधृत कर दिया।]

व्याख्या—प्रस्तुत उदाहरण में मन में उत्कंठित परन्तु मान के कारण निश्चेष्ट राधा का वर्णन है। भाव यह है कि राधा का हृदय तो कृष्ण के साथ कामक्रीड़ा के लिए आतुर है किन्तु मान के कारण वे स्वयं अपने शरीर को प्रेरित नहीं कर पा रही हैं। कृष्ण ने जब राधा के मुखकमल का सौंदर्य निहारा तो उन्होंने उसे झुकाया नहीं; कामक्रीड़ा की स्वीकारोक्ति पाने के लिए जब कृष्ण ने राधा को मनाने के भाव से उनके चिबुक को पकड़ा तो उन्होंने इस लिए अपना सिर नहीं हिलाया कि कहीं कृष्ण उनके उत्तर को नकारात्मक न समझ लें; जब कृष्ण ने उन्हें आलिंगनबद्ध किया तो राधा ने अपने शरीर को नहीं घुमाया अर्थात् आलिंगन से मुक्त होने के लिए अपने वक्षस्थल को कृष्ण से विपरीत दिशा में नहीं किया; अपने उन वस्त्रों को जो शिथिल होकर खुलते जा रहे थे उन्होंने सम्हाला नहीं और जब कृष्ण ने उन वस्त्रों को उतारने के लिए उन्हें पकड़ा तो उन्होंने निषेध नहीं किया; केवल कामक्रीड़ा के लिए अपने कातर चित्त को कृष्ण के प्रति अर्पित कर दिया। यहाँ कृष्ण के द्वारा की जाने वाली विविध काम-क्रीड़ाओं में राधा शरीर से निश्चेष्ट बनी रही हैं। केवल उनका चित्त निश्चेष्ट नहीं है। इसलिए शरीर-चेष्टाओं का निरोध होने से प्रलय सात्त्विक भाव है। यहाँ इस का विभाव उत्कंठा है।

जृम्भा च नवमः सात्त्विको भाव इति प्रतिभाति।

ऊर्जन्नाननमुल्लसत्कुचयुगं स्विद्यत्कपोलस्थलं
कुञ्चत्पक्ष्म गलद्दुकूलमुदयन्नाभि भ्रमद्भ्रूलतम्।
बालाग्रांगुलिबद्धबाहुपरिधिन्यञ्चद्विवृत्तत्रिकं
त्रुटच्यत्कञ्चुकसन्धिदर्शितलसद्दोर्मूलमुज्जृम्भते ॥ १० ॥

इत्यादौ शृङ्गारतिलकादौ च सात्त्विकभावसामानाधिकरण्यदर्शनात्।

[जृंभा भी नवाँ सात्त्विक भाव प्रतीत होता है। बाला जम्हाई ले रही है। उसका मुख श्वासयुक्त और उन्नत हो गया है, कुचयुगल में अधिक उभार आ गया है, कपोल पर स्वेदबिन्दु झलक आए हैं, पलकें संकुचित हो गई हैं, वस्त्र नीचे की ओर सरक रहे हैं, नाभि-प्रदेश प्रकट हो रहा है, भ्रू-लता भ्रमित हो रही है, अंगुलियों के अग्रभाग को परस्पर बाँधकर उसने बाहुओं का घेरा बना लिया है, पृष्ठवंश का निचला वतुलाकार भाग नीचे को झुक रहा है, कंचुकी के जोड़ टूट रहे हैं जिनमें से बाहुओं का मूल भाग दिखाई दे रहा है... इत्यादि उदाहरणों तथा 'शृङ्गारतिलक' आदि में भी इसे सात्त्विक भाव के साथ ही रखा गया है।]

व्याख्या—जृम्भा के लिए भानुदत्त ने कहा है कि यह भी एक सात्त्विक भाव प्रतीत होता है और सात्त्विकों में इसे नवाँ सात्त्विक स्वीकार कर लेना चाहिए। इसका एक उदाहरण उन्होंने प्रस्तुत किया है जो संभवतः किसी प्राचीन कवि का रचा हुआ है। यह इसलिए कहा जा रहा है कि इस श्लोक को भानुदत्त ने प्रमाण के रूप में प्रस्तुत किया है। श्लोकार्थ में बताया गया है कि बाला जम्हाई ले रही है। इस क्रिया में उस बाला की जो स्थिति है उसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसका मुख श्वास से भर आया है इसलिए वह और भी अधिक ऊपर को उठ गया है, वक्षस्थल के उच्छ्वसित हो जाने के कारण उस बाला के कुचयुगल उभर कर ऊपर की ओर उठ गए हैं, कपोलों पर स्वेदबिन्दु छिटक आए हैं, पलकें संकुचित हो गई हैं, उदर-भाग के नीचे धँसने के कारण अधोवस्त्र का नीवीबंध नीचे की ओर सरक रहा है जिससे उसका समस्त नाभि-प्रदेश प्रकाशित हो रहा है, हाथ ऊपर उठाकर उसने दोनों हाथों की अंगुलियों के अग्रभाग को परस्पर उलझा लिया है जिससे उसके मुख के चारों ओर बाहुओं का घेरा बन गया है और कमर के नीचे की ओर का गोलाकार अंग नीचे को झुक रहा है, वक्षस्थल पर पहने गए वस्त्र की सिलाई के जोड़ टूट रहे हैं जिससे उसके दोनों भुजमूल प्रकाशित हो रहे हैं। इस उदाहरण तथा 'शृङ्गारतिलक' आदि ग्रन्थों में दिए गए उदाहरणों में स्पष्ट ही जृम्भा को सात्त्विक भाव के रूप में स्वीकार किया गया है। 'शृङ्गारतिलक' रुद्रभट्ट का रचा हुआ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में रुद्रभट्ट ने प्रिय के साक्षात् दर्शन का नायिका के संबंध में विवेचन करते हुए कहा है :—

'सत्यं सन्ति गृहे गृहे प्रियतमा येषां भुजालिङ्गन-
व्यापारोच्छलदच्छमोहनजला जायन्त एणीदृशः।
प्रेयान्कोऽप्यपरोऽयमत्र सुकृती दृष्टेऽपि यस्मिन्वपुः
स्वेदोज्जृम्भणकम्पसाध्वसमुखैः प्राप्नोति कांचिद्दशाम्॥'

('शृङ्गारतिलक', १/५१ का उदाहरण)

—अर्थात्, यह सत्य है कि घर-घर में प्रियतम हैं जिनकी भुजाओं के आलिङ्गन की क्रिया से मृगनयनियाँ उछलते हुए स्वच्छ मोहरूपी जल वाली हो जाती हैं किन्तु यहाँ तो कोई दूसरा ऐसा प्रिय है जिसे देख लेने पर भी निश्चय ही प्रस्वेद, जम्हाई, कम्पन इत्यादि के द्वारा शरीर किसी विचित्र दशा को प्राप्त हो जाता है।

इस उदाहरण में जृम्भा (जम्हाई) को कारण बताते हुए उससे शरीर की हुई विचित्र दशा की व्यंजना की गई है। इसलिए यहाँ 'स्वेद' और 'कम्प' के

साथ-साथ 'जृम्भा' का भी सात्त्विक भाव के रूप में उल्लेख हुआ है। भानुदत्त का मत यही है।

ननु सा भावाऽनुभाव[1] इति विपरीतमेव किं न स्यादिति वाच्यम्, सत्यनुभावत्वे भावत्वविरोधात् पुलकादीनां तथा दृष्टत्वात्।

[(यहाँ एक शंका उठाते हैं कि) यह (जृम्भा) भाव (सात्त्विक भाव) है या अनुभाव, इसमें कोई विशिष्ट प्रमाण न होने से इसे अनुभाव ही क्यों नहीं मानते हो। अथवा यदि सात्त्विक भाव का अनुभाव मानें तब भी विरोध न होगा, क्योंकि रोमांच आदि में सात्त्विक भाव तथा अनुभाव दोनों रहते हैं। इसमें विरोध न होगा।]

न चांगाकृष्टिनेत्रमर्दनादीनामपि भावत्वापत्तिः। तेषां भावलक्षणाभावात्। रसाऽनुकूलो विकारो भाव इति हि तल्लक्षणम्। अगाकृष्टचादयो हि न विकाराः। किन्तु शरीरचेष्टाः। प्रत्यक्षसिद्धमेतत्। अंगाकृष्टिरक्षिमर्दनं च पुरुषैरिच्छया विधीयते परित्यज्यते च। जृम्भा च विकारादेवभवति तन्निवृत्तौ निवर्तते चेति। यथा—

[(एक और शंका होती है कि) इस तरह अंगसंकोच और नेत्रमर्दन आदि को भी सात्त्विक भाव मानना चाहिए परन्तु यह ठीक नहीं है क्योंकि इनमें भावलक्षण का अभाव है। 'रस के अनुकूल विकार ही भाव कहाता है'। अंगसंकोच आदि रस के अनुकूल विकार नहीं हैं। ये तो शारीरिक चेष्टाएँ हैं। यह बात प्रत्यक्षतः सिद्ध है। अंगसंकोच और नेत्रमर्दन आदि तो पुरुषों की इच्छा पर निर्भर हैं; जब चाहे करें, जब चाहे छोड़ दें। जृम्भा तो आन्तर विकार से ही होती है और उसके शान्त होने पर स्वतः शान्त हो जाती है। इसका उदाहरण—]

व्याख्या—भानुदत्त ने पहला प्रश्न तो यह उठाया है कि जृम्भा सात्त्विक भाव है या अनुभाव ? विशिष्ट प्रमाण के अभाव में इसे सात्त्विक नहीं कहते तो अनुभाव क्यों नहीं स्वीकार कर सकते। सात्त्विक भाव को अनुभाव मानने में कोई असंगति नहीं है क्योंकि रोमांच आदि में दोनों की ही स्थिति रहती है—सात्त्विकत्व की भी और अनुभावत्व की भी। अतः यहाँ विरोध की भी स्थिति नहीं है। किन्तु दो वस्तुएँ एक कही नहीं जा सकतीं। इसलिए जृम्भा में या तो सात्त्विकभावत्व ही मानना होगा या अनुभावत्व ही। दोनों नहीं माने जा सकते। भरत को प्रमाण मानने पर जृम्भा का परिगणन सात्त्विकों में नहीं हो सकता।

१. न च सा भावानुभाव इति पाठान्तरम्।

जृम्भा को यदि सात्त्विक स्वीकार कर लेते हैं तो अंगसंकोच और नेत्र-मर्दन को भी सात्त्विक भाव स्वीकार करना होगा। किन्तु यह कहा गया है कि इनमें भावत्व नहीं होता। भाव क्या है ? रस के अनुकूल जो विकार है वह भाव है। अंगसंकोच आदि में रसानुकूल विकार नहीं है। सभी जानते हैं कि ये शारीरिक चेष्टाएँ ही हैं क्योंकि पुरुष इन्हें इच्छा से ही करते हैं और त्याग भी देते हैं। अर्थात् इन चेष्टाओं पर व्यक्ति का वश होता है, जब चाहे करें और जब चाहे न करें। इसलिए इन्हें विकार नहीं कहेंगे। किन्तु जृम्भा के संबंध में यह नहीं कह सकते। विकार पर व्यक्ति का वश नहीं होता। जृम्भा पर भी नहीं है क्योंकि यह विकार अंतर से उत्पन्न होता है और विकार की निवृत्ति में निवृत्त हो जाता है। इसलिए जृम्भा को सात्त्विक ही कहेंगे। उदाहरणतः—

आधाय मौनं रहसि स्थितायाः सम्भाव्य जृम्भामचलात्मजायाः।
चुटत्कृतिं[1] स्मेरमुखो महेशः करांगुलीभिः कलयाञ्चकार ॥ ११ ॥

[मान करती हुई, मौन धारण करके एकान्त में बैठी हुई पार्वती की जृम्भा को देखकर, हँसते हुए शंकर हाथ की अंगुलियों से चुटकी बजाने लगे।]

व्याख्या—यहाँ मान करती हुई पार्वती की जृम्भा का वर्णन है। इस श्लोक का अभिप्राय यह है कि सात्त्विक भाव जृम्भा के उदय होने पर मान के रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। शंकर पार्वती को यही संकेतित करते हुए चुटकी बजाते हुए हँस रहे हैं।

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां सात्त्विकभावनिरूपणं नाम चतुर्थस्तरंगः।

[भानुदत्त-विरचित 'रसतरंगिणी' की सात्त्विकभावनिरूपण नामक चतुर्थ तरंग समाप्त हुई।]

१. चाङ्ध्वनिमिति पाठान्तरम्।

पञ्चमस्तरङ्गः

अथ व्यभिचारिभावा निरूप्यन्ते । तत्र भरतः—

निर्वेदग्लानिशंकाख्यास्तथासूया मदः श्रमः ।
आलस्यं चैव दैन्यं च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः ॥ १ ॥
व्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा ।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च ॥ २ ॥
सुप्तिर्विबोधोऽमर्षश्चाऽप्यवहित्थमथोग्रता ।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथा मरणमेव च ॥ ३ ॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः ।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः प्रयान्ति रसताममी[1] ॥ ४ ॥

[अब व्यभिचारी भावों का निरूपण करते हैं। भरत के अनुसार—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चपलता, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, सुप्ति, विबोध, अमर्ष, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, मरण, त्रास, वितर्क—ये तैंतीस व्यभिचारी भाव हैं जो रसत्व को प्राप्त होते हैं।]

इतस्ततो रसेषु संचारित्वमनेकरसनिष्ठत्वमनेकरसव्याप्यत्वं व्यभिचारित्वम् । न च रोमाञ्चादावतिव्याप्तिस्तेषामपि संग्राह्यत्वात् । ते च भावाः शारीरा व्यभिचारिण एते त्वान्तरा व्यभिचारिण इयान्विशेषः । ननु निर्वेदादेः स्थायित्वं व्यभिचारित्वं च कथमिति चेन्न, रसपर्यन्तस्थायित्वमितस्ततोगामित्वञ्चोपाधिभेदमादायोभयसम्भवात् ।

[रसों में संचरण करने, अनेक रसों को पुष्ट करने और अनेक रसों में व्याप्त होने के कारण ही ये व्यभिचारी कहलाते हैं। रोमांच आदि में अतिव्याप्ति का भी प्रश्न नहीं उठता क्योंकि उनका भी इनमें ग्रहण हो जाएगा। ये रोमांच आदि शारीरिक भाव हैं और यहाँ वर्णित आन्तर भाव हैं, यहाँ यह विशेष जानना चाहिए। (यहाँ यह शंका और की जाती है कि) निर्वेद

१. समाख्यातास्तु नामतः इति पाठान्तरम् ।

आदि में स्थायी भावत्व और व्यभिचारी भावत्व दोनों एक साथ कैसे रह सकते हैं। (इसका समाधान करते हैं कि) प्रारम्भ से लेकर रसानुभूति-पर्यन्त निरन्तर रहने वाली स्थिति में वह स्थायी भाव होगा और कभी-कभी चमत्कृत होने की स्थिति में संचारी होगा। इसलिए भिन्न-भिन्न स्थितियों में एक ही भाव के दोनों रूप हो सकते हैं।]

व्याख्या—यहाँ कहा गया है कि रसों में संचरण करने, अनेक रसों को पुष्ट करने और अनेक रसों में व्याप्त होने के कारण ही ये व्यभिचारी कहलाते हैं। इनकी व्याख्या एक और प्रकार से भी की गई है। वि+अभि+चारी—अर्थात् विशेष रूप से अभिमुख, अनुकूल दिशा में संचरण करने वाले होने से भी ये व्यभिचारी कहे जाते हैं। इसी आधार पर धनंजय ने व्यभिचारी भावों की परिभाषा इस प्रकार की है:—

विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ॥ (४/७)

—अर्थात् जो भाव विशेष रूप से स्थायी भाव की पुष्टि के लिए तत्पर अथवा अभिमुख रहते हैं और स्थायी भाव के अन्तर्गत आविर्भूत और तिरोहित होते दिखाई देते हैं वे व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। जैसे लहरें समुद्र में उत्पन्न होती हैं और उसी में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही रत्यादि स्थायी भावों में निर्वेदादि संचारी भाव उन्मग्न तथा निमग्न होते रहते हैं। इस तरह संचारी भाव मुख्य रूप से स्थायी भाव में ही उठते-गिरते हैं। जिस प्रकार लहरों के उठने और विलीन होने से समुद्र का समुद्रत्व और भी पुष्ट होता है, वैसे ही व्यभिचारी भाव स्थायी भावों के पोषक होते हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि स्थायी भाव स्थिर हैं और संचारी भाव अस्थिर अर्थात् संचरणशील। संचारी भाव स्थायी भावों के माध्यम से रसों के भी पुष्टिकारक होते हैं।

व्यभिचारियों की रोमांचादि में अतिव्याप्ति का प्रश्न नहीं उठता क्योंकि उनका भी इनमें ग्रहण हो जाएगा। इन दोनों का स्पष्ट अंतर यह है कि रोमांचादि शारीरिक भाव हैं और ये आन्तर अर्थात् मानस भाव हैं।

निर्वेद को व्यभिचारी भी कहा गया है और स्थायी भी। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि निर्वेद को दोनों ही कैसे माना जा सकता है। इसका समाधान करते हुए भानुदत्त का कथन यह है कि प्रारंभ से लेकर अंत तक अर्थात् रस की अनुभूति के समय तक जब निर्वेद निरंतर विद्यमान रहे तो वह स्थायी होगा और जब वह कभी-कभी ही प्रकाशित हो तो व्यभिचारी होगा। जैसे

रसानुभूति-पर्यन्त रहने से रति शृङ्गार का स्थायी भाव है और इतस्ततोगामी होने से करुण का संचारी भाव है। अतः स्पष्ट हो जाता है कि भिन्न-भिन्न स्थितियों में एक ही भाव के दो रूप हो सकते हैं। इस प्रकार निर्वेद में स्थायित्व और व्यभिचारित्व दोनों होने से विरोध नहीं मानना चाहिए।

स्वावमानं निर्वेदः संसारे हेयत्वबुद्धिर्वा निर्वेदः। तत्र विभावास्तत्त्वज्ञानापदीर्षादयः। अनुभावाः स्वेदप्रकाशचिन्ताश्रुपातादयः। यथा—

[स्वावमान (जीवन के प्रति अरुचि) अथवा संसार के प्रति हेयत्वबुद्धि ही निर्वेद है। इसके विभाव तत्त्वज्ञान, आपत्ति (गृहकलहादि) और ईर्ष्या आदि हैं। अनुभाव स्वेद, प्रकाश, चिन्ता, अश्रुपात आदि हैं। उदाहरण—]

क्षोणीपर्यटनं श्रमाय विहितं[1] वादाय विद्यार्जिता
मानध्वंसनहेतवे परिचितास्तेते धराधीश्वराः।
विश्लेषाय सरोजसुन्दरदृशामास्ये कृता दृष्टयः
कुज्ञानेन मया प्रयागनगरे नाऽऽराधि नारायणः॥ ५॥

[मैंने सारी पृथ्वी का भ्रमण करने में व्यर्थ श्रम किया, विद्या केवल वाद के लिए अर्जित की, बड़े-बड़े सम्राटों से अपना मान खोकर परिचय बढ़ाया, कमल के समान नेत्रों वाली सुन्दरियों के मुख पर दृष्टि डालने का भी परिणाम अंततः वियोग के रूप में भोगना पड़ा; परन्तु अज्ञान के कारण मैंने प्रयाग में जाकर भगवान् की आराधना नहीं की।]

व्याख्या—मैं सारी पृथ्वी पर इधर-उधर घूमता रहा और इस प्रकार अपने श्रम का अपव्यय किया। फिर भी मेरे अभिलषितार्थ की वासना पूर्ण नहीं हुई। भाव यह है कि जितना भ्रमण किया उतनी ही तृष्णा बढ़ती गई। विद्या का अर्जन करने से भी न कोई लाभ हुआ और न उससे किसी का उपकार हुआ—केवल वाद-विवाद में ही वह काम आई। तृष्णा में पड़कर बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं से परिचय बढ़ाया और फलस्वरूप अपने मान को खोना पड़ा। कमल के समान सुन्दर नेत्रों वाली सुन्दरियों में अनुरक्त होकर उनसे सुख प्राप्त करने की चेष्टा की किन्तु सुख तो नहीं मिला, जीवन भर के वियोग का दुःख ही मिला। मोह और भ्रम से युक्त होकर मैं इधर-उधर भटकता रहा और अज्ञानवश प्रयागतीर्थ में जाकर नारायण की आराधना नहीं की जो जीवन का सारतत्त्व है। यहाँ आपदादि विभाव, चिन्तादि अनुभाव और निर्वेद संचारी है।

१. विदुषामिति पाठान्तरम्।

ग्लानिर्निर्बलता निःसहता वा। तत्र विभावा रत्यायासतृट्क्षुधादयः। अनुभावा निर्व्यापारदृग्भ्रमादयः। यथा—

[निर्बलता अथवा मनस्ताप ग्लानि है। इसके विभाव रतिश्रम, तृषा, क्षुधा आदि हैं। अनुभाव अनुत्साह, नेत्रभ्रमण आदि हैं। जैसे—]

व्याहर्तुं पुनरीक्षणाय न गिरः कण्ठाद्बहिर्निःसृताः
शेषाश्लेषविधिं विधातुमपि वा नैवोन्नता दोर्लता।
प्रातस्तल्पमपास्य गच्छति हरौ चण्डांशुचण्डातप-
क्लिष्टश्लिष्टकुरंगभंगुररुचस्तस्याः स्थिता दृष्टयः॥ ६॥

[प्रातःकाल शय्या को छोड़कर जाते हुए श्रीकृष्ण को फिर मिलने के लिए कहने को भी उसकी वाणी कण्ठ से बाहर न निकली, अन्त में आलिंगन करने के लिए बाहुलता भी न उठा सकी, सूर्य के तीव्र आतप से धूमिल कान्ति वाले चन्द्रमा के समान उसकी दृष्टि हो गई।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में रतिश्रम के कारण क्लांत राधा की स्थिति का वर्णन है। कृष्ण और राधा ने समस्त रात्रि परस्पर सहवास-सुख प्राप्त किया है। प्रातःकाल होने पर कृष्ण राधा को छोड़कर जा रहे हैं। रतिश्रम से अत्यधिक थकी हुई राधा शय्या पर ही लेटी हुई है। उसने श्रीकृष्ण को जाते हुए देखा किन्तु क्लान्ति के कारण वह श्रीकृष्ण को पुर्नमिलन के लिए नहीं कह सकी, सम्भोग-रात्रि का अंतिम प्रातःकालीन आलिंगन करने के लिए वह अपनी भुजाएँ भी नहीं उठा सकी। जिस प्रकार सूर्य के उदित होने पर चंद्रमा की कांति क्षीण होती चली जाती है वैसी ही स्थिति राधा की भी हो गई। यहाँ रतिश्रम विभाव और अनुत्साह अनुभाव है।

उत्कटकोटिकानिष्टप्रतिसंधानमिष्टहानिविचारो वा शंका। तत्र दुर्नयपरक्रौर्यादयो विभावाः। अनुभावाः कम्पक्रियाप्रच्छादनादयः। यथा—

[उत्कट अनिष्ट अथवा इष्टहानि का विचार ही शंका है। दुर्नय और परक्रूरता इसके विभाव हैं तथा कम्प व प्रच्छादन अनुभाव हैं। जैसे—]

व्याख्या—यह कहा गया है कि उत्कट अनिष्ट अथवा इष्टहानि का विचार ही शंका है। यहाँ इष्टहानि वास्तव में अनिष्ट में ही सम्मिलित है। इस प्रकार द्वितीय पक्ष प्रथम पक्ष में ही समाहित हो जाता है। 'वा' शब्द यहाँ संग्रह के अर्थ दिया गया है। इसीलिए विभाव और अनुभाव भी पृथक्-पृथक् बताए गए हैं। यह कहा है कि शंका के दुर्नय और परक्रूरता विभाव हैं तथा

कम्प व प्रच्छादन अनुभाव हैं। इसलिए यहाँ यह समझना चाहिए कि जहाँ अनिष्ट है वहाँ दुर्नय और कम्प क्रमशः विभाव और अनुभाव होंगे तथा जहाँ इष्टहानि का विचार है वहाँ परक्रूरता और प्रच्छादन—अर्थात् क्रिया का गोपन क्रमशः विभाव और अनुभाव होंगे। दुर्नय से आशय है अपने द्वारा किया हुआ अपराध और परक्रूरता से तात्पर्य दूसरे व्यक्ति द्वारा की गई क्रूरता है। एक उदाहरण देते हैं—

एते चित्तविलोचना गुरुजना जिह्वाग्रदोषाः खलाः
पौराः क्रूरवचःप्रपञ्चयशसः श्वश्रूश्च चक्षुःश्रवाः।
किं स्यादित्थमनर्थबीजमसकृत्सञ्चिन्त्य वक्षोरुहि
स्फूर्जत्किंशुकदाम वामनयना निःश्वस्य विन्यस्यति ॥ ७ ॥

[ये मन की जानने वाले गुरुजन हैं, दुष्ट लोग दूसरे की निन्दा करने वाले तथा नगर के लोग कठोर वचन के प्रपंच में निपुण हैं, सास देखकर ही सब समझने वाली है—इस प्रकार बार-बार उत्कट अनर्थ की कल्पना करती हुई नायिका अपने स्तनों पर सुन्दर पलाशकुसुम के हार को निःश्वास लेकर स्थापित करती है।]

व्याख्या—यह नायिका का अपने प्रति ही किया गया कथन है। वह परपुरुष में अनुरक्त है और उससे कामक्रीड़ा के पश्चात् लौट रही है। उसके स्तनमंडल पर नायक द्वारा किए गए नखक्षत के चिह्न पड़ गए हैं। वह सोचती है कि गुरुजन अर्थात् घर के श्वसुर आदि बड़े लोग दूसरे के मन की बातों को ताड जाने वाले हैं, इसलिए वे मुझे देखकर ही इस रहस्य को समझ जाएगे। यदि मैं दुष्ट लोगों के दृष्टिपथ में आती हूँ तो वे मुझे इस अवस्था में देखकर मेरी निन्दा करने लगेंगे और यदि नगर अर्थात् पड़ोस के लोग मुझे देखते हैं तो वे मुझे देखकर कटु व्यंग्य-बाण बरसाएगे। उधर सास भी ऐसी है कि दृष्टि डालते ही सब-कुछ समझ जाती है। इस प्रकार वह नायिका बार-बार सोचती हुई अनर्थ की कल्पना करती है। उस अनर्थ से बचने के लिए वह निःश्वास छोड़ती हुई अपने स्तनमंडल पर पड़े नायक के नखक्षत के चिह्नों को पलाश-कुसुम का हार पहनने के बहाने छिपाती है। यहाँ अपना अपराध और दूसरों की कठोरता ही विभाव तथा कम्प और क्रियाप्रच्छादन अनुभाव हैं। शंका संचारी है।

परोत्कर्षासहिष्णुता परानिष्टचिकीर्षा वा असूया। तत्र विभावा मन्युदौर्जन्यादयः। अनुभावाः कोपचेष्टादोषोद्भावनादयः। यथा—

[दूसरे के उत्कर्ष की असहिष्णुता तथा दूसरे का अनिष्ट करने की इच्छा ही असूया है। मन्यु अर्थात् क्रोध, दुर्जनता आदि इसके विभाव हैं। कोपचेष्टा, दोषकथन आदि अनुभाव हैं। जैसे—]

हरशिरसि मयाप्यलब्धवासे निवसति काऽपि कलातुषारभानोः।
इति लिखति विधुन्तुदस्य मूर्ति प्रतिभवनं प्रतिभूधरं भवानी ॥ ८ ॥

[मैं भी जहाँ वास प्राप्त न कर सकी उस शिव के सिर पर यह अनुपम चन्द्रकला निवास करती है; यह सोचकर पार्वती प्रत्येक घर में तथा प्रत्येक पर्वत में राहु की मूर्ति बनाती है।]

व्याख्या—भगवान् शिव के मस्तक पर चन्द्रकला का वास देखकर देवी पार्वती के मन में उठने वाली ईर्ष्या का यहाँ वर्णन किया गया है। चन्द्रकला भगवान् शिव के मस्तक पर विराजती है, यह देखकर पार्वती के मन में विचार उठता है कि मैं भगवान् की अर्द्धांगिनी होते हुए भी इस गौरव को प्राप्त न कर सकी। फलतः वे चन्द्रकला के प्रति ईर्ष्या करते हुए उसके विनाश के निमित्त प्रत्येक घर में और प्रत्येक पर्वत में राहु का चित्र बनाती हैं। राहु और चन्द्र का स्पष्ट वैर है। इसीलिए वे राहु का चित्र बनाती हैं। यहाँ चन्द्रकला-विषयक क्रोध विभाव, राहु की मूर्ति को स्थान-स्थान पर बनाने की कोपचेष्टा अनुभाव तथा संचारी असूया है।

हर्षोत्कर्षो मदः। दुःखासंभिन्नसुखानुभव उत्कर्षः। तत्र विभावः पानम्। अनुभाव उत्तमानां निद्रा। मध्यमानां हसितम्। अधमानां रोदनम्। इन्द्रियमोहरूपाऽत्र निद्रा, तस्मादिन्द्रियसंमोहे नयनघूर्णन-साम्येन निद्रेव निद्रा। न च हर्षव्यभिचारिभावेऽतिव्याप्तिः। तत्र हर्ष-मात्रसत्त्वात्। न तु तत्रोत्कर्षो जातिविशेषः। किंच, तत्र मनसो मोहः। अत्र च मनसः प्रसाद इति स्वरूपभेदात्, तत्र निद्रारोदनादयोऽत्र पुल-कादयोऽनुभावा इत्यनुभावभेदाच्च। ननु 'तिष्ठतिष्ठ क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम्' इत्यादौ वीररसेऽपि मदो दृष्टोऽस्ति। तत्र निद्रा रोदनं वा कथमनुभावौ। न हि योधः संयति रोदिति निद्राति वेति चेत्। सत्यम्, रसभेदेनाऽनुभावभेदः। शृङ्गारे तेऽनुभावकाः। वीरे नयनारुण्यचमत्कारादयः। सामान्ये च मदे नयनघूर्णनवचनस्खल-नादयश्चेति। यथा—

[हर्ष का उत्कर्ष ही मद है। उत्कर्ष से अभिप्राय एक स्थितिविशेष से है जो दुःख से असंभिन्न सुख के अनुभव की स्थिति है। इसका विभाव है

मद्यपान । अनुभाव उत्तम कोटि के व्यक्तियों के लिए निद्रा, मध्यमों के लिए हसित और अधमों के लिए रोदन है। यहाँ निद्रा से अभिप्राय इन्द्रियों का सम्मोह रूप है किन्तु इन्द्रियों के सम्मोह में नेत्रघूर्णन का साम्य होने से निद्रा के ही समान है। हर्ष नामक संचारी में अतिव्याप्ति नहीं हो, इसीलिए यहाँ केवल हर्ष न कहकर हर्ष का उत्कर्ष कहा है। हर्ष नामक संचारी में केवल हर्ष है, उसमें उत्कर्ष की विशिष्ट स्थिति नहीं है। इनमें स्वरूप का भेद भी है कि मद के हर्ष में मन का मोह होता है जबकि हर्ष नामक संचारी में मन का प्रसाद होता है। इसमें निद्रा, रोदनादि अनुभाव हैं तथा उसमें पुलक आदि अनुभाव हैं। इस तरह दोनों के अनुभावों में भी अन्तर है। अब यहाँ एक शका उठाते हैं कि यदि मद में निद्रा, रोदन आदि अनुभाव होते हैं तो 'हे मूढ़ ! क्षण भर ठहर, जब तक कि मैं मधु पीती हूँ' आदि वीर-रस के कथनों में भी मद है। वहाँ निद्रा या रोदन अनुभाव किस प्रकार होंगे ? क्योंकि योद्धा युद्ध में न तो रोता है, न सोता है। इसका समाधान करते हैं कि रस-भेद से अनुभाव-भेद भी होता है। इसलिए जहाँ निद्रादि अनुभाव होंगे वहाँ शृंगार-रस होगा और जहाँ वीर-रस में मद होगा वहाँ नेत्रों की लाली, चमत्कार आदि अनुभाव होंगे। जहाँ सामान्य मद होगा वहाँ नेत्रघूर्णन, वचनस्खलन आदि अनुभाव होंगे। जैसे—]

व्याख्या—हर्ष नहीं किन्तु उसका उत्कर्ष जो है वह मद कहलाता है। यहाँ हर्ष के उत्कर्ष से क्या तात्पर्य है? इसके स्पष्टीकरण के लिए कहते हैं कि हर्ष का उत्कर्ष एक ऐसी स्थितिविशेष है जो दुःख से पृथक् सुख के अनुभव की स्थिति है। इसका विभाव है मद्यपान। इसके अनुभाव पुरुषभेद से विलक्षण होते हैं। अर्थात् अनुभावों के आधार हैं व्यक्तिविशेष। उत्तम कोटि के व्यक्ति मद्यपान से सोते हैं, मध्यम कोटि के व्यक्ति हँसते हैं और अधम कोटि के व्यक्ति रोदन करते हैं। यहाँ हँसना और रोना तो स्पष्ट हैं किन्तु उत्तम कोटि के व्यक्तियों की निद्रा से क्या आशय है, यह स्पष्ट नहीं है। इसके लिए कहा है कि यह निद्रा इंद्रियों का सम्मोहरूप ही है अर्थात् वास्तविक निद्रा नहीं है। फिर भी इसे निद्रा के समान इसलिए कह दिया जाता है कि दोनों में नेत्रघूर्णन का साम्य होता है—वास्तविक निद्रा में भी और इन्द्रियों की सम्मोहरूप निद्रा में भी। ऊपर कहा गया है कि हर्ष नहीं बल्कि हर्ष का उत्कर्ष मद है। यदि हर्ष को ही मद कहते तो इस लक्षण की हर्ष व्यभिचारी में अतिव्याप्ति हो जाती। इसलिए यहाँ केवल हर्ष न कहकर हर्ष का उत्कर्ष कहा गया है। इस

का कारण यह है कि हर्ष व्यभिचारी में केवल हर्ष होता है, उसके उत्कर्ष की विशिष्ट स्थिति उसमें नहीं होती। यह स्पष्ट ही है कि मद के हर्ष में मन का मोह होता है और हर्ष व्यभिचारी में मन का प्रसादन होता है। इसलिए इनमें स्वरूप-भेद की स्थिति भी स्पष्ट है। और इसी कारण इनके अनुभावों में भी पर्याप्त भेद हो जाता है। मद के हर्ष के अनुभाव हैं निद्रा, रोदन आदि। यह पहले भी कहा जा चुका है। और यह आगे भी चलकर देखेंगे कि हर्ष व्यभिचारी के अनुभाव हैं पुलक आदि। इनमें अंतर है ही। यहीं एक समस्या उठती है। यदि हम यह मान लेते हैं कि मद में निद्रा, रोदन आदि अनुभाव होते हैं तो वीर-रस की स्थिति में जो मद होता है उसके अनुभाव क्या होंगे? वीर व्यक्ति युद्धक्षेत्र में अपना मद प्रकट करते हुए क्या रोते और सोते हैं? उदाहरण के लिए वीर-रस का एक कथन लेते हैं। 'दुर्गासप्तशती' में देवी महिषासुर से कहती हैं—'तिष्ठतिष्ठ क्षणं मूढ मधु यावत्पिबाम्यहम्'। अर्थात् 'हे मूढ़! क्षण भर ठहर, जब तक कि मैं मधु पीती हूँ।' भाव यह है कि यहाँ वीर-रस की स्थिति में भी मद है। अतः यहाँ निद्रा, रोदन आदि अनुभाव किस प्रकार स्वीकार हो सकते हैं? इसका समाधान भानुदत्त ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि रस के भेद से अनुभाव में भी भेद हो जाता है। जहाँ निद्रा आदि अनुभाव होंगे वहाँ शृंगार-रस होगा। वीर-रस में मद की स्थिति होने पर नेत्रों की लालिमा और चमत्कार आदि अनुभाव होंगे तथा नेत्रघूर्णन, वचन-स्खलन आदि अनुभाव सामान्य मद के होंगे। यहाँ एक उदाहरण देते हैं —

रसना रसयत्यसौ मधु स्वयमस्माकमनर्थकं जनुः।
इति तत्र समस्तमिन्द्रियं प्रतिबिम्बस्य मिषेण मज्जति ॥६॥

[यह रसना स्वयं मधु का आस्वाद लेती है, इसलिए हमारा जन्म निरर्थक है। मानो यही सोचकर समस्त इन्द्रिय-वर्ग प्रतिबिम्ब के बहाने मधु में डूब जाता है।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में उत्प्रेक्षा की गई है। पात्र में मधु भरा हुआ है। जब व्यक्ति उस पात्र को उठाकर मधुपान करता है तो उसके शरीर का प्रतिबिम्ब पात्र-स्थित उस मधु में झलक उठता है। इसके लिए यह उत्प्रेक्षा है कि यह रसना जो है वह तो इस मधु का आस्वाद ग्रहण करती है और हम शरीर के अन्य अंग निरर्थक रह जाते हैं। इसलिए कहा गया है कि वे भी मधु का आस्वाद ग्रहण करने के लिए मानो प्रतिबिम्ब के रूप में उस मधु में डूब गए हैं। अर्थात् रसना के समान वे भी मधु का आस्वाद ग्रहण कर रहे

हैं। यहाँ पान विभाव, नेत्रघूर्णन आदि अनुभाव व मद संचारी है।

आयासप्रभवः पराभवः श्रमः। तस्य विभावा रत्यध्वगत्यादयः। अनुभावाः स्वेदनिस्सहतादयः। यथा—

[परिश्रम से उत्पन्न होने वाले खेद का नाम श्रम है। रति, मार्ग में चलना आदि इसके विभाव हैं। स्वेद, कामकाज में अरुचि आदि अनुभाव हैं। जैसे—]

स रामचन्द्रः सह निर्गतायाः स्वेदाम्बुसंसिक्तपयोधरायाः।
अपांगपातैर्मिथिलात्मजायाः श्रमानशेषाञ्छिथिलीचकार ॥ १० ॥

[वह रामचन्द्र, अपने साथ वन में जाने वाली, स्वेदजल से जिसके पयोधर भीग गए हैं ऐसी सीता के सम्पूर्ण श्रमों को अपने अपांगपातों से कम कर रहे थे।]

व्याख्या—मार्गगमन के कारण थक जाने वाली सीता और उसके श्रम का परिहार करने वाले रामचन्द्र का वर्णन है। सीता राम के साथ वन में गमन कर रही है। इस श्रम के कारण सीता को स्वेद आ गया है और उसके पयोधर उस स्वेदजल में भीग गए हैं। रामचन्द्र करुणा और प्रेम से युक्त नेत्रों के कोणों से उसकी ओर देखकर उसका श्रम कम कर रहे हैं। यहाँ मार्गगमन विभाव, प्रस्वेद अनुभाव व श्रम संचारी है।

उत्थानाद्यक्षमत्वमालस्यम्। तत्र विभावा गर्भादयः। अनुभावाः क्रियाकातर्यादयः। यथा—

[उठने आदि में असामर्थ्य ही आलस्य है। इसके विभाव गर्भादिक हैं। कार्यों में अरुचि आदि अनुभाव हैं। जैसे—]

हरं हरन्तं स्तनहारयष्टिं करेण रोद्धुं न शशाक तावत्।
गिरेः सुता गर्भवती विहस्य दृगञ्चलं कातरयाञ्चकार ॥ ११ ॥

[अपने स्तनों पर पड़े हार का हरण करते हुए शंकर को गर्भवती पार्वती हाथ से न रोक सकी, केवल हँसकर कातर नेत्रों से देखती रही।]

व्याख्या—यहाँ गर्भावस्थायुक्त पार्वती के आलस्य का वर्णन है। पार्वती के वक्ष-प्रदेश पर हार पड़ा हुआ है और शिव उस स्थान पर से हार को हटा रहे हैं। आलस्य के कारण पार्वती ने शिव को ऐसा करने से रोकने के लिए अपना हाथ नहीं उठाया। वह केवल प्रेमातिशय से हँसती हुई अपने कातर नेत्रों से शिव की ओर देखती रही। यहाँ गर्भ विभाव, कातर दृष्टि और शिव को रोकने में अप्रवृत्ति अनुभाव, आलस्य संचारी है।

दुरवस्था दुःखातिरेको वा दैन्यम्। अनौज्ज्वल्यमिति केचित्। तन्न, तस्य बहिर्विषयत्वेन तदनुभावकत्वात्। विभावा दारिद्र्यादयः। अनुभावाः कायक्लेशक्षुत्पीडनादयः। यथा तातचरणानाम्—

[दुरवस्था अथवा दुःखातिरेक दैन्य है। कोई अनौज्ज्वल्य को दैन्य कहते हैं, परन्तु वह शरीर का धर्म है इसलिए वह अनुभाव हो सकता है। विभाव दरिद्रता आदि, अनुभाव शरीरकष्ट, क्षुधा, पीड़ा आदि हैं। उदाहरण के लिए पूज्य पितृचरणों की रचना—]

व्याख्या—दुरवस्था अथवा दुःखातिरेक को दैन्य कहते हैं। यहाँ शोक में अतिव्याप्ति न हो, उसके निवारण के लिए 'अतिरेक' पद दिया है। 'अतिरेक' का अभिप्राय प्रभाव से है। कुछ व्यक्ति अनौज्ज्वल्य अर्थात् मलिनता को ही दैन्य कहते हैं किन्तु यह समीचीन नहीं है। इसका कारण यह है कि मालिन्य-रूप अनौज्ज्वल्य अन्तःकरण का धर्म न होकर शरीर का धर्म है। इसीलिए इसे अनुभाव कहना होगा, यह स्वयं दैन्य नहीं है। दैन्य का अनुभाव ही है। विभाव दरिद्रता आदि हैं और अनुभाव शरीर-कष्ट, क्षुधा, पीड़ा आदि हैं। उदाहरण के लिए यहाँ भानुदत्त ने अपने पिता गणपति मिश्र की एक रचना प्रस्तुत की है—

अंसे कुन्तलमालिका स्तनतटे नेत्राम्भसां निम्नगा
माद्यन्मन्मथकुञ्जरेन्द्रवचनप्रान्ते विलग्नं मनः।
किन्त्वन्यद्विरहानलेन सरसं संदह्यमानं वपु—
र्गण्डे पाण्डिमकैतवेन सुतनोः फेनोच्चयं मुञ्चति॥ १२॥

[केशों की माला कन्धे पर सरक आई है, आँसुओं की धारा स्तनतटों से बह रही है, तीव्र मन्मथ रूपी गजेन्द्र के वचनप्रान्त में मन आसक्त है किन्तु विरहानल में जलता हुआ भी सुन्दरी का कोमल शरीर कपोल की पाण्डुता के रूप में मानो फेनसमूह को छोड़ रहा है।]

व्याख्या—एक सखी दूसरी सखी से नायिका की विरहावस्था का वर्णन करती है। नायिका का केश-बंध स्रस्त हो गया है जिससे केशों की लटें मालाओं के समान कन्धे पर सरक आई हैं, नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो रही है जिससे उसका वक्ष-प्रदेश भीग गया है और वहाँ से अश्रुधारा बहती जा रही है, कामदेव-रूपी गजेन्द्र के वचनप्रान्त अर्थात् मुख में उसका मन आसक्त है, उसका समस्त शरीर विरह-तापाग्नि में झुलस रहा है, उसके कपोल पीले पड़ गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी पाण्डुता के रूप में फेनसमूह बाहर

छलक कर आ रहा है। यहाँ वियोग की पीड़ा ही विभाव, अनुज्ज्वलता आदि अनुभाव व दैन्य संचारी भाव है।

चिन्ता ध्यानम्। ध्यै चिन्तायामित्यनुशासनात्। ध्यानं च न स्मरणात्मकम्, स्मृतिभावस्याग्रे पृथक्त्वेन कथनात्, किन्तु चित्तैकाग्रता। इष्टानाप्तिप्रभृतयो विभावाः। अनुभावास्तापवैवर्ण्यबाष्पश्वासादयः। यथा—

[ध्यान ही चिन्ता है। ध्यै (धातु) चिन्तार्थक होने से शास्त्र का प्रमाण भी है। और यहाँ ध्यान स्मरणात्मक नहीं है। इसीलिए स्मृति संचारी में अतिव्याप्ति न होगी। दूसरे स्मृति संचारी का आगे पृथक् वर्णन किया गया है। यहाँ ध्यान से अभिप्राय चित्त की एकाग्रता से है। इष्ट की अप्राप्ति आदि विभाव हैं; ताप, वैवर्ण्य, वाष्प, श्वास आदि अनुभाव हैं। जैसे—]

शम्भुं ध्यायसि शैलराजतनये किन्नाम जानीमहे
तस्यैवाक्षिततूनपादिव तनौ तापः समुन्मीलति।
अक्ष्णोरश्रुमिषेण गच्छति बहिर्गङ्गातरङ्गावलिः
पाण्डिम्नः कपटेन चन्द्रकलिकाकान्तिः समुज्जृम्भते॥ १३॥

[हे पार्वती! शंकर को अपने अंतःकरण में स्थापित कर तुम उसमें निमग्न हो, ऐसा ही प्रतीत होता है। क्योंकि शिव के नेत्र की अग्नि ही तुम्हारे शरीर में ताप को उत्पन्न कर रही है, शिव के सिर में स्थित गंगा की तरंगें ही तुम्हारे अश्रुओं के रूप में प्रकट हो रही हैं और तुम्हारे शरीर की पाण्डुता के रूप में ही मानो चन्द्रमा की किरणों की कान्ति प्रकाशित हो रही है।]

व्याख्या—इस श्लोक में शिव के चिन्तन में लीन तपस्या करती हुई पार्वती की दशा का वर्णन है। अपने अंतःकरण में पार्वती ने शिव को स्थापित किया हुआ है। शिव के सभी गुण पार्वती में दृष्टिगत हो रहे हैं। शिव के तृतीय नेत्र में अग्नि का वास है। इधर शरीर पार्वती का तप्त है। ऐसा लगता है कि पार्वती ने इस ताप को शिव के नेत्र से प्राप्त किया है। पार्वती की आँखों से अश्रु-धारा प्रवाहित है जो उन्होंने भगवान् शिव के मस्तक पर विराजमान गंगा की जल-धारा से प्राप्त की है। पार्वती का शरीर पीला पड़ गया है। ऐसा लगता है कि भगवान् शिव द्वारा धारण किए गए चन्द्रमा की किरणों की कान्ति ही इस रूप में फूट रही है। यहाँ इष्ट की अप्राप्ति विभाव; ताप, वैवर्ण्य आदि अनुभाव और चिन्ता संचारी है।

मोहो वैचित्त्यम् । मुह वैचित्त्य इति धातोर्मोहनं मोह इति भाव-व्युत्पन्नो मोहशब्दः । वैचित्त्यं कार्याकार्यापरिच्छेदः । तस्य विभावा भीत्यावेगानुचिन्तनादयः । अनुभावाः स्तम्भपातघूर्णनादर्शनविस्मरणा-दयः । यथा—

[वैचित्त्य (चित्त-विक्षेप) ही मोह है। वैचित्त्यार्थक 'मुह्' धातु से ही भावार्थक प्रत्यय का योग होने पर 'मोह' शब्द निष्पन्न होता है. इसी को 'मोहन' भी कहते हैं। वैचित्त्य से अभिप्राय है कार्य और अकार्य का ज्ञान न रहना। इसके विभाव हैं भीति, आवेग, अनुचिन्तन (उत्कट भय की चिन्ता) आदि। अनुभाव हैं स्तम्भ, पात (गिरना), घूर्णन (चक्कर), अदर्शन और विस्मरण आदि। उदाहरण—]

अन्तःस्मेरसुवर्णकेतकदलद्रोणिद्युतिद्रोहिणीं
लक्ष्मीं वीक्ष्य समुद्यदिन्दुवदनां क्षीराम्बुधेरुत्थिताम् ।
शम्भुः स्तम्भशताकुलः शतमखः कर्त्तव्यमूढेन्द्रियः
सोऽप्यज्ञानभुजङ्गपातपतितो जातस्त्रिलोकीपतिः ॥ १४ ॥

[विकसित सुनहरे रंग की केतक पुष्प की कली के समान तथा उदय होते हुए पूर्ण चन्द्र के सदृश मुख वाली, क्षीरसमुद्र से प्रकट होती हुई लक्ष्मी को देखकर शंकर अनेक स्तम्भों से युक्त हो गए, इन्द्र कर्त्तव्यविमूढ़ हो गए और त्रिलोकीपति अज्ञानरूपी भुजग के शिकार हो गए।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में समुद्र से निकलती हुई लक्ष्मी के सौन्दर्य को देखकर शंकर, इन्द्र और ब्रह्मा के मोहित होने का वर्णन है। लक्ष्मी क्षीरसागर से प्रकट हो रही हैं। उनके सौन्दर्य के लिए कहा गया है कि उनका शरीर सुनहरे रंग की केतक पुष्प की खिली हुई कली के समान सुन्दर है तथा मुख उदित हुए पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान शोभित हो रहा है। लक्ष्मी के ऐसे सौन्दर्य को देखकर शकर, इन्द्र और ब्रह्मा मोहित होकर रह गए। शंकर में स्तम्भ सात्त्विक का उदय हो आया, इन्द्र कर्त्तव्यविमूढ़ हो गए और ब्रह्मा अज्ञान में पड़ गए। यहाँ लक्ष्मी-विषयक आवेग विभाव; स्तम्भ, घूर्णन व विस्मरण अनुभाव तथा शंकर, इन्द्र और ब्रह्मा में निष्ठ मोह संचारी है।

संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिः । संस्कारजन्यं ज्ञानं प्रत्यभिज्ञारूपं स्मरणरूपं च, संस्कारजन्यत्वेनोभयसंग्रहः । अन्यथा प्रत्यभिज्ञायाः पृथग्भावापत्तेः । प्रत्यभिज्ञास्मृत्योर्विभावाः संस्कारोद्बोधकाः सदृशता-दृष्टचिन्ताद्याः । अनुभावा भ्रूसमुन्नयनादयः । प्रत्यभिज्ञा यथा—

[संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति है। संस्कारजन्य ज्ञान प्रत्यभिज्ञा और स्मरण-रूप दो प्रकार का होता है। संस्कारजन्य कहने से दोनों ही का ग्रहण होगा। अन्यथा प्रत्यभिज्ञा को पृथक् संचारी मानना पड़ता। प्रत्यभिज्ञा और स्मृति के विभाव संस्कारोद्‌बोधक सदृशता और अदृष्ट की चिन्ता आदि हैं। भौहों का चढ़ना आदि अनुभाव हैं। प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण—]

व्याख्या—यह कहा गया है कि संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति है। इसके दो रूप बताए गए हैं—प्रत्यभिज्ञा और स्मरण। संस्कारजन्य ज्ञान के सदर्भ में दोनों का ही ग्रहण आवश्यक है। यहाँ भाव यह है कि किसी सदृश वस्तु के दर्शन तथा चिन्तन से पूर्वानुभूत सुख-दुःख आदि विषयों का स्मरण ही स्मृति है। पूर्वानुभूत के सदृश किसी वस्तु को देखकर और उसके आधार से पूर्व का स्मरण करना—यही प्रत्यभिज्ञा और स्मरण है। इन दोनों से युक्त ज्ञान ही संस्कारजन्य ज्ञान कहलाता है। प्रत्यभिज्ञा और स्मृति के विभाव और अनुभाव समान ही हैं। विभाव हैं संस्कारोद्‌बोधक सदृशता और अदृष्ट की चिन्ता तथा अनुभाव हैं भौहों का चढ़ना आदि। यहाँ प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण देते हैं:—

कालिन्दीसरसः समेत्य नभसः क्रोडे परिक्रीडते
चक्रद्वन्द्वमिदं सुधाकरकलामाक्रम्य विस्फूर्जति।
चन्द्रोऽपि स्मरचापचापलचमत्कारं समालम्बते।
तस्मात्सैव कदम्बकुञ्जकुहरे राधा परिभ्राम्यति ॥ १५ ॥

[कालिन्दी के सरोवर से आकर यह चक्रवाक-युगल आकाश में खेल रहा है और चन्द्रमा की किरणों को पराभूत करके उल्लसित हो रहा है। और चन्द्रमा भी कामदेव के धनुष की चपलता के चमत्कार को धारण कर रहा है। इससे वही राधा कदम्ब-कुंजों के वन में घूम रही है।]

व्याख्या—यहाँ रात्रि में वियुक्त चक्रवाक-युगल को प्रातःकाल के समय क्रीड़ा करते देखकर वैसी ही कृष्ण से वियुक्त राधा का वर्णन है जो कदम्ब-कुंजों के वन में प्रातःकाल कृष्ण से मिलन की आशा में घूम रही है। यह एक सखी का दूसरी सखी के प्रति कथन है। यहाँ चन्द्रमा की किरणों के पराभूत होने से यह संकेत है कि प्रातःकाल होने से चन्द्रमा की कांति क्षीण पड़ती जा रही है। यह कहकर कि चन्द्रमा कामदेव के धनुष की चपलता के चमत्कार को धारण कर रहा है, इस बात की व्यंजना की गई है कि चन्द्र पूर्ण नहीं, अर्द्ध-चन्द्र है। इस श्लोक का एक और प्रकार से भी अर्थ करते हैं। वह इस प्रकार है:—नाभि-प्रदेश से आकर यह रोमावली ऊर्ध्वमुखी होकर क्रीड़ा करती है

जिसके मार्ग से ऊपर उठकर ये दोनों उरोज नखक्षतता को प्राप्त कर शोभित हो रहे हैं। और मस्तक भी चंचल भ्रू-विलास के चमत्कार को धारण कर रहा है। इससे वही राधा कदंब-कुंजों के वन में घूम रही है। यह अर्थ किस प्रकार सिद्ध हुआ इसके लिए कहते हैं कि कालिन्दी का जल श्याम-वर्ण है। ऐसी ही श्याम राधा की रोमावली है। नाभि ही सरोवर है। शरीर का मध्यम-भाग नाभि से ऊपर होने के कारण आकाशत्व को प्राप्त है। चक्रद्वन्द्व अर्थात् चक्रवाक का जोड़ा दोनों उरोज हैं। चक्र गोलाकार है व द्वन्द्व दो का भाव। नखक्षत का चिह्न वैसा ही होता है जैसा वक्र चन्द्रमा का आकार। मस्तक भी अर्द्धचन्द्र के आकार का है। यह मस्तक चंचल भ्रू-विलास से शोभित है। भौंहों का आकार धनुष जैसा स्पष्ट ही है। इस प्रकार यह अर्थ सिद्ध हुआ। किन्तु प्रसंग की दृष्टि से पहले अर्थ का ही ग्रहण करें। यहाँ संस्कारोद्बोधक सदृशता विभाव है तथा मुख-विकास आदि अनुभाव हैं।

स्मृतिर्यथा—

वदनाम्बुजलग्नदृङ्निपाते मयि बध्नत्यवतंसमंसमूले।
दरकुञ्चितदृष्टि राधिकायाः स्मितकिर्मीरितमाननं स्मरामि ॥१६॥

[स्मृति का उदाहरण — बाहुमूल में आभूषण बाँधते हुए जिसके नेत्र कुछ संकुचित हो गए हैं, राधिका के हास्य से विकसित उस मुख का मैं स्मरण करता हूँ जिस मुखकमल पर मेरे नेत्र स्थिर हैं।]

व्याख्या—यह कृष्ण की अपने सखा के प्रति उक्ति है। श्लोक का भाव इस प्रकार है कि राधा का वह सुन्दर मुख मुझे स्मरण आता है जिसको मैं अपलक देखता रहता था और जिस मुख पर नेत्र उस समय कुछ संकुचित हो जाते थे जब वह बाहुमूल में आभूषण बाँधती थी। यहाँ चिन्तन से उद्बुद्ध संस्कार विभाव हैं तथा चिन्तन में स्वाभाविक भ्रू-नमन अनुभाव तथा स्मृति संचारी है।

धृतिः सन्तोषो दुःखेप्यदुःखबुद्धिर्वा। विभावा ज्ञानशक्त्यादयः। अनुभावा अव्यग्रभोगादयः। यथा—

[सन्तोष अथवा दुःख में भी अदुःखबुद्धि ही धृति है। विभाव ज्ञान-शक्ति आदि हैं। व्यग्रता से रहित भोग आदि अनुभाव हैं। जैसे—]

व्याख्या—यहाँ दो भावों को धृति कहा गया है। पहला है सन्तोष और दूसरा है दुःख में भी अदुःख-बुद्धि। दुःख में अदुःख-बुद्धि का तात्पर्य है दुःख की स्थिति में भी दुःख को न अनुभव करना अथवा न स्वीकार करना। यहाँ सन्तोष से अभिप्राय इच्छापूर्त्ति का ही सन्तोष है। इष्टहानि में भी दुःख न

मानना, इसके लिए ही दूसरा लक्षण 'दुःख में अदुःख-बुद्धि' किया है। विभावों में ज्ञान-शक्ति से आशय है ज्ञान में सामर्थ्य। अनुभावों में भोग से व्यवहार का अर्थ लेना चाहिए। एक उदाहरण देते हैं—

भूषा भस्मरजांसि वेश्म विपिनं वृद्धो वृषो वाहनं
चैलं चर्म तथाऽपि मन्मथरिपोर्भोगः किमु भ्रश्यति।
ईशत्वं किमु हीयते किमु महादेवेति नो गीयते
किं वा तस्य च देवदेव इति वा संज्ञा जनैस्त्यज्यते ।। १७ ।।

[भूषण के निमित्त भस्मरज, घर के निमित्त वन, वाहन के निमित्त वृद्ध वृषभ और वस्त्र के निमित्त गजचर्म है फिर भी क्या महादेव का भोग कुछ कम होता है ? क्या उनके ईशत्व में कुछ हीनता आ जाती है ? क्या उन्हें महादेव नहीं माना जाता ? अथवा उनका देवाधिदेव नाम क्या लोग छोड़ देते हैं ?]

व्याख्या—भगवान् शिव आभूषणों के स्थान पर भस्मरज धारण करते हैं। अर्थात् परिश्रम-साध्य बहुमूल्य आभूषण धारण नहीं करते वरन् सर्वसुलभ भस्मरज को वे धारण करते हैं। फिर भी उनका सुखानुभव भ्रष्ट नहीं होता है। वन ही घर है। अर्थात् जो स्वतःसिद्ध वन है वह उनका घर है, कष्टसाध्य अट्टालिका नहीं। इससे क्या उनका ईशत्व कुछ कम होता है—नहीं। इसी प्रकार वृद्ध वृषभ को वाहन रूप में रखकर उनका महादेवत्व भी अस्वीकृत नहीं होता और गजचर्म का वस्त्र धारण करके भी वे देवाधिदेव कहे ही जाते हैं। यहाँ प्रारम्भिक चार स्थितियों के साथ-साथ बाद वाली चार विशेषताएँ संयुक्त होंगी। जैसे—

१. भस्मरज — भोग
२. वन में घर — ईशत्व
३. वृष वाहन — महादेवत्व
४. चैल चर्म — देवदेवत्व

यहाँ विवेक विभाव तथा चपलता की शान्ति अनुभाव है।

स्वच्छन्दक्रियासंकोचो व्रीडा। न च शंकायां त्रासे चातिव्याप्तिस्तत्रतत्र क्रियाविरह एव न तु क्रियासंकोचः। अत्र विभावा दुराचारादयः। अनुभावाः शिरोनमनवदननयनप्रच्छादनादयः। यथा अयोध्यावर्णने—

[स्वच्छन्द क्रिया में संकोच उत्पन्न करने वाली चित्तवृत्ति व्रीड़ा कहलाती

है। इस लक्षण से शंका और त्रास में अतिव्याप्ति न होगी क्योंकि इनमें क्रिया का विरह (अभाव) है, संकोच नहीं। दुराचार आदि विभाव हैं। सिर झुकाना; मुंह, आँख आदि का ढकना आदि अनुभाव हैं। जैसे 'अयोध्यावर्णन' में—]

भित्तौभित्तौ प्रतिफलगतं भालसिन्दूरबिन्दुं
दृष्ट्वादृष्ट्वा कमलनयना केलिदीपभ्रमेण।
कान्ते चैलं हरति हरितं लोलमालोकयन्ती
गात्रं प्रच्छादयति सहसा पाणिपंकेरुहेण॥ १८॥

[प्रत्येक भित्ति में प्रतिबिम्बित अपने भाल के सिन्दूरबिन्दु को देखती हुई कमल के समान नेत्रों वाली (नायिका), सुरत-क्रीड़ा के समय जलते हुए दीपक के प्रकाश में वस्त्रों को हरण करते हुए नायक को चंचलता से देखती हुई सहसा करकमलों से अपने शरीर (अंगों) को आच्छादित करती है।]

टिप्पणी—यहाँ नायक का दर्शन व उसका दुराचार (वस्त्र-हरण आदि) विभाव हैं तथा अंगों का आच्छादन अनुभाव है।

इतरेतरक्रियाकरणं क्रियायाः शीघ्रता वा चपलता। मात्सर्यद्वेष-रागादयो विभावाः। अनुभावा वैरिदर्शनवाक्पारुष्यप्रहारादयः। यथा—

[अन्यान्य (एकाधिक) क्रियाओं का एक साथ करना अथवा क्रिया में शीघ्रता चपलता है। मात्सर्य, द्वेष, राग आदि विभाव हैं। अनुभाव हैं वैरी-दर्शन, वाणी की कठोरता, प्रहार आदि। उदाहरण—]

लंकाचारिणि सेतुकारिणि रणक्रीडाचमत्कारिणि
प्रौढानन्दवचःप्रसारिणि पुरो रामे धनुर्धुन्वति।
जातास्तस्य दशाननस्य समरप्रारम्भदम्भस्फुरत्
केयूरक्वणिताऽनुमेयविशिखत्यागाः करश्रेणयः॥ १९॥

[लंका में स्वच्छन्द विचरण करने वाले, समुद्र में पुल बाँधने वाले, युद्ध-कौशल में चमत्कार करने वाले और उत्साहयुक्त आनन्द-वचनों का उद्घोष करने वाले रामचन्द्र के द्वारा सामने ही धनुष की टंकार करने पर, रावण के हस्त-समूह से बाण छूट रहे हैं—इसका अनुमान उन केयूरों से लग पाता था जो युद्ध के प्रारम्भ करने के दम्भ से कम्पित हो रहे थे।]

टिप्पणी—यहाँ मात्सर्य विभाव है तथा प्रहार अनुभाव है।

चेतःप्रसादो हर्षः। प्रियदर्शनपुत्रजननादयो विभावाः। अनुभावाः पुलकस्वेदाश्रुस्वरभेदादयः। यथा—

[चित्त की प्रसन्नता हर्ष है। प्रिय-दर्शन, पुत्रोत्पत्ति आदि विभाव हैं। अनुभाव पुलक, स्वेद, अश्रु, स्वरभेद आदि हैं। जैसे—]

पुलकितकुचकुंभपालि राधा व्रजति मुकुन्दमुखेन्दुवीक्षणाय।
विरचयति न मध्यभंगभीतिं गणयति नाऽपि नितम्बगौरवाणि॥ २०॥

[रोमांचित कुचकुंभमंडल से युक्त राधा कृष्ण के मुखचन्द्र को देखने जाती है। इसमें न तो वह मध्यभाग (कटि) के भंग होने की चिन्ता करती है और न नितम्बों का गुरुत्व ही उसकी गति में बाधक बनता है।]

व्याख्या—यह एक सखी का दूसरी सखी के प्रति कथन है। राधा कृष्ण के दर्शन के लिए उत्कण्ठित होती हुई जा रही है। राधा की उत्कण्ठा यहाँ कृष्ण के मुख को चन्द्र कहने से सिद्ध है। उसके नेत्र चकोर बने कृष्ण के मुखचन्द्र के दर्शन को उत्कण्ठित हैं। अब राधा के विषय में कहते हैं। उसके कुच-रूप कुंभ का मंडल रोमाञ्चित हो गया है। चलते समय उसे अपनी क्षीण कटि के भंग होने की भी चिन्ता नहीं है—अर्थात् उस वेग को क्षीण कटि वहन नहीं कर पा रही किन्तु राधा को इस बात की चिन्ता नहीं है। उसके नितम्ब गुरु अर्थात् भारी हैं जिससे वह वेग से चलते समय उनके कारण होने वाली बाधा का भी ध्यान नहीं करती है। यहाँ प्रिय का दर्शन विभाव है तथा पुलक आदि अनुभाव हैं।

आकस्मिक इष्टानिष्टोपपातविवर्तः संभ्रमो वा आवेगः। वैरिदर्शनप्रियश्रवणोत्पातादयो विभावाः। अनुभावास्त्वराशरीरस्खलनविपर्यासादयः। यथा—

[आकस्मिक रूप में इष्ट-अनिष्ट की प्राप्ति का परिणामरूप मनोविकार आवेग है, अथवा संभ्रम को आवेग कहते हैं। वैरी का दर्शन, प्रियश्रवण, उत्पात आदि इसके विभाव हैं। त्वरा (शीघ्रता या क्षिप्रता), शरीरस्खलन और विपर्यास (अन्यथाबुद्धि) आदि अनुभाव हैं। उदाहरण—]

टिप्पणी—यहां पूर्वलक्षणमात्र रहने से जड़ता में भी अतिव्याप्ति की संभावना हो जाती है। अतः दूसरे लक्षण से 'संभ्रम' कहकर उसे पुष्ट किया।

एको वाससि विश्लथे सहचरीस्कन्धे द्वितीयः करः
पश्चाद्गच्छति चक्षुरेकमितरद्भर्तुर्मुखे भ्राम्यति।
एकं कण्टकविद्धमस्ति चरणं निर्गन्तुमुत्कण्ठते
चान्यद्वैरिमृगीदृशां रघुपतेरालोक्य सेनाचरान्॥ २१॥

[रामचन्द्र के सैनिकों को देखकर शत्रुओं की मृगनयनी स्त्रियों का एक हाथ खिसकते हुए वस्त्र पर है तो दूसरा हाथ सखी के कन्धे पर है, उनकी एक आँख पीछे देखती है तो दूसरी आँख पति के मुख को देखती है, एक पैर में काँटा लगा है तो दूसरा पैर आगे बढ़ने के लिए उत्कंठित है।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में रामचन्द्र की सेना के समक्ष आने पर राक्षस-कुल की स्त्रियों में व्याप्त व्याकुलता का वर्णन है। राक्षसों की स्त्रियाँ भाग रही हैं। उनके वस्त्र खिसक कर नीचे की ओर सरक रहे हैं। इसलिए वे एक हाथ से अपने वस्त्रों को संभालती हैं और उन्होंने सहारा लेने के लिए अपना हाथ अपनी सखियों के कन्धों पर रखा हुआ है। भागती हुई वे स्त्रियाँ कभी पीछे मुड़कर सेना की ओर इसलिए देखती हैं कि कहीं वह निकट तो नहीं आ गई है और कभी अपने पतियों की ओर आश्रय पाने के लिए देखती हैं। मार्ग में भागते हुए उनके पैरों में काँटे चुभ गए हैं जिससे उन्हें बाधा पहुँचती है किन्तु फिर भी वे रक्षा के लिए भागती जा रही हैं। यहाँ वैरी का दर्शन विभाव है तथा त्वरा व शरीरस्खलन अनुभाव हैं।

सकलव्यवहाराक्षमज्ञानवत्ता जडता। न च मूर्छापस्मारनिद्रास्वप्नेष्वतिव्याप्तिस्तत्र ज्ञानविरहात्। न चालस्यभीतित्रासेष्वतिव्याप्तिस्तत्र कतिपयव्यवहारस्य सत्त्वात्। इष्टानिष्टदर्शनादयो विभावा अनुभावा अनवभाषणनिर्निमेषप्रेक्षणेष्टानिष्टापरिच्छेदादयः। यथा—

[सभी प्रकार के विवेक से भिन्न ज्ञानाश्रयता ही जड़ता है। मूच्छा, अपस्मार, निद्रा और स्वप्न में इस लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी क्योंकि इनमें ज्ञान का ही अभाव है (जबकि जड़ता के लक्षण में 'ज्ञानवत्ता' स्पष्ट निर्दिष्ट है)। आलस्य, भीति और त्रास में भी अतिव्याप्ति न होगी क्योंकि इनमें ज्ञान का कुछ अंश तो रहता ही है (जबकि जड़ता में 'सकलव्यवहाराक्षम ज्ञानवत्ता' की स्थिति मानी गई है)। इष्ट व अनिष्ट-दर्शन आदि विभाव हैं। भाषण का अभाव, अपलक देखना, इष्टानिष्ट-ज्ञान का न होना आदि अनुभाव हैं। जैसे—]

दुष्पारवारिनिधिपारमुदारवीर्य-
मागच्छतो हनुमतो हसित वितेनुः।
उद्वीक्ष्य नीरनिधिनीरमधीरवीचि
चित्रार्पिता इव पुनः कपयो बभूवुः॥ २२॥

[दुस्तर सागर को पार करके अपने पौरुष को प्रकट करते हुए हनुमान

को आते देखकर सभी वानर हँसने लगे परन्तु वही वानर चंचल लहरों वाले समुद्र के जल को देखकर फिर चित्रलिखित से हो गए ।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में रामायण-प्रसंग से वानरों की जड़ता का उदाहरण दिया है। तट पर उदास बैठे हुए वानर-गणों ने जब लंका से लौटकर आते हुए, दुस्तर समुद्र को अपनी वीरता से पार करते हुए हनुमान को देखा तो सभी को प्रसन्नता हुई। फिर उन्होंने चंचल लहरों वाले समुद्र के अथाह जल को देखा तो वे यह चिन्ता करते हुए कि हम इसे कैसे पार करेंगे और सीता को मुक्त कराएँगे, ऐसे हो गए मानो चित्र में अंकित हो गए हों। अर्थात् सभी वानर जड़ हो गए। यहाँ इष्ट (हनुमान) व अनिष्ट (समुद्र) का दर्शन विभाव है तथा निश्चेष्टता अनुभाव।

आत्मनि सर्वाधिकत्वबुद्धिः, सर्वस्मिन्नधमबुद्धिर्वा गर्वः। बलैश्वर्याभिजनलावण्यादयो विभावाः। अनुभावा अवज्ञाभ्रूदृष्टिचेष्टितहसित पौरुषप्रकाशादयः। यथा परशुरामवाक्यम्—

[स्वयं को सबसे बढ़कर समझना अथवा सबको अपने से हीन समझना गर्व है। विभाव बल, ऐश्वर्य, कुलीनता, लावण्य आदि हैं। अवज्ञा, भ्रू एवं नेत्रों की चेष्टा, हँसना और पौरुष का प्रकाशन करना आदि अनुभाव हैं। जैसे परशुराम-कथन में—]

निष्पीते कलशोद्भवेन जलधौ गौरीपतेर्गङ्गया
होतुं हन्त वपुर्ललाटदहने यावत्कृतः प्रक्रमः।
तावत्तत्र मया विपक्षनगरीनारीदृगम्भोरुह-
द्वन्द्वप्रस्खलदश्रुवारिपटलैः सृष्टाः पयोराशयः॥ २३॥

[अगस्त्य के द्वारा समुद्र पी लिए जाने पर गङ्गा ने जैसे ही शङ्कर के तृतीय नेत्र में अपने शरीर को जलाने का उपक्रम किया वैसे ही वहाँ मैंने शत्रु-नगरी की नारियों के कमलनेत्रों से बहते हुए आँसुओं से समुद्र का सृजन कर दिया।]

व्याख्या—यह परशुराम की उक्ति है। प्रसिद्ध है कि मुनि अगस्त्य ने पृथ्वी के सभी समुद्रों का जल पीकर समाप्त कर दिया था। यहाँ कल्पना की गई है कि यह देखकर गंगा अत्यन्त दुःख को प्राप्त हुई और वे शंकर के तृतीय नेत्र की अग्नि में स्वयं को जलाने का उपक्रम करने लगीं। इस प्रकार यहाँ गंगा और समुद्र में पति-पत्नीत्व-भाव की सिद्धि की गई है। अब परशुराम कहते हैं कि मैं गंगा की यह करुणावस्था न देख सका और मैंने अपने सभी

शत्रुओं का वध कर दिया जिससे उनकी सभी स्त्रियों को महान् शोक प्राप्त हुआ और उनके नेत्रों के बहते हुए जल से एक अन्य समुद्र का निर्माण कर दिया। यह प्रसिद्ध है ही कि परशुराम ने २१ बार पृथ्वी के क्षत्रियों का संहार किया था। यहाँ बल, ऐश्वर्य आदि विभाव हैं, पौरुष का प्रकाशन अनुभाव है तथा गर्व संचारी है।

इष्टसंशयोऽनिष्टजिज्ञासा वा विषादः। इष्टपदेन जीवनधनयशः-शरीरपुत्रकलत्रादयः। विभावा अपराधधनगमनादयः। अनुभावा उत्त-मानां सहायान्वेषणोपायचिन्तादयः, मध्यमानां विमनस्कता, अधमाना-मिष्टध्यानधावनमुखशोषनिद्राश्वासादयः। यथा—

[इष्ट का संशय अथवा अनिष्ट का विचार विषाद है। इष्ट से अभिप्राय जीवन, धन, यश, शरीर, पुत्र, कलत्र आदि है। अपराध, धन का नाश आदि विभाव हैं। अनुभाव उत्तम पुरुषों के लिए हैं सहायता चाहना, उपाय सोचना आदि, मध्यम कोटि के पुरुषों का विमनस्कता (उदासी अथवा मन की अस्थिरता) है तथा अधम कोटि के पुरुषों का इष्ट का ध्यान, भागना, मुँह सूखना, नींद, श्वास आदि हैं। जैसे—]

प्रत्यावृत्य यदि व्रजामि भवनं वाचां भवेत्प्रच्यवो
निर्गच्छामि निकुञ्जमेव यदि वा को वेद किं स्यादितः।
तिष्ठाम्येव यदि क्वचिद्वनतटे किं जातमेतावता
मध्ये वर्त्म कलानिधेः समुदयो जातः किमातन्यताम् ॥ २४ ॥

[बीच मार्ग में ही चन्द्रमा का उदय हो गया है, अब क्या किया जाए? यदि मैं वापस घर को चली जाती हूँ तो वचन-भंग होता है, यदि निकुंज ही की ओर चली जाती हूँ तो क्या घटित होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता और यदि कहीं वन-तट पर ही ठहर जाती हूँ तो इससे क्या लाभ होगा?]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में मार्ग में चन्द्रोदय हो जाने पर कृष्णाभि-सारिका नायिका की मनोदशा का चित्रण किया गया है। भानुदत्त ने अपने ग्रन्थ 'रसमंजरी' में 'तमिस्राऽभिसारिका' का वर्णन किया है। इस संबंध में उन्होंने कहा है—

नाम्बुजैर्न कुमुदैरुपमेयं स्वैरिणीजनविलोचनयुग्मम्।
नोदये दिनकरस्य नवेन्दोः केवले तमसि तस्य विकासः ॥ ८० ॥

—अर्थात् स्वैर विहार करने वाली अभिसारिका नायिकाओं की आँखों की उपमा कमलों और कुमुदों से नहीं देनी चाहिए, क्योंकि वे आँखें न तो कमलों

के समान सूर्योदय-काल में विकसित होती हैं और न कुमुदों के समान चन्द्रोदय-काल में। केवल अन्धकार में ही उनका विकास होता है।

'रसतरंगिणी' की उक्त नायिका नायक से अभिसार के लिए रात्रि के अन्धकार में वन-प्रदेश की ओर जा रही है जहाँ नायक उसकी प्रतीक्षा में रत है। अकस्मात् चन्द्रमा का उदय हो जाता है और सर्वत्र ज्योत्स्ना फैल जाती है। अब मार्ग में जाते हुए उसे कोई देख न ले, यह सोचकर वह ठिठककर खड़ी हो जाती है। उसका प्रथम विचार घर की ओर वापिस जाने का होता है किन्तु वह सोचती है कि इससे नायक को दिया गया अवश्य मिलने का वचन भंग होता है। यदि वन की ही ओर चलती हूँ तो न जाने क्या घटना घटित हो जाए, ज्ञात नहीं। और यदि वन की सीमा पर ही ठहर जाती हूँ तो उससे क्या लाभ होगा ? कुछ भी नहीं। अर्थात् न तो नायक से मिलन हो सकेगा और न ही घर की ओर जा सकती हूँ। यहाँ इष्ट का संशय और अनिष्ट का विचार दोनों ही विद्यमान हैं। अतः विषाद की स्थिति है। अभिसरण का अपराध विभाव है और अनिष्ट-निवारण की चिन्ता अनुभाव है।

औत्सुक्यं कालासहिष्णुता सकलेन्द्रियाणामेकदैव क्रियारम्भो वा। प्रियसंस्मरणादयो विभावाः। अनुभावास्तन्द्रागात्रगौरवादयः। यथा—

[इष्ट प्राप्ति में विलम्ब न सहना अथवा सभी इन्द्रियों से एक साथ ही कार्यारम्भ करना औत्सुक्य है। विभाव प्रिय-स्मरण आदि हैं। तन्द्रा, शरीर का भारी होना आदि अनुभाव हैं। जैसे—]

आद्यः कैरपि केलिकौतुकमनोराज्यैर्द्वितीयः पुन-
र्मल्लीकेसरचारुचम्पकनवाम्भोजस्रजां गुम्फनैः।
काञ्चीकुण्डलहारहेमवलयन्यासैस्तृतीयस्ततो
नीतः सुन्दरि वासरस्य चरमो यामः कथं यास्यति ॥ २५ ॥

[हे सखी ! दिन का पहला प्रहर तो उन आनन्दमय केलि कौतुकों के चिन्तन में बिता दिया, दूसरा प्रहर मल्लिका पुष्प, सुन्दर चम्पा और नवीन कमलों की माला गूँथने में बिता दिया तथा तीसरा प्रहर काञ्चीकुण्डल, हार और स्वर्ण-कंकणों के धारण करने में बीत गया परन्तु दिन का चौथा प्रहर किस प्रकार बीतेगा ?]

टिप्पणी—इस श्लोक में प्रिय-मिलन की उत्सुकता में समय बिताने में नायिका की कठिनाई का वर्णन है। यह नायिका का अपनी सखी के प्रति कहा गया वचन है। भाव यह है कि रात्रि आने में अभी भी एक प्रहर शेष है।

उत्सुकता के कारण यह समय बिताना कठिन हो रहा है। यहाँ प्रिय-स्मरण विभाव है तथा गात्रगौरव और चिन्ता अनुभाव हैं।

इतरदिन्द्रियमपहाय मनस्त्वचि यदा वर्तते तदा निद्रा। सुप्तस्य कारणत्वात्सुप्तात्प्राङ् निद्रा भरतेनोक्ता। स्वप्नवहनाडिकायां मनो यदा वर्तते तदा स्वप्नादिसम्भवः। तत्र विभावाः स्वभावचिन्ताऽऽलस्य-क्लमादयः। अनुभावाः पार्श्वकरणनयनभ्रूचलनविभ्रमवचनस्वप्नदर्श-नादयः। यथा—

[अन्य इन्द्रियों को छोड़कर मन जब त्वचा में रहता है तब निद्रा होती है। यह निद्रा 'सुप्त' का कारण है इसलिए भरत ने निद्रा को सुप्त से पहले कहा है। स्वप्नवाहक नाड़ी में जब मन चला जाता है तब स्वप्नादि संभव होते हैं। इसके विभाव स्वभाव, चिन्ता, आलस्य, खेद आदि हैं। अनुभाव करवट लेना, नेत्र-भौंह का चलाना, अप्रासंगिक वचन, स्वप्नदर्शन आदि हैं। उदाहरण—]

व्याख्या—साधारणतः मन की निवृत्ति को निद्रा कहा जाता है। भानुदत्त का मत है कि निद्रा की स्थिति में मन त्वचा में रहता है। अर्थात् स्थूल रूप से इस स्थिति में मन कार्यशील नहीं रहता। मनोवैज्ञानिक इस स्थापना को स्वीकार नहीं करेगा क्योंकि उसके अनुसार मन एक नहीं है तथा वह किसी रूप में सदैव कार्यशील रहता है। मनोविज्ञान के अनुसार मानस का चेतन-पक्ष मनुष्य के सामान्य व्यवहार में व्यक्त होता है। इसके द्वारा वे व्यवहार व्यक्त होते हैं जिनका हमें पूर्ण ज्ञान है। अचेतन पक्ष की धारणा मनोविज्ञान की एक महत्त्वपूर्ण खोज है। इसे चेतन से भी अधिक बलशाली कहा गया है। सामान्य रूप से कह सकते हैं कि निद्रा इसकी भूमिका है और स्वप्न प्रति-फलन। भानुदत्त ने कहा है कि मन जब स्वप्नवाहक नाड़ी में चला जाता है तो स्वप्नादि की सृष्टि होती है। यह कहकर वे वास्तव में अचेतन मन की ही बात कर रहे हैं। यह स्वप्न से पहले की स्थिति है। भरत ने कहा है—'सुप्तं नाम निद्रासमुत्थम्' (७/७४ से आगे का गद्य) अर्थात् सुप्त निद्रा से उद्भूत होता है। अतः निद्रा कारण है, सुप्त कार्य। निद्रा संचारी का विशद-तम लक्षण 'नाट्यदर्पण' में प्राप्य है। कहा गया है कि—'इन्द्रियाव्यापृतिर्निद्रा खेदादेर्मूर्धकम्पिनी' (३/१३८) अर्थात् निद्रा उस समय होती है जब इन्द्रियाँ अपने विषयों का ग्रहण नहीं कर पातीं। इसकी व्याख्या में कहा गया है कि स्पर्शनादि इन्द्रियों की अव्यापृत्ति का अर्थ है विषयग्रहण के व्यापार का विराम

होना क्योंकि मन तो निद्रा में भी व्यापारशील रहता है। इसके विभाव हैं तामस स्वभाव, चिन्ता, आलस्य, खेद (थकान) आदि तथा करवट लेना, नेत्र और भौंहों का चालन करना, अप्रासंगिक वचन बोलना तथा स्वप्न देखना आदि अनुभाव हैं। यहाँ एक उदाहरण देते हैं—

गच्छन्कच्छं तपनदुहितुः पिच्छगुच्छावतंसः
पश्यन्नस्मद्वदनमसकृच्चक्षुषा कुञ्चितेन।
स्निग्धापाङ्गः शिथिलचरणः स्तोकविस्पष्टहासः
स्वप्ने दृष्टः कमलकलिकामण्डनो मेघखण्डः॥ २६॥

[मैंने स्वप्न में मोरपंख का आभूषण धारण किए हुए, बंकिम दृष्टि से बार-बार मेरे मुख की ओर देखते हुए, प्रेमपूर्ण कटाक्ष से युक्त, गति में शिथिलता लिए हुए और धीरे-धीरे अस्पष्ट रूप में मुसकराते हुए कमल की कली से युक्त मेघखंड को यमुना के कछार की ओर जाते हुए देखा है।]

व्याख्या—यह राधा का अपनी सखी के प्रति वचन है। इस संबंध में यह विशेष रूप से कहना है कि यहाँ भानुदत्त ने निद्रा का नहीं वरन् स्वप्न का उदाहरण दिया है। 'स्वप्न' और 'सुप्त' के संबंध में आगे विचार किया गया है। भानुदत्त ने यह कहा ही है कि मन जब स्वप्नवाहक नाड़ी में चला जाता है तो स्वप्नादि सम्भव होते हैं। यहाँ यही प्रसंग उठाया गया है। राधा अपनी सखी से कहती है कि मैंने स्वप्न में मेघखंड का दर्शन किया। यह मेघखंड कौन है? स्पष्ट ही यह कृष्ण की ओर सकेत है। यह विशेषण दोनों के श्याम वर्ण की साम्यता के आधार पर निर्धारित किया गया है। मोरपंख का आभूषण धारण किए, बकिम दृष्टि से देखते हुए आदि क्रियाएँ प्रसिद्ध मेघखंड की नहीं हो सकतीं। अतः अर्थ का स्पष्टीकरण कृष्ण के संदर्भ से होगा। यहाँ चिन्ता विभाव है तथा अनुभाव है स्वप्नदर्शन।

ग्रहाद्यावेशोऽपस्मारः। तत्र विभावा अपावित्र्यशून्यगृहस्थितिधातुवैषम्योत्कटदुःखभयादयः। अनुभावाः कम्पफेननिःश्वासभूपतनविपर्यासजिह्वालोलनादयः। यथा—

[ग्रह आदि का आवेश अपस्मार है। इसके विभाव अपवित्रता, शून्यगृह में रहना, धातु-वैषम्य, उत्कट दुःख, भय आदि हैं। काँपना, झाग निकलना, निःश्वास, भूपतन, भ्रांति और जिह्वा की चंचलता आदि अनुभाव हैं। जैसे—]

टिप्पणी—यहाँ ग्रह आदि के आवेश से तात्पर्य है भूत-प्रेत इत्यादि से

आविष्ट होने का स्मरण। विभावों में धातु-वैषम्य से तात्पर्य है शारीरिक रोगों का वैषम्य। शेष स्पष्ट ही है।

उद्वेलन्नवपल्लवाधररुचः पर्यस्तशाखाभुजाः
स्फूर्जत्कोरकफेनबिन्दुपटलव्याकीर्णदेहश्रियः।
भ्राम्यद्भृङ्गकलापकुन्तलजुषः श्वासानिलोत्कम्पिताः
शैलं प्रेक्ष्य कपेर्निपातितमपस्मारं दधुर्भूरुहाः ॥२७॥

मूर्च्छा चात्रैवान्तर्भवति।

[कवि के द्वारा धारण किए हुए पर्वत को गिराया जानकर मानो वृक्ष अपस्मार से ग्रस्त हो गए। काँपते नव पल्लव ही उनके अधर हैं, फैली हुई शाखाएँ ही भुजाएँ हैं; नई-नई फूटती कलियाँ ही मानो शरीर पर व्याप्त फेन के बिन्दु हैं, घूमते हुए भौंरों का समुदाय ही केशपाश है और वायु ही श्वासों का कम्पन है। मूर्च्छा का भी इसी में अन्तर्भाव हो जाता है।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में हनुमान के द्वारा ले जाए जाते हुए द्रोणाचल को भरत के द्वारा गिराए जाने के समय का आलंकारिक वर्णन किया गया है। पर्वत के गिरने पर वृक्षों में अपस्मार की स्थिति वैसे ही दिखाई गई है जैसी व्यक्ति में होती है। वृक्ष के नव पल्लवों के रूप मे मानो अधरों में कम्पन हो रहा है, शाखाओं के फैल कर गिरने में भूपतन की स्थिति है, वृक्ष की नवीन कलियों के प्रस्फुटन में फेन है, घूमते हुए भ्रमर मानो उसके केशपाश हैं जो भ्रान्ति के सूचक हैं और वायु के रूप में निःश्वास अभिव्यक्त हो रहा है। इस प्रकार अपस्मारग्रस्त व्यक्ति के समस्त लक्षण वृक्षों में प्रकट हो गए हैं। यहाँ दुःख आदि विभाव तथा भूपतन आदि अनुभाव हैं। भानुदत्त ने मूर्च्छा को अपस्मार में ही गिना है। अर्थात् मूर्च्छा पृथक् से संचारी भाव नहीं है।

अपस्मार अलंकार-शास्त्र की अपेक्षा आयुर्वेद का विषय व्याधि-रूप होने के कारण है।

त्वचमपि विहाय मनः पुरीततीं वर्तते तदा सुप्तम्। निद्रा विभावः। अनुभावा नेत्रनिमीलनप्रलयश्वासोच्छ्वासादयः। यथा—

[त्वचा को भी छोड़कर जब मन पुरीतती नाम की नाड़ी में स्थित होता है तब सुप्त संचारी भाव होता है। निद्रा विभाव है। नेत्रनिमीलन, प्रलय सात्त्विक भाव), श्वासोच्छ्वास आदि अनुभाव हैं। जैसे—]

व्याख्या—पहले यह प्रसंग आ चुका है कि जब मन अन्य इन्द्रियों को छोड़कर त्वचा में रहता है तब निद्रा होती है। यहाँ निद्रा से आगे सुप्त का

वर्णन है। निद्रा को सुप्त का विभाव कहा गया है। अतः निद्रा कारण है और सुप्त कार्य है। कहा गया है कि जब मन त्वचा को भी छोड़कर पुरीतती नामक नाड़ी में स्थित हो जाता है तो सुप्त संचारी होता है। पुरीतत् नाड़ी की स्थिति हृदय के समीप मानी गई है। सुप्त का विभाव है निद्रा और अनुभाव हैं नेत्रनिमीलन, प्रलय सात्त्विक, श्वासोच्छ्वास आदि।

'नाट्यशास्त्र' के अनुकरण पर इस संचारी को 'सुप्त' कहा गया है किन्तु इस संचारी को 'सुप्ति' और 'स्वप्न' नाम भी दिए गए हैं। शारदातनय ने इसे सुप्ति कहा है—'सुप्तिर्निद्रासमुत्था स्यात्तां मन्दाक्षिनिमीलनैः' (भावप्रकाशन, पृष्ठ २३)। विद्यानाथ ने भी इसे सुप्ति ही कहा है (प्रतापरुद्रीय, पृष्ठ १८२)। विश्वनाथ इसे स्वप्न कहते हैं—'स्वप्नो निद्रामुपेतस्य' (साहित्यदर्पण, ३/१५२)। उनके अनुसार स्वप्न से अभिप्राय है निद्रा में निमग्न होने पर विषयानुभव। स्वप्न वास्तव में मानसिक अवस्था है और सामान्य निद्रा एवं निद्रा संचारी से भिन्न है। स्पष्ट है कि 'सुप्त' को 'स्वप्न' भी कहा गया है। हम देख आए हैं कि भानुदत्त ने 'निद्रा' के उदाहरण में 'स्वप्न' की स्थिति को लिया है। 'सुप्त' के उदाहरण में जो श्लोक भानुदत्त ने प्रस्तुत किया है उसका 'स्वप्न' से कोई संबंध नहीं है।

श्वासोच्छ्वासंप्रचलदधरोपान्तमामीलिताक्षं
क्रीडाकुञ्जे तपनदुहितुः सुप्यतः श्रीमुरारेः।
अन्तःस्मेरं निभृतनिभृतं काऽपि कर्णावतंसं
काचिद्वाह्वोः कनकवलयं दाम मुष्णाति काचित् ॥ २८ ॥

[श्वासोच्छ्वास से कम्पमान अधर के कोण से युक्त तथा नेत्रों को बन्द किए हुए श्रीकृष्ण के यमुना के कुंज में सोते हुए, मन-मन में हँसते हुए कोई गोपी चुपचाप उनके कर्णावतंस को, कोई बाहुओं के कनकवलय को और कोई उनके हार को चुराती है।]

टिप्पणी—यहाँ सुप्त की स्थिति कृष्ण में दिखाई गई है। शयन विभाव है, श्वासोच्छ्वास आदि अनुभाव हैं।

इन्द्रियाणां प्रथमप्रकाशो विबोधः। निद्राच्छेदो विभावः। अनुभावा अङ्गाकृष्टिजृम्भाऽक्षिमर्दनांगुलीमोडनादयः। यथा—

[इन्द्रियों (ज्ञानेन्द्रियों) का प्रथम प्रकाश ही विबोध है। निद्रा का नाश विभाव है। अंगड़ाई, जम्हाई, आँख मलना तथा अंगुलियों का मोड़ना आदि अनुभाव हैं। उदाहरण—]

राधायाः सहसा दृशा कुवलयद्रोणीदरिद्रं नभः
कुर्वन्त्याः कलकण्ठकण्ठनिनदैः सांकेतिकैर्जाग्रतः ।
अङ्गाकृष्टिविवर्तमानवपुषो देवस्य कंसद्विषो
लोलापांगतरंगभंगचतुर नेत्राम्बुजं पातु नः ॥ २९ ॥

[अपनी दृष्टि से सहसा क्रीड़ामंडप को कमलद्रोणी के सदृश नेत्रों से शून्य करती हुई राधा के मधुर कण्ठस्वर के संकेत से जागते हुए, अंगड़ाई लेते हुए जिनका शरीर इधर-उधर लोटपोट हो रहा है ऐसे कंसद्वेषी श्रीकृष्ण का चंचल कटाक्ष में निपुण नेत्रकमल हमारी रक्षा करे ।]

टिप्पणी—यहाँ निद्राच्छेद विभाव है तथा अंगड़ाई आदि अनुभाव हैं ।

पराहंकारप्रशमोत्कटसमीहाऽमर्षः । विभावा अवमानाऽधिक्षेपादयः । अनुभावाः स्वेदशिरःकम्पननयनाऽऽरुण्यादयः । यथा—

[दूसरे के अहंकार को समाप्त करने की उत्कट इच्छा अमर्ष है । विभाव निन्दा, अपमान आदि हैं । अनुभाव हैं स्वेद, शिरःकम्प, नेत्रों की लालिमा आदि । जैसे—]

अद्याज्ञा नैव भर्तुः सरसिजनयनासूनुसेनासमेतं
बद्ध्वा लांगूलमूले दशमुखमभितो भूतले भ्रामयामः ।
शश्वन्मार्गावलोकप्रचलनयनया सीतया साकमेनां
लङ्कामुत्पाट्य किं वा रघुपतिचरणाम्भोजयोर्योजयामः ॥३०॥

[आज स्वामी (राम) की आज्ञा नहीं है (अन्यथा) कमलनयना स्त्री, पुत्र और सेना सहित रावण को पूँछ में बाँधकर चारों ओर पृथ्वी में घुमाता; अथवा निरन्तर राम की प्रतीक्षा करते रहने से अस्थिर नेत्रों वाली सीता के सहित इस लंका को उखाड़कर रघुपति के चरणकमलों में रख देता ।]

टिप्पणी—यह हनुमान का वानरों के प्रति कथन है । यहाँ राक्षसकृत तिरस्कार विभाव तथा कठोर उक्ति अनुभाव है ।

आकारव्यवहार[1]संगोपनमवहित्थम् । विभावा व्रीडाधाष्ट्र्यकौटिल्यगौरवादयः । अनुभावा अन्यथाकरणाऽन्यथाप्रेक्षणान्यथाकथनादयः । यथा—

[आकार और व्यवहार का छिपाना ही अवहित्थ है । लज्जा, धृष्टता, कुटिलता, गुरुता आदि विभाव हैं । अनुभाव हैं अन्यथाकरण, अन्यथाप्रेक्षण, अन्यथाकथन आदि । जैसे—]

१. विहारेति पाठान्तरम् ।

टिप्पणी—अर्थात् मनोभावों के अनुरूप आकृति और व्यवहार में होने वाले परिवर्तनों का गोपन करना ही अवहित्थ है। 'अन्यथा' शब्द का अर्थ है और ही प्रकार से। अर्थात् जैसा है वैसा नहीं।

त्यक्त्वा सद्म विभीषणः स गतवान्बद्धः स पाथोनिधिः
किञ्चित्क्रुध्यति सोऽपि सारणिरतः सीता परित्यज्यताम्।
इत्याकर्ण्य सुहृद्गणस्य वचनं स्मेराननो रावणो
मुक्तादाम करेण कण्ठसविधे कीरस्य विन्यस्यति ।।३१।।

['वह विभीषण घर छोड़कर चला गया है, वह समुद्र भी बाँधा गया और वह सारणि भी कुछ क्रुद्ध है; इसलिए सीता का परित्याग कर दो।' मित्रों से इस प्रकार के वचन सुनकर मुसकराता हुआ रावण मोतियों की माला को हाथ से तोते के कण्ठ के पास रखता है।]

व्याख्या—राक्षसगण परस्पर वार्तालाप करते हुए कह रहे हैं कि रावण के मित्र उसे सचेत करते हैं। उसे कहा गया है कि वह विभीषण बन्धु जो परम हितू होता है घर त्यागकर इसलिए चला गया है कि तुम्हारी अनीति सहन नहीं कर सकता, राम के द्वारा वह विशाल समुद्र भी बाँध लिया गया है जिसका बंधन संभव नहीं था—अर्थात् लका तक आने के लिए राम के द्वारा पुल बाँध लिया गया है, वह मन्दोदरी का सारणि नामक भाई भी तुमसे इसलिए क्रुद्ध है कि तुमने परस्त्री का हरण कर उसकी बहन का अपमान किया है। अतः अच्छा हो कि तुम सीता को शीघ्र ही मुक्त कर राम को लौटा दो। रावण इस प्रकार के वचन सुनकर मुसकरा रहा है और मित्रों के प्रति अपने उपेक्षा भाव को छिपाने के लिए मोतियों की माला को तोते के कण्ठ के पास रख रहा है—अर्थात् वह इस प्रसंग की उद्भावना कर रहा है कि देखें मोतियों को दाड़िम-बीज समझ कर तोता उन्हें खाता है या नहीं। यहाँ धृष्टता विभाव है तथा अन्यथाकरण अनुभाव है।

उग्रता निर्दयता। विभावा अपराधदोषकीर्तनचौर्यादयः। अनुभावास्तर्जनताडनादयः। यथा—

[निर्दयता ही उग्रता है। अपराध, दोषकीर्तन, चोरी आदि विभाव हैं। डराना, पीटना आदि अनुभाव हैं। जैसे—]

कोदण्डं रणभिन्नभूपतिभुजादंडैः प्रचण्डैः कृतं
तत्र ज्या प्रतिपक्षराजरमणीवेणीगुणैर्गुम्फिता।

क्रूराकारकुठारतारपतनप्रभ्रष्टदुष्टद्विप—
त्रुटचद्दन्तदलैः कृतोस्ति विशिखस्तल्लक्ष्यमुद्वीक्ष्यते ।। ३२ ।।

[रण में मारे गए राजाओं की प्रचण्ड भुजाओं से धनुष बनाया है, शत्रु राजाओं की रमणियों की वेणी से प्रत्यंचा बनाई है और कठोर कुठार के प्रहार से टूटने वाले दुष्ट हाथियों के दाँतों से बाण बनाया है और अब उसका लक्ष्य ढूंढ़ना है ।]

व्याख्या—सीता-स्वयंवर में धनुष-भंग के अवसर पर राम के प्रति कहा गया परशुराम का कथन । सम्पूर्ण श्लोक का भाव यह है कि मैंने युद्ध में बड़े-बड़े बलशाली वीर राजाओं की भुजाओं को उखाड़ फेंका है, शत्रु राजाओं की स्त्रियों का नाश किया है और कठोर दाँतों वाले हाथियों को भी मार गिराया है और अब उस व्यक्ति का संहार करना है जिसने शिव द्वारा मुझ को दिए हुए धनुष को तोड़ा है । यहां रूपक बाँध कर परशुराम ने अपनी उग्रता प्रकट की है। धनुर्भंग का अपराध यहाँ विभाव है और तर्जन अनुभाव है ।

यथार्थज्ञानं मतिः । अत्र विभावाः शास्त्रचिन्तनादयः । अनुभावाः शिष्योपदेशभ्रूक्षेपकरचालनचातुर्यादयः । यथा—

[यथार्थज्ञान ही मति है । इसके विभाव शास्त्रचिन्तन आदि हैं । शिष्य के प्रति उपदेश, भौंह चलाना, हाथों का संचालन, चतुरता आदि अनुभाव हैं । जैसे—]

लाटीनेत्रपुटीपयोधरघटीक्रीडाकुटीदोस्तटी—
पाटीरद्रुमवर्णनेन　कविभिर्मूढैर्दिनं　नीयते ।
गोविन्देति जनार्दनेति जगतां नाथेति कृष्णेति च
व्याहारैः समयस्तदेकमनसां पुंसां परिक्रामति ।। ३३ ।।

[मूढ़ कवि लाट देश की स्त्रियों के सुन्दर नेत्र, कुचकलश, क्रीड़ा (काम-क्रीड़ा)-स्थल, बाहुमूल तथा चन्दन-लेप का वर्णन करके दिन बिताते हैं परन्तु भक्ति में लीन पुरुषों का समय तो हे गोविन्द ! हे जनार्दन ! हे जगन्नाथ ! हे कृष्ण ! इस प्रकार के कथनों से व्यतीत होता है ।]

टिप्पणी—यहाँ शास्त्रचिन्ता विभाव एवं उपदेश अनुभाव है ।

नयविनयाऽनुनयोपदेशोपालम्भा अत्रैवान्तर्भवन्ति । उपदेशो यथा—

[नय, विनय, अनुनय, उपदेश और उपालम्भ का भी मति में अन्तर्भाव हो जाता है (अतः ये पृथक् संचारी नहीं कहे गए) । उपदेश का उदाहरण—]

वसु प्रदेयं खलतोऽवधेयं मनो निधेयं चरणे हरस्य।
निजं विधेयं कृतिभिर्विधेयं विधेर्विधेयं विधिरेव वेत्ति ॥ ३४ ॥

[धन का दान करना चाहिए, दुर्जन से सावधान रहना चाहिए, मन को शंकर के चरणों में लगाना चाहिए, कुशल पुरुषों का अपना कर्त्तव्य करना चाहिए और विधाता का कर्त्तव्य तो विधाता ही जानता है।]

टिप्पणी—अर्थात् बुद्धिमान मनुष्य को अपना कर्त्तव्य करना चाहिए। फल देने के विषय में सोचना तो विधाता का काम है। यहाँ कर्मफल की इच्छा का परित्याग करके कर्म का उपदेश है।

उपालम्भोऽपि द्विविधः—प्रणयात्मा कोपात्मा च। प्रणयात्मा यथा—

[उपालम्भ भी दो प्रकार का होता है—प्रेमात्मक और कोपात्मक। प्रेमात्मक का उदाहरण—]

पाषाणे यदि मार्दवं यदि पयोधारा हुताशोदरे
व्यालीनां वदने सुधा यदि रवेर्गर्भे हिमानी यदि।
स्थेया किञ्च समीरणे यदि तदा स्वप्ने भवेत्सत्यता
किं नाम स्मरभूमिपाल भगवन् क्रोधान्मुधा धावसि ॥३५॥

[हे कामदेव! हे भूमिपाल! हे भगवन्! क्रोध में क्यों व्यर्थ भागते फिरते हो? यदि पत्थर में कोमलता हो, अग्नि से जल की धारा बहने लगे, सर्पिणी के मुख में अमृत होने लगे, सूर्य में हिम की शीतलता अनुभव हो और वायु में यदि स्थिरता हो तभी स्वप्न में भी सच्चाई हो सकती है।]

व्याख्या—यहाँ नायिका स्वप्न में पति को देखने पर अपनी विरहावस्था से पति को सूचित करने के लिए कामदेव को उपालम्भ देती है। स्वप्न में पति का दर्शन तो हुआ है किन्तु यह इस बात का सूचक नहीं है कि पति से शीघ्र ही समागम भी हो जाएगा। स्वप्न में सत्यता को स्वीकार कर लेना ऐसा ही है जैसे पाषाण में कोमलता को, अग्नि में जलधारा को, सर्पिणी के मुख में अमृत को, सूर्य में शीतलता को और वायु में अचंचलता को स्वीकार कर लेना। उपालंभ यह है कि जब स्वप्न में सत्यता है ही नहीं तो स्वप्नमात्र में प्रिय को दिखाकर तुम मुझे क्यों दुःख देते हो?

कोपात्माऽमर्ष एवान्तर्भवति। यथा—

[कोपात्मक उपालंभ का अमर्ष में ही अन्तर्भाव हो जाता है। उदाहरण—]

जनयसि जगदेव देव देवाभरण सुधारसशीतलं सुधांशो।
उरसि वहसि मे तथाऽपि तापं यदुपतिवक्त्रसखाऽसि किं ब्रवीमि ॥३६॥

[हे महादेव के आभूषण ! हे देवाधिदेव ! हे सुधांशु ! तुम जगत् को सुधारस से शीतल करते हो। परन्तु मेरे हृदय में फिर भी ताप उत्पन्न करते हो, पर तुम श्रीकृष्ण के मुख के सदृश हो इसलिए क्या कहूँ ?]

टिप्पणी—इस श्लोक में राधा का चन्द्रमा के माध्यम से कृष्ण को उपालम्भ है।

ज्वरादिविकाराख्यो व्याधिः । कुपितधातुभयकामक्लेशादयो विभावाः । अनुभावा दशोपद्रवाः । यथा—

[ज्वरादि से उत्पन्न विकार व्याधि है। कुपित धातु, भय, काम, क्लेश आदि विभाव हैं। अनुभाव दस उपद्रव हैं। उदाहरण—]

टिप्पणी—यहाँ व्याधि से अभिप्राय शरीर की कृशता, सन्ताप आदि हैं। अभिलाष, स्मृति, चिन्ता, मरण, गुणकीर्तन, व्याधि, प्रलाप, उन्माद, जड़ता और उद्वेग—ये दस उपद्रव हैं।

दातुं स्वीयमनर्घ्यदीधितपदं तस्याः कुरङ्गीदृशः
केयूरं कनकांगुलीयकमिवानेतुं बहिर्गच्छति।
अन्यत्कृष्ण ! निवेदयामि किमितो वेणीमिषात्कालियो
दृष्ट्वा लोचनवारि कालियसरोभ्रान्त्या परिभ्राम्यति ।। ३७ ।।

[उस मृगनयनी का केयूर मानो इसलिए बाहर निकल रहा है कि वह अपना उत्कृष्ट स्थान तुम्हारे हाथ को देना चाहता है, इसीलिए सोने की अंगूठी को लेने के लिए आ रहा है। हे कृष्ण ! उसकी अवस्था का और क्या वर्णन करूँ ? उसके नेत्रों के जल को देखकर मानो यमुना सरोवर की भ्रान्ति से कालिय नाग ही वेणी के बहाने वहाँ घूम रहा है।]

व्याख्या—यह राधा की सखी का कृष्ण के प्रति कथन है और इसमें राधा की कृशता और संताप वर्णित हैं। वह इतनी कृश हो गई है कि उसके बाहु का आभूषण बाहु से निकल-निकल पड़ता है। यहाँ कल्पना की गई है कि वह अपना स्थान मानो इसलिए छोड़ रहा है कि कृष्ण उसके बाहु का ग्रहण कर उसे सहारा दें। कृशता के संबंध में यह भी कहा है कि आभूषण नीचे की ओर सरकता हुआ अंगूठी को लेने के लिए आ रहा है। अर्थात जिस बाहु में पहले केयूर पहना जाता था अब अंगूठी ही उसमें पहनी जा सकती है। इस प्रकार यहाँ उसकी कृशता व्यक्त हुई। अब संताप के विषय में आगे कहा गया है। कालिय नाग यमुना में रहता है। इधर राधा के नेत्रों से अश्रुजल बह रहा है। तो कालिय नाग नेत्रों के अश्रुजल को ही यमुना सरोवर समझ कर वेणी के रूप

में वहाँ निवास कर रहा है। इससे उसका सन्ताप व्यक्त हुआ। यहाँ काम विभाव है और व्याधि उपद्रव अनुभाव है।

विना विचारमाचार उन्मादः। न चागम्यागमनेऽतिव्याप्तिः। विना विचारमितिपदेन तद्व्यावर्तनात्। तत्र सुखमुद्देश्यम्, तदंशे विचार एव क्रिया न समीचीनेत्यन्यदेतत्। अप्रेक्ष्यकारिता उन्माद इति यस्य मतं तत्रेदं दूषणम्। तत्र विभावाः प्रियवियोगविभवभ्रंशादयः। अनुभावा वृथालपितवृथाहसितवृथारोदनादयः। यथा—

[बिना विचार के आचरण उन्माद है। अगम्या के प्रति गमन करना उन्माद के अन्तर्गत नहीं माना जाएगा क्योंकि लक्षण में बिना विचारे यह पद दिया है। इससे उसमें अतिव्याप्ति न होगी। अगम्या के प्रति गमन सुखप्राप्ति के लिए सोद्देश्य है इसलिए उसे बिना विचारे नहीं कहा जा सकता। 'यह क्रिया उचित नहीं है', यह मानना या कहना दूसरी बात है। परन्तु कुछ लोग उन्माद का लक्षण अप्रेक्ष्यकारिता मानते हैं। उनके अनुसार उक्त स्थिति में अतिव्याप्ति होगी इसलिए यह लक्षण नहीं हो सकता। इसके विभाव प्रिय वियोग, विभव का नाश आदि हैं। अनुभाव वृथा आलाप, वृथा हँसना, वृथा रोना आदि हैं। जैसे—]

व्याख्या—बिना सोचे-समझे किया गया आचरण उन्माद कहलाता है। अर्थात् आचरण के उद्देश्य पर जहाँ विचार नहीं किया गया है वह उन्माद है। इस लक्षण की अगम्यागमन में अतिव्याप्ति नहीं होगी। अगम्यागमन से तात्पर्य है ऐसी स्त्री से यौन-संबंध स्थापित करना जो विधानतः निषिद्ध हो। उदाहरण के लिए सगोत्रीय अर्थात् एक ही गोत्र की स्त्री से विवाह रचाना। उन्माद का इसमें अन्तर्भाव न हो इसीलिए यह कहा गया कि बिना विचार के आचरण उन्माद है। अगम्यागमन बिना विचार किए नहीं होता क्योंकि उसका उद्देश्य सुख की प्राप्ति होता है। इसलिए अगम्यागमन को यह नहीं कहा जा सकता कि यह आचरण बिना विचार किए किया गया। यह बात बिलकुल अलग है कि लोक इस क्रिया को उचित नहीं मानता। कुछ लोगों का मत है कि विचार-शक्ति के अभाव की स्थिति उन्माद है। यदि ऐसा मान लेते हैं तो इस लक्षण का अगम्यागमन में अन्तर्भाव हो जाएगा क्योंकि विवेक के अभाव में ऐसा कार्य संभव हो सकता है। इसीलिए इसे उन्माद के लक्षण के रूप में स्वीकार नहीं कर सकते। उन्माद के विभाव हैं प्रिय व्यक्ति का वियोग, धन-समृद्धि का नाश आदि। अनुभाव वृथा आलाप, वृथा हँसना,

वृथा रोना आदि हैं। एक उदाहरण देते हैं—

नैषा काऽपि चकास्ति काञ्चनलता सैवास्ति मे राधिका
पृष्टा चेन्न कुतोऽपि जल्पति तदा संमूर्छिता वर्तते।
इत्थं हन्त विचिन्त्य सिञ्चति मुहुर्नीरैरधीरैर्दृशो
वातं व्यातनुते करेण भुजयोराधाय सम्भाषते॥ ३८॥

[यह शोभित होने वाली कोई कांचनलता नहीं है अपितु मेरी प्रिया राधिका है। कुछ पूछने पर यह बोलती नहीं है, लगता है कि मूर्च्छित है। इस प्रकार निश्चय कर कृष्ण बार-बार उस कांचनलता को नेत्रों से प्रवाहित होने वाले अश्रुओं से सींचते हैं, निःश्वास लेते हैं और उसकी कल्पित भुजाओं को हाथ से पकड़कर प्रलाप करते हैं।]

टिप्पणी—यह एक सखी का दूसरी सखी के प्रति कृष्ण की उन्मादावस्था के संबंध में कथन है। कांचनलता को कांचनलता न समझकर राधिका समझना कृष्ण का बिना विचार का आचरण है। यहाँ प्रिय-वियोग विभाव और वृथा रोदन आदि अनुभाव हैं।

प्राणनिष्क्रमणं निधनम्। विभावाऽनुभावौ स्पष्टौ। यथा—

[प्राणों का निकलना निधन है। इसके विभाव और अनुभाव स्पष्ट ही हैं। जैसे—]

टिप्पणी—व्यभिचारी भावों के परिगणन के प्रसङ्ग में भानुदत्त ने भरत के मत के अनुसार 'मरण' नाम दिया है किन्तु यहाँ 'निधन' शब्द का प्रयोग किया है। विभाव व्याधि-आघात, आदि हैं और निश्चेष्टता आदि अनुभाव हैं।

पर्यस्तांघ्रि विकीर्णबाहु पततः संग्रामभूमौ भिया
लंकेशस्य न केशपाशमनिलः स्प्रष्टुं समाकाङ्क्षति।
उष्णं नोष्णकरः करं किरति वै वक्त्रारविन्दे न वा
स्वेस्वे धाम्नि मिथः कथामपि सुराः प्रव्यक्तमातन्वते॥ ३९॥

[हाथ और पैर फैला कर युद्धभूमि में गिरते हुए रावण के केशपाश को वायु भी भय के कारण स्पर्श करने का साहस नहीं करता, उसके मुखारविन्द पर सूर्य भी अपनी ऊष्म किरणें नहीं डाल रहा और देवता अपने-अपने घरों में भी खुलकर उसकी चर्चा नहीं करते।]

टिप्पणी—युद्धजनित अभिघात विभाव है, भूपतन आदि अनुभाव हैं। भानुदत्त ने यह 'निधन' संचारी का उदाहरण दिया है किन्तु वर्णन में 'निधन' अमुख्य और रावण के प्रताप का भय मुख्य हो गया है। मृतप्राय रावण के

मुख को मुखकमल कहना भी समीचीन नहीं लगता ।

मनोविक्षोभस्त्रासः । तथा च विचारोत्थमनःक्षोभो भीतिः । आकस्मिकमनःक्षोभस्त्रास इति विक्षोभेणैव द्वयोरप्येकत्वेनोपसंग्रहः । विभावा घोरस्वनश्रवणघोरसत्त्वदर्शनादयः । अनुभावाः स्तम्भस्वरभेदरोमाञ्चस्रस्तगात्रतादयः । यथा—

[मन का विक्षोभ त्रास है । विचार से उत्पन्न मन का क्षोभ भीति है और आकस्मिक रूप से होने वाला मन का क्षोभ त्रास है । इसलिए विक्षोभ शब्द से दोनों का ही ग्रहण है । विभाव भयंकर शब्द का सुनना, भयंकर प्राणी का देखना आदि हैं । अनुभाव स्तम्भ, स्वरभेद, रोमांच, गात्र-शैथिल्य आदि हैं । उदाहरण—]

व्याख्या—मन के विक्षोभ अर्थात् व्यग्रता को त्रास कहा जाता है । मन का विक्षोभ दो प्रकार का होता है । पहला है विचार से उत्पन्न मन का क्षोभ । इसे उत्कट बताया गया है और कहा गया है कि यह भय है । दूसरा है आकस्मिक रूप से होने वाला मन का क्षोभ । इसे अनुत्कट बताते हुए त्रास कहा गया है । अब इन दो प्रकार के विक्षोभों में से किसी एक का ग्रहण करते हैं तो शेष दूसरा अधिक व्यभिचारी सिद्ध हो जाता है । इसलिए विक्षोभ पद से दोनों का ही ग्रहण कर लिया गया है । त्रास भयंकर शब्द के सुनने, भयंकर प्राणी के देखने आदि से उत्पन्न होता है । अतः ये इसके विभाव कहे जाएंगे । स्तम्भ अर्थात् जड़ता, स्वरभेद, रोमांच, शरीर की शिथिलता आदि इसके अनुभाव हैं ।

भरत ने करुण-रस के व्यभिचारियों में भय का परिगणन किया है किन्तु व्यभिचारियों में उसकी गणना नहीं की है और न ही व्यभिचारियों में उसका लक्षण-निरूपण किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि भानुदत्त ने यहीं से संकेत ग्रहण किया है ।

शृण्वानो हरिनाम रामवदनादिन्द्रस्य शङ्कां वहन्
कुर्वन्कातरमातरं स भगवान्मैनाकभूमीधरः ।
कुञ्चत्पक्षति भुग्नितश्रुति कृतप्रत्यङ्गचोलावृति
त्यक्तव्याहृति सिन्धुपङ्ककुहरे निर्मंक्तुमाकाङ्क्षति ।। ४० ।।

[राम के मुख से 'हरि' शब्द सुनकर और उससे इन्द्र की शंका करके मन में घबराता हुआ वह शक्तिशाली मैनाक पर्वत पंखों को संकुचित करके और कानों को मोड़कर प्रत्येक अंग को आवृत करता हुआ-सा मौन धारण

करके समुद्र के पंकिल गह्वर में छिप जाना चाहता है।]

टिप्पणी—मैनाक हिमालय और मेना का पुत्र बताया गया है और लंका के निकट समुद्र के बीच में इसकी स्थिति बताई गई है। इन्द्र का समुद्र की मित्रता के कारण पर्वतों से सहज वैर था। 'हरि' शब्द का अर्थ भी इन्द्र है। अतः राम के मुख से 'हरि' शब्द सुनकर मैनाक पर्वत ने इन्द्र अर्थ लगाया और भय से त्रस्त हो गया। यहाँ शत्रु के नाम का श्रवण विभाव है और अंगसंकोच आदि अनुभाव हैं।

विचारो वितर्कः। विभावा विप्रतिपत्तिसंशयसाधकबाधकमान-समुद्भावादयः। अनुभावाः शिरःकम्पभ्रूचालनादयः। वितर्कश्चतुर्विधः—विचारात्मा संशयात्माऽनध्यवसायात्मा विप्रतिपत्त्यात्मा चेति। अनध्यवसाय उत्कटकोटिकसंशयः। प्रत्येकमुदाहरणानि—

[विचार वितर्क है। विभाव विप्रतिपत्ति, संशय के साधक-बाधक मान, समुद्भावन आदि हैं। अनुभाव सिर को कँपाना, भौंहों का चलाना आदि हैं। वितर्क चार प्रकार का है—विचारात्मक, संशयात्मक, अनध्यवसायात्मक और विप्रतिपत्त्यात्मक। अनध्यवसायात्मक उत्कट कोटि का संशय है। प्रत्येक का उदाहरण—]

व्याख्या—विचार अर्थात् ऊहापोह को वितर्क कहते हैं। इसके विभाव हैं विप्रतिपत्ति, संशय के साधक-बाधक मान, समुद्भावन आदि। विप्रतिपत्ति से अभिप्राय है किसी वाद में अनिश्चय की स्थिति। और अधिक कहें तो वादी और प्रतिवादी का परस्पर विरुद्ध जो वाक्य है वह विप्रतिपत्ति है। उदाहरण के लिए एक कहता है कि शब्द नित्य है और दूसरा कहता है कि शब्द अनित्य है। यहाँ शब्द का नित्यत्व और अनित्यत्व—ये दोनों विरुद्ध हैं। वाक्य है 'शब्दो नित्यो न वा'। यहाँ विप्रतिपत्ति समझ लेनी चाहिए। संशय में दो विरुद्ध धर्मों का ज्ञान एक वस्तु में होता है। उदाहरण के लिए पर्वत वह्निमान है या नहीं। यहाँ पहले तो वह्नि और वह्नि का अभाव ही दोनों विरुद्ध वस्तु हैं। पर्वत में इनका ज्ञान कराया जाना संशय का कारण है। अतः 'पर्वतो वह्निमान्न वा' में संशय समझिए। विप्रतिपत्ति और संशय में साधक और बाधक प्रमाणों को प्रस्तुत करना ही साधकबाधकमानसमुद्भावन है। अर्थात् पक्षविपक्ष को तर्कों से पुष्ट या खंडित करना ही साधकबाधकमानसमुद्भावन है।

भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में सन्देह अर्थात् उभयावलंबी संशय, विमर्श अर्थात्

विशेष प्रतीत्यभिलाषा और विप्रतिपत्ति को वितर्क के विभाव कहा है—'वितर्को नाम सन्देहविमर्शविप्रत्ययादिभिर्विभावैरुत्पद्यते' (७/९१ से आगे का गद्य)। भानुदत्त ने ये संकेत वास्तव में न्यायशास्त्र से ग्रहण किए हैं। पहला प्रकार है विचारात्मक। 'यह वस्तु अमुक वस्तु के होने से शायद ऐसी हो सकती है'—इस प्रकार विचारपूर्वक की गई कल्पना में वितर्क विद्यमान है। 'यह वस्तु ऐसी भी हो सकती है और अन्यथा भी हो सकती है'—यहाँ संशय विद्यमान है। अतः यह हुआ संशयात्मक वितर्क। अब अनध्यवसायात्मक को लें। 'अमुक वस्तु से संबंधित अमुक कार्य या विशेषता कैसे सम्भव हो सकेगी ?'—यहाँ वितर्क में अनध्यवसाय है। 'यह कार्य इससे भी नहीं हो सकता और उससे भी नहीं हो सकता' में दोनों स्थानों में ऊह से विप्रतिपत्त्यात्मक वितर्क है।

यहाँ क्रमशः उदाहरण दिए गए हैं—

कालिन्दीविलुठत्कठोरकमठक्रूरं धनुः शाम्भवं
रामो बालमृणालकोमलवपुर्वंशोऽवतंसो भुवः।
व्याहारप्रखराः खलाः क्षितिभृतां गोष्ठी गरिष्ठा पुन-
स्तस्मात्केवलमेष तिष्ठति मम श्रेयस्करो भास्करः॥ ४१॥

[कालिन्दी में रहने वाले कठोर कच्छप के सदृश कठिन यह शंकर का धनुष है और नवीन कमलनाल के समान कोमल शरीर वाले राम हैं; हमारा वंश पृथ्वी में श्रेष्ठ है, दुर्जन लोग निन्दा में निपुण होते हैं और यह राजाओं की विशिष्ट सभा है; इसलिए अब तो हमारे लिए केवल भास्कर भगवान् ही कल्याण करने वाले हैं।]

व्याख्या—सीता-स्वयंवर के अवसर पर जनक द्वारा किया गया कथन है। राम धनुष को तोड़ सकेंगे या नहीं—इस विचार में जनक पड़े हुए हैं। शिव का धनुष कठोर कच्छप के सदृश कठिन है अर्थात् धनुर्भंग का कार्य अति दुष्कर है। ऐसा प्रतीत होता है कि राम उसे तोड़ नहीं पाएंगे क्योंकि उनका शरीर इतना कोमल है जैसे नए कमल की नाल। अभी तक हमारे वंश की पृथ्वी भर में प्रतिष्ठा है और उसे कलंक नहीं लगा है। भाव यह है कि राम से धनुष टूटता नहीं दीखता और मेरी प्रतिज्ञा यह है कि सीता का विवाह उसी से होगा जो धनुष को तोड़ देगा। सीता का विवाह राम से ही हो, यह मेरी कामना है किन्तु इसके लिए यदि प्रतिज्ञा भंग हो गई तो कुल को कलंक लगेगा और दुष्टमति जन निन्दा करके इस कुल को कलंकित करेंगे। प्रतिज्ञा

भी भंग नहीं की जा सकती क्योंकि सभी विशिष्ट अतिथि राजा इस सभा में बैठे हुए हैं। अतः अब तो कुलदेवता सूर्य ही हमारा कल्याण करेंगे। यह विचारात्मक वितर्क का उदाहरण है।

सौन्दर्यस्य मनोभवेन गणनालेखा किमेषा कृता
लावण्यस्य विलोकितुं त्रिजगतीमेषा किमुद्ग्रीविका।
आनन्दद्रुममञ्जरी नयनयोः किंवा समुज्जृम्भते
राधायाः किमु वा स्वभावसुभगा रोमालिरुन्मीलति ॥ ४२ ॥

[क्या यह कामदेव ने सौन्दर्य की गणना-रेखा बनाई है? अथवा तीनों लोकों को देखने के लिए क्या लावण्य ने अपनी ग्रीवा ऊपर उठाई है? अथवा नेत्रों के सामने क्या यह आनन्दरूपी वृक्ष की मंजरी विकसित हो रही है? अथवा यह राधा की प्रकृत्या सुन्दर रोमावली प्रकाशित हो रही है?]

टिप्पणी—गणना-रेखा से तात्पर्य है अंक १ का चिह्न—अर्थात् संसार में यह एक ही सौन्दर्य है, कोई अन्य नहीं। राधा की रोमावली के प्रति कृष्ण का कथन। यहाँ संशय यह है कि यह राधा की रोमावली भी हो सकती है, सौन्दर्य की गणना-रेखा भी, आनन्दवृक्ष की मंजरी भी और लावण्य की ग्रीवा भी। यह संशयात्मक वितर्क का उदाहरण है।

कथय कथय केयं खञ्जनं खेलयन्ती
विहरति यमुनायाः पाथसि स्वर्णवल्ली।
अयमुदयति को वा शारदः शीतभानु—
स्तदुपरि तिमिराणामेष को वा विवर्तः ॥ ४३ ॥

[कहो! कहो! यमुनाजल में क्रीड़ा करती हुई और खंजनों से खेलती हुई यह स्वर्णलता कौन है? अथवा यह शरच्चन्द्र के समान उदय होने वाला (मुख) कौन है; और उसके ऊपर यह अन्धकार का (केश) जाल कैसा है?]

टिप्पणी—यह अनध्यवसायात्मक वितर्क का उदाहरण है। आगे का उदाहरण विप्रतिपत्त्यात्मक वितर्क का है और उक्त प्रसङ्ग से ही संबद्ध है।

इयं न विलसत्सुधाकरकलाऽधिका राधिका
करं किरणमालिनः किमु सहेत तस्या वपुः।
न वा कनकमञ्जरी वहति खञ्जरीटं यत—
स्ततः स्मरमदालसा कथय केयमुन्मीलति ॥ ४४ ॥

[विशिष्ट प्रभा से युक्त चन्द्रमा की कलाओं से भी अधिक बढ़कर यह राधा नहीं है क्योंकि राधा का शरीर सूर्य की किरणों को कैसे सहन कर सकता है?

और न यह कनकलता है क्योंकि इस पर खंजन (दो नेत्र) सुशोभित हैं। इसलिए बताओ स्मरमद से अलसाई हुई यह कौन शोभित हो रही है ?]

टिप्पणी—अनध्यवसायात्मक वितर्क के उदाहरण में कहा गया था कि यह इन-इन विशेषताओं से युक्त स्वर्णलता कौन है ? जिसका मुख शरच्चन्द्र के उदय के समान सुन्दर है वह कौन है और जिसके सिर के केश ऊपर अन्धकार-सा फैला रहे हैं वह कौन है ? अर्थात् राधा ही है। इसलिए वह यमुनाजल में क्रीड़ा करती हुई राधा का वर्णन है। इस उदाहरण में कहा गया है कि यह राधा नहीं है। पहले तो इसलिए कि सूर्य की किरणों को चन्द्रमा भले ही सह लेता हो, पर राधा का शरीर तो उससे बहुत अधिक कोमल है। यह कनकलता भी नहीं है क्योंकि यहाँ दो नेत्र विद्यमान हैं। तो फिर स्मरमद से अलसाई हुई यह कौन शोभित है ? यह विप्रतिप्रत्त्यात्मक वितर्क का उदाहरण है।

ननु दशावस्थास्वभिलाषगुणकथाप्रलापा व्यभिचारिभावाऽभ्यन्तरे न गणितास्तत् किं स्वतन्त्रा एवेति चेन्न। औत्सुक्येऽभिलाषस्य वर्णनात्मकस्मृतौ गुणकथाया उन्मादे प्रलापस्यान्तर्भावात्।

[(यहाँ शङ्का करते हैं कि) दस अवस्थाओं में अभिलाषा, गुणकथन और प्रलाप ये मानस भाव हैं पर व्यभिचारियों में इनकी गणना नहीं की गई है, तो क्या ये स्वतन्त्र व्यभिचारी हैं ? (इस शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि) अभिलाषा का औत्सुक्य में, गुणकथन का वर्णनात्मक स्मृति में और प्रलाप का उन्माद में अन्तर्भाव हो जाता है।]

व्याख्या—विप्रलम्भ शृङ्गार में दस कामदशाएँ इस प्रकार हैं—अभिलाष, चिंता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, संप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मरण। इनमें कुछ दशाएँ ऐसी हैं जो शारीर हैं और कुछ ऐसी हैं जो मानस हैं। उदाहरण के लिए व्याधि, जड़ता, मरण आदि शारीर हैं। भानुदत्त का मत है कि अभिलाष, गुणकथन और प्रलाप—ये मानस भाव हैं। इन सभी में अभिलाष, गुणकथन और प्रलाप को छोड़कर बाकी सबका व्यभिचारियों में परिगणन हुआ है। इनका नहीं हुआ। तो क्या ये स्वतन्त्र व्यभिचारी हैं ? भानुदत्त का मत है कि नहीं, ये स्वतन्त्र नहीं हैं। अभिलाष का औत्सुक्य में, गुणकथन का स्मृति में और प्रलाप का उन्माद में अन्तर्भाव हो जाता है।

अत्र प्रतिभाति छलमधिको व्यभिचारिभाव इति। 'ताम्बूलाहरणच्छलेन रभसा श्लेषोऽपि संविघ्नितः' इति शृङ्गारे दर्शनात्। रौद्रे चेन्द्रजालादिदर्शनात्। हास्ये च व्यपदेशाऽन्यापदेशयोर्दर्शनात्। वीथीभेदे

दर्शनाच्च। संगुप्तक्रियासंपादनं छलम्। विभावा अवमानप्रतिपक्षकु-चेष्टादयः। अनुभावा वक्रोक्तिनिभृतस्मितनिभृतवीक्षणप्रकृतिप्रच्छाद-नादयः। शृङ्गारे यथा—

[यहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि 'छल' पृथक् व्यभिचारी भाव है, क्योंकि शृङ्गार-रस के प्रसंग में ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जैसे—'ताम्बूल लाने के बहाने से (नायिका ने) आलिंगन के अवसर में भी बाधा डाल दी'। रौद्र-रस में भी इन्द्रजाल आदि उपलब्ध होते हैं (ये छल के ही रूप हैं) हास्य में भी व्यपदेश (छलयुक्त व्यवहार) और अन्यापदेश (अन्य से छल करना) दिखाई देते हैं। वीथीभेद से (अर्थात् भिन्न-भिन्न मतों में) भी (छल की) पृथक् गणना है। किसी क्रिया के गोपन की प्रेरक चित्तवृत्ति ही छल है। विभाव अपमान, विपक्ष की कुचेष्टाएँ आदि हैं। वक्रोक्ति, छिपाकर हँसना, छिपकर देखना, वास्तविकता का छिपाना आदि अनुभाव हैं। शृङ्गार रस में जैसे—]

संकेतीकृतकाननं प्रविशतोरन्योऽन्यकौतूहला-
दन्यत्वप्रतिभानमारचयतोरन्योन्यमुत्त्रस्यतोः।
कुञ्चत्कायमितस्ततः किसलयैरात्मानमावृण्वतो
राधामाधवयोर्निकुञ्जकुहरादुद्ग्रीविका पातु नः ॥ ४५ ॥

[उन राधामाधव का लतामंडप के ऊपर से ग्रीवा को ऊपर उठाकर देखना हमारी रक्षा करे जो संकेतस्थल के रूप में निश्चित किए गए वन में प्रवेश करते हुए, एक-दूसरे के प्रति कुतूहल के कारण पृथक् का-सा व्यवहार करते हुए, इसीलिए परस्पर एक-दूसरे से उत्त्रस्त और संकोच से पूरित, अपने शरीर को इधर-उधर से किसलयों से आवृत करते हुए हैं।]

टिप्पणी—एक-दूसरे के प्रति कुतूहल के कारण पृथक् का-सा व्यवहार करते हुए का तात्पर्य यह है कि वे संकेतस्थल से पूर्व परस्पर एक-दूसरे को अपना आभास नहीं देना चाहते। किसलयों से आवृत का अभिप्राय है छिपते हुए जिससे उन्हें कोई संकेतित स्थान की ओर जाते हुए न देख ले।

संग्रामे यथा—

सप्ताऽपि क्लृप्तान्कपटाम्बुराशीन्पुरोपकण्ठे पुनरीक्षमाणः।
दृशौ कपीन्द्रस्य मुखे सखेदमायोजयामास स रामचन्द्रः ॥ ४६ ॥

[संग्राम में (छल का) उदाहरण—छल द्वारा निर्मित सात समुद्रों को फिर लंका के निकट देखकर उन रामचन्द्र ने अपने दोनों नेत्र खेदपूर्वक हनुमान के मुख पर स्थिर कर दिए।]

टिप्पणी—यहाँ विपक्ष की कुचेष्टा विभाव है और खेदयुक्त दृष्टिपात अनुभाव है।

सर्वाणिव्यभिचारिस्थलानि विस्तरभयान्नोदाहृतानि। आलस्यौग्र्यजुगुप्साः सम्भोगे वर्ज्याः। विप्रलम्भे चालस्यग्लानिनिर्वेदश्रमशंकानिद्रौत्सुक्यापस्मारसुप्तविबोधोन्मादजाड्यासूया व्यभिचारिणः। हास्येऽवहित्थालस्यनिद्रासुप्तप्रबोधाऽसूयाव्यभिचारिणः। करुणे मोहनिर्वेददैन्यजाड्यविषादभ्रमापस्मारोन्मादव्याध्यालस्यस्मृतिवेपथुस्तम्भस्वरभेदाश्रूणि व्यभिचारिणः। रौद्र उत्साहस्मृतिस्वेदावेगामर्षरोमाञ्चचपलतोग्रत्वस्वरभेदकम्पा व्यभिचारिणः। वीर उत्साहधृतिमतिगर्वविगामर्षौग्र्यरोमाञ्चाः व्यभिचारिभावाः। भये स्तम्भस्वेदगद्गदतारोमाञ्चवैवर्ण्यशङ्कामोहावेगदैन्यचापलत्रासापस्मारप्रलयमूर्च्छा व्यभिचारिणः। बीभत्सेऽपस्मारमोहावेगवैवर्ण्यानि व्यभिचारिभावाः। अद्भुते स्तम्भस्वेदगद्गदताश्रुरोमाञ्चविभ्रमस्मया व्यभिचारिभावाः। अन्ये व्यभिचारिणो रसाऽनुकूला ऊहनीयाः।

[विस्तार-भय से व्यभिचारी भावों के सारे उदाहरण यहाँ नहीं दिए। आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा (ये तीनों) संभोग शृङ्गार में वर्जित हैं। विप्रलम्भ-शृङ्गार में आलस्य, ग्लानि, निर्वेद, श्रम, शंका, निद्रा, औत्सुक्य, अपस्मार, सुप्त, विबोध, उन्माद, जड़ता, असूया—ये व्यभिचारी भाव हैं। अवहित्थ, आलस्य, निद्रा, सुप्त, प्रबोध, असूया--ये हास्य में व्यभिचारी हैं। करुण में मोह, निर्वेद, दैन्य, जड़ता, विषाद, भ्रम, अपस्मार, उन्माद, व्याधि, आलस्य, स्मृति, वेपथु, स्तम्भ, स्वरभेद, अश्रु--ये व्यभिचारी हैं। उत्साह, स्मृति, स्वेद, आवेग, अमर्ष, रोमाञ्च, चपलता, उग्रता, स्वरभेद, कम्प--ये व्यभिचारी रौद्र में हैं। उत्साह, धृति, मति, गर्व, आवेग, अमर्ष, उग्रता, रोमाञ्च--ये वीर में व्यभिचारी हैं। भय में व्यभिचारी हैं स्तम्भ, स्वेद, गद्गदता, रोमांच, वैवर्ण्य, शंका, मोह, आवेग, दैन्य, चपलता, त्रास, अपस्मार, प्रलय, मूर्च्छा। बीभत्स में अपस्मार, मोह, आवेग, वैवर्ण्य व्यभिचारी हैं। स्तम्भ, स्वेद, गद्गदता, अश्रु, रोमाञ्च, विभ्रम, विस्मय--ये अद्भुत में व्यभिचारी हैं। अन्य व्यभिचारी भाव भी रस के अनुकूल जान लेने चाहिए।]

स्थायिनोऽपि व्यभिचरन्ति। हासः शृङ्गारे। रतिः शांतकरुणहास्येषु। भयशोकौ करुणशृङ्गारयोः। क्रोधो वीरे। जुगुप्सा भयानके। उत्साहविस्मयौ सर्वरसेषु व्यभिचारिणौ।

[स्थायी भाव भी (स्थितिविशेष में) व्यभिचारी हो जाते हैं। हास शृंगार में (व्यभिचारी है)। रति शांत, करुण और हास्य में। भय तथा शोक करुण और शृङ्गार में। क्रोध वीर में। जुगुप्सा भयानक में। उत्साह तथा विस्मय सभी रसों में व्यभिचारी होते हैं।]

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां व्यभिचारिभावनिरूपणं नाम पञ्चमस्तरंगः।

[भानुदत्त-विरचित 'रसतरंगिणी' की व्यभिचारिभावनिरूपण नामक पंचम तरंग समाप्त हुई।]

षष्ठस्तरङ्गः

अथ रसा निरूप्यन्ते । विभावाऽनुभावसात्त्विकभावव्यभिचारिभावै रुपनीयमानः परिपूर्णः स्थायिभावो रस्यमानो रसः । भावविभावाऽनुभावव्यभिचारिभावैर्मनोविश्रामो यत्र क्रियते स वा रसः । प्रबुद्ध स्थायिभाववासना वा रसः ।

[अब रसों का निरूपण करते हैं । विभाव, अनुभाव, सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भावों से उपचित, अनुभूतिगम्य एवं पुष्ट स्थायीभाव ही रस है । (अथवा) भाव, विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से जहाँ मन का विश्राम होता है, वही रस है । (अथवा) प्रबुद्ध स्थायी भाववासना ही रस है ।]

व्याख्या—विभाव, अनुभाव सात्त्विक भाव और व्यभिचारी भाव—इनसे परिपूर्ण, अर्थात् आलम्बन-विभाव से उद्‌बुद्ध, उद्दीपन से उद्दीप्त, सात्त्विक एवं व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट तथा अनुभावों से परिव्यक्त स्थायी भाव ही रस-दशा को प्राप्त होता है । विभाव का अर्थ है रति आदि भावों के कारण । इनके दो प्रकार हैं—आलम्बन और उद्दीपन । आलंबन वे हैं जिनके आधार से भाव जागृत होते हैं । उदाहरण के लिए नायक-नायिका आदि । इनमें एक आश्रय है और दूसरा आलंबन । अर्थात् ये दोनों एक-दूसरे के आलंबन हैं । उदाहरण के लिए शकुंतला दुष्यन्त के लिए आलंबन है और दुष्यन्त शकुन्तला के लिए । सहृदय-सामाजिक अपनी विशिष्ट स्थिति के आधार पर इन्हें रंगमंच पर देखकर आश्रय और आलंबन माना करते हैं । उद्दीपन वे हैं जो भावों को उद्दीप्त अर्थात् उत्तेजित करते हैं । उदाहरणार्थ वसंत, उपवन आदि को उद्दीपन समझें । सात्त्विक भाव शरीर के धर्म हैं । स्तम्भ आदि इसके उदाहरण हैं । व्यभिचारी अस्थिर भाव हैं जो क्षण-क्षण में उठ-गिर कर स्थायी भाव को पुष्ट करते हैं । अनुभाव भावानुभूति के प्रत्यक्ष प्रतिफलन हैं अर्थात् कर्म-रूप व्यक्त प्रभाव हैं । भ्रूक्षेप, कटाक्ष आदि अनुभाव हैं । इस प्रकार विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और व्यभिचारी भावों का संयुक्त रूप में दर्शन करके प्रेक्षक के मन में जिस भावना का संचार होता है, वह रस है ।

भरत का सूत्र इस प्रकार है—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' । यहाँ सात्त्विक भाव का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं है किन्तु भानुदत्त के

सूत्र में इसका उल्लेख है। इसका कारण यह है कि इनके अनुसार विकार दो प्रकार के हैं––आन्तर और शारीर। स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव आंतर हैं तथा सात्त्विक भाव शारीर हैं। रंगमंच पर नायक-नायिका आदि द्वारा व्यक्त कर्म में इनका भी अभिनय होता है। इसीलिए भानुदत्त ने इनकी पृथक् नियोजना की है। दूसरे सूत्र में मन के विश्राम से अभिप्रायः है विगलित वेद्यांतर-स्थिति। अर्थात् मन को निजत्व-परत्व की भावना से रहित होकर स्थायी-भाव की अनुभूति होना ही रस है। तीसरे सूत्र में प्रबुद्ध से आशय है अभिव्यक्त। अर्थात् अनभिव्यक्त संस्कार-रूप में विद्यमान भाव ही स्थायीभाव के रूप में अभिव्यक्त होकर रस कहाता है। विश्वनाथ द्वारा 'साहित्यदर्पण' में प्रस्तुत लक्षण में प्रायः ये सभी संकेत आ गए हैं:—

> विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा।
> रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्॥ (३।१)

––अर्थात् सहृदय-हृदय में (वासना रूप से स्थित) रत्यादि रूप स्थायी भाव जब (कविवर्णित) विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावों के द्वारा व्यक्त हो उठते हैं तब आस्वाद अथवा आनन्दरूप हो जाते हैं और 'रस' कहे जाते हैं।

प्रबोधका विभावाऽनुभावव्यभिचारिणः। न च यूनोः प्रथमानुरागेऽव्याप्तिः पूर्वानुभवाभावादिति वाच्यम्। तत्राऽपि जन्मान्तरीयाऽनुभवसत्त्वादिति।

[विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव इसके अभिव्यंजक है। (यहाँ यह शंका करते हैं कि) यदि प्रबुद्ध स्थायी भाव वासना को रस मानेंगे तो नायक-नायिका के प्रथम अनुराग में यह लक्षण घटित न होगा क्योंकि यहाँ पूर्वकाल का अनुभव नहीं है। (इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि) भले ही इस जन्म में अनुभव न हो पर जन्मान्तर (पूर्वजन्म) का अनुभव तो होगा ही।]

व्याख्या––भानुदत्त पहले कह चुके हैं कि प्रबुद्ध स्थायी भाववासना ही रस है। अर्थात् संस्कार-रूप में विद्यमान अनभिव्यक्त भाव ही स्थायी भाव के रूप में अभिव्यक्त होकर रस कहाता है। यदि इस स्थापना को ही स्वीकार करते हैं तो एक प्रश्न उठता है। वह यह है कि जहाँ नायक और नायिका में प्रथम अनुराग होता है वहाँ यह लक्षण किस प्रकार घट सकेगा। पूर्वराग आदि की स्थिति में तो यह संभव लगता है क्योंकि उनके संस्कार समृद्ध हो जाते हैं किन्तु जहाँ प्रथम दर्शन आदि में प्रेम होता है वहाँ इसे कैसे स्वीकार

कर सकते हैं क्योंकि उस समय उनके संस्कार समृद्ध नहीं होते। उन संस्कारों से उनका परिचय ही होता है। भानुदत्त ने इसका समाधान करते हुए कहा कि उन नायक-नायिका के संस्कार भले ही उस स्थिति में इस जन्म के न हों किंतु उनके जन्मान्तर अर्थात् पूर्वजन्म के संस्कार व अनुभव तो होंगे ही। इसलिए इस लक्षण में अव्याप्ति दोष नहीं है। कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' में दुष्यन्त के मुख से कहलवाया ही है कि—

रम्याणिवीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत्सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि ॥ (५।२)

--अर्थात् सुन्दर वस्तुएँ देखकर और मधुर शब्द सुनकर जब सुखी लोग भी उदास हो जाएँ तब यही समझना चाहिए कि उनके मन में पिछले जन्म के प्रेमियों के जो संस्कार बैठे हुए थे, वे ही जाग उठे हैं।

स च रसो द्विविधः—लौकिकोऽलौकिकश्चेति। लौकिकसन्निकर्ष-जन्मा रसो लौकिकः। अलौकिकसन्निकर्षजन्मा रसोऽलौकिकः।

[और वह रस दो प्रकार का है--लौकिक और अलौकिक। लौकिक सन्निकर्ष अर्थात् लोक के संबध से उत्पन्न रस लौकिक और अलौकिक सन्निकर्ष से उत्पन्न रस अलौकिक होता है।]

लौकिकसन्निकर्षः षोढा विषयगतः। अलौकिकसन्निकर्षो ज्ञानम्। तेषु चानुभूतेषु साक्षादेतज्जन्माऽननुभूतेष्वपि तेषु प्राक्तनसंस्कारद्वारा ज्ञानमेव प्रत्यासत्तिः। अलौकिको रसस्त्रिधा। स्वाप्निको मानोरथिक औपनायिकश्चेति। औपनायिकश्च काव्यपदपदार्थचमत्कारे नाट्ये च। परन्तु द्वयोरप्यानन्दरूपता।

[लौकिक सन्निकर्ष विषय के साथ छः प्रकार का होता है। अलौकिक सन्निकर्ष से अभिप्राय है ज्ञान। उनके (विभावादि के) एक बार साक्षात् अनुभव हो चुकने पर और इस जन्म में उनका अनुभव न होने पर भी पूर्वजन्म के संस्कार द्वारा ज्ञान की अनुभूति हो जाएगी। अलौकिक रस तीन प्रकार का है--स्वप्नविषयक, मनोरथविषयक और औपनायिक। औपनायिक रस काव्य के पद एवं पदार्थ के चमत्कार और नाटक में होता है। परन्तु दोनों में आनन्दानुभूति है।]

व्याख्या--यह कहा गया है कि लौकिक सन्निकर्ष विषय के साथ छः

प्रकार का होता है। भानुदत्त ने उन छः प्रकारों के नाम नहीं गिनाए हैं। सब से पहले तो यही समझ लेना चाहिए कि लौकिक सन्निकर्ष से आशय है इस लोक के विविध संबंध। रस के संबंध में ही भानुदत्त ने छः प्रकार के सन्निकर्ष कहे हैं। लौकिक सन्निकर्षों का संकेत भी भानुदत्त को न्यायशास्त्र से प्राप्त हुआ है। स्पष्टीकरण के लिए नायक-नायिका का परस्पर अवलोकन संयोग है। अतः इसे संयोग-सन्निकर्ष कहा जाएगा। इसी प्रकार परस्परनिष्ठ कटाक्षादि संयुक्तसमवाय-सन्निकर्ष है, कटाक्षादिनिष्ठ तारत्व-मन्दत्वादि संयुक्तसमवेतसमवाय-सन्निकर्ष है, परस्पर शब्द-श्रवण में समवाय सन्निकर्ष है, शब्दनिष्ठ कोमलकठोरत्वादि के श्रवण में समवेतसमवाय-सन्निकर्ष है, कुब्जादि में परस्परभावाऽवलोकन में विशेषणविशेष्यभाव-सन्निकर्ष है। संभवतः भानुदत्त इन्हें अलौकिक सन्निकर्षों के समान महत्त्व नहीं देते थे। यह इसी बात से सिद्ध है कि उन्होंने लौकिक सन्निकर्षों की ओर संकेत ही किया है, व्याख्या नहीं की।

अब कहते हैं कि अलौकिक सन्निकर्ष से अभिप्राय है ज्ञान। इस जन्म में विभावादि का अनुभव न होने पर भी जन्मान्तर के संस्कार से उनके प्रत्यक्षीकरण हो जाने पर रस की अनुभूति हो जाती है। इस आधार पर अलौकिक रस के तीन भेद हो जाते हैं—स्वाप्निक, मानोरथिक और औपनायिक। अब यहाँ शंका होती है कि इन्हें सत्य कैसे माना जाए। उदाहरण के लिए स्वाप्निक को ही लें। विभावादि के प्रत्यक्ष अनुभव बिना रस-चर्वणा कैसे हो सकती है ? इसका समाधान यह है कि साक्षात् जागृत अवस्था के विभावादि के अनुभव के बल पर अन्तःकरण के संस्कार से यह रस निष्पन्न होता है। अतः स्पष्ट ही ज्ञान अर्थात् अनुभव प्रधान है। इसीलिए कहा गया है कि विभावादि के एक बार साक्षात् अनुभव हो चुकने पर और इस जन्म में उसका अनुभव न होने पर भी पूर्वजन्म के सस्कार द्वारा ज्ञान की अनुभूति हो जाएगी। यही रस का अलौकिकत्व है। इन तीनों ही प्रकारों में विभावादि की उपस्थिति समान है। अंतर विषय की सामग्री का ही है।

औपनायिक रस काव्य के पद एवं पदार्थ के चमत्कार और नाटक में होता है। अतः काव्य और नाटक में रस का सामग्री-वैचित्र्य नहीं समझना चाहिए। स्वाप्निक और मानोरथिक में दुःखमिश्रित रस भी होते हैं पर औपनायिक में तो केवल आनन्दानुभूति ही होती है। अर्थात् काव्य में निबद्ध रस-सामग्री और उसका भोग तो केवल आनन्द का ही कारण होता है।

ननु मानोरथिको रसो न प्रसिद्ध इति चेत् । सत्यम्—

[(यहाँ यह शंका करते हैं कि) मनोरथविषयक रस लोक में प्रसिद्ध नहीं है (इसलिए इसे रस मानना कहां तक संगत है)। ठीक है (इसका समाधान इस श्लोक से करते हैं।)]—

धन्यानां गिरिकन्दरे निवसतां ज्योतिः परं ध्यायता—
मानन्दाश्रुपयः पिबन्ति शकुना निश्शंकमंकेशयाः ।
अस्माकन्तु मनोरथोपरचितप्रासादवापीतट—
क्रीडाकाननकेलिकौतुकजुषामायुः परिक्षीयते ।।१।।

इत्यादौ मानोरथिकभृङ्गारश्रवणात्, शास्त्रे सुखस्य त्रैविध्यगणनाच्च रसेन विना च सुखाऽनुत्पत्तेरिति । तत्र विशेषाः । यदाह भरतः—

[गिरिकन्दराओं में निवास करने वाले, परम ज्योति का ध्यान करने वाले वे पुरुष धन्य हैं जिनके आनन्दाश्रुओं को उनकी गोद में विश्राम करते हुए पक्षी निःशंक होकर पीते हैं। हमारी तो अपने मनोरथों में प्रासाद, वापीतट, क्रीड़ा-कानन और केलिकौतुक का ध्यान करते हुए ही आयु क्षीण हो रही है।

यहाँ मनोरथविषयक शृङ्गार का वर्णन है। शास्त्र में सुख तीन प्रकार का कहा गया है और रस के बिना सुख की उत्पत्ति असम्भव है। अब विशिष्ट रसों का वर्णन करते हैं। भरत के अनुसार—]

टिप्पणी—प्रस्तुत श्लोक में मानोरथिक शृङ्गार-रस के उद्दीपन विभावों का वर्णन है। शास्त्रों में सुख तीन प्रकार के बताए गए हैं—भौतिक या दैहिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक। रस की अनुपस्थिति में सुख की स्थिति संभव नहीं है। अतः मानोरथिक रस भी रस ही है। रस के संबंध में यहाँ विशिष्ट से अभिप्राय रसों की संख्याविषयक धारणा को स्पष्ट करना है।

शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ च नाटचे चाष्टौ रसाः स्मृताः ।। २ ।।

[शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स और अद्भुत—ये आठ रस नाटक में माने गए हैं।]

सकलाधिदैवतं विष्णुः, स च शृङ्गारस्याऽपि दैवतम्, तेन सकलाकांक्षाविषयत्वेनाराध्यतया च प्रथमं शृङ्गारोपन्यासः ।

[विष्णु सबके पूज्य देवता हैं, और वही शृङ्गार के भी देवता हैं। इसलिए सबका इच्छित और पूज्य होने से शृङ्गार की गणना पहले की है।]

ननु वात्सल्यं लौल्यं भक्तिः कार्पण्यं वा कथं न रसः। आर्द्र-ताऽभिलाषश्रद्धास्पृहाणां स्थायिभावानां सत्त्वादिति चेन्न। तेषां व्यभिचारिरत्यात्मकत्वात्। ननु कस्य रसस्य ते व्यभिचारिभावा भवेयुरिति चेत्। सत्यम्, वात्सल्ये करुणो रसः। लौल्ये हास्यः। भक्तौ शान्तः। कार्पण्ये हास्य एव।

[(अब शंका करते हैं कि) वात्सल्य, लौल्य, भक्ति और कार्पण्य—ये भी रस क्यों नहीं हैं (आठ ही क्यों मानते हो) ? इनके भी क्रम से आर्द्रता, अभिलाषा, श्रद्धा और स्पृहा स्थायी भाव होंगे। (इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि) ये चारों रत्यात्मक व्यभिचारी भाव हैं। (इसलिए रस नहीं माने जा सकते)। किस रस के ये व्यभिचारी हैं, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं कि वात्सल्य में करुण-रस, लौल्य में हास्य, भक्ति में शान्त और कार्पण्य में हास्य-रस होगा (अर्थात् वात्सल्य, लौल्य, भक्ति और कार्पण्य क्रम से करुण, हास्य, शान्त और हास्य के व्यभिचारी भाव हैं)।]

नन्वेवं परत्र क्लृप्तत्वादत्र व्यभिचारित्वेनावश्यकत्वाद्धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनायां लघुत्वाच्च व्यभिचारिरतिरेवास्तु किं करुणेनेति चेन्न। रतेः शोक इति शोककारणतायां रतेरुपक्षयत्वात्।

[(अब यहां एक और शंका करते हैं कि) यदि ऐसा है (अर्थात् वात्सल्यादि को करुणादि का व्यभिचारी-रति मानें) तो व्यभिचारी रति के रूप में (करुणादि रसों के लिए) रति का मानना आवश्यक होगा, इसलिए धर्मी (व्यभिचारी-रति) की कल्पना से ही धर्म (प्रधान रस) की कल्पना हो जाएगी, इसमें लाघव भी होगा (अर्थात् व्यर्थ में एक रस की कल्पना नहीं करनी पड़ेगी) इसलिए व्यभिचारी-रति ही मानी जाए, करुण-रस के मानने की आवश्यकता नहीं है। (इसका समाधान करते हैं कि) रति शोक का कारण है। शोक की कारणता में (अर्थात् शोक को निष्पन्न करके ही) रति का उपक्षय हो जाएगा (इस तरह वह स्थायी भाव के लिए ही कारण होगी, न कि प्रधान रस के लिए, इसलिए करुण-रस की सिद्धि न हो पाएगी)।]

किञ्च रतेः कस्य रसस्य व्यभिचारित्वम्। न शृङ्गारहास्यरौद्र-वीराणाम्, युवमिथुनपरस्परप्रीतिहासक्रोधानन्दानां तत्राभावात्। न वा बीभत्सस्य, जुगुप्सायास्तत्राऽभावात्। नाप्यद्भुतस्य, विस्मयस्य तत्राऽस्थिरत्वात्। तस्माच्छोकस्य स्थायितया शोकस्थायिभावकः करुणाख्योऽतिरिक्तो रस इति।

[और भी--यदि रति को व्यभिचारी ही मानने की बात हो तो किस रस का व्यभिचारी माना जाएगा ? शृङ्गार, हास्य, रौद्र और वीर इन रसों का तो व्यभिचारी उसे मान नहीं सकते क्योंकि उनमें (करुण-रस की रति में) युवक-युवती के परस्पर प्रीतिपरक शृङ्गार, हास्य, क्रोध और आनन्द का अभाव है। बीभत्स का भी नहीं मान सकते क्योंकि उसमें जुगुप्सा का अभाव है। इसी तरह अद्‌भुत् का भी नहीं क्योंकि (करुण-रस की) रति में विस्मय अस्थिर है (जबकि विस्मय अद्‌भुत का स्थायी है)। इसलिए (करुण-रस में) शोक स्थायी होने से शोक स्थायी भाव वाले करुण-रस को अतिरिक्त रस मानना ही पड़ेगा।]

ननु रतिरेवास्तु, किं हास्येनेति चेत्। कस्याऽसौ व्यभिचारिणी, करुणरौद्रवीरभयानकबीभत्सानां न, तत्राऽनवकाशात्। नाप्यद्‌भुतस्य, विस्मयस्य तत्राऽस्थिरत्वात्। न शृङ्गारस्य, रतेः स्थायित्वाभावात्। परन्तु रत्या सह हास्यस्य सांकर्यम्।

[(अब फिर यह शंका करते हैं कि) हास्य-रस न मानकर व्यभिचारी-रति ही मान ली जाए। (यहाँ यह समाधान करते हैं कि) ऐसी स्थिति में यह किस रस की व्यभिचारी भाव होगी ? करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स का उक्त रति में अभाव ही है। अद्‌भुत का भी नहीं हो सकता क्योंकि उसमें विस्मय की स्थिरता नहीं है। इसी तरह शृङ्गार का भी नहीं क्योंकि हास्य में रति का स्थायित्व नहीं है। परन्तु इतना अवश्य है कि रति के साथ हास्य का सांकर्य है]

ननु रतिहास्ययोरसंकीर्णस्थलाभावात्पृथक्त्वं कथं स्यादिति चेन्न। हेतोरसाधारण्यात्। असाधारण्यमत्र स्थायित्वम्। यथा रतिसांकर्येऽपि स्थायिशोकादसाधारणात्कारणात्करुणो भिद्यते, तथा तत्सांकर्येऽपि स्थायिहासभावादसाधारणात्कारणाद्धास्यो भिद्यते। शान्तेप्येवमूह्यम्।

[(यहाँ एक और शंका करते हैं कि) रति और हास्य से असंकीर्ण स्थल के अभाव में (अर्थात् अतिनिकट अथवा एकत्र होने की स्थिति में) इन दोनों में भेद कैसे किया जा सकेगा ? (इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि) इनके हेतु का असाधारण्य ही इनका भेदक तत्त्व है। यहाँ असाधारण्य से अभिप्राय स्थायी भाव का है। जैसे रतिसांकर्य होने पर भी स्थायी शोक होने के असाधारण कारण से करुण-रस (रति से) भिन्न है उसी प्रकार रति का सांकर्य होने पर भी स्थायी हास के असाधारण कारण से हास्य भिन्न है।

इसी तरह शांत में भी समझना चाहिए (अर्थात् शान्त में भी रति का सांकर्य होने पर भी निर्वेद स्थायी होने के कारण शान्त-रस भी रति से भिन्न है)।]

न च वात्सल्यादावप्यसाधारणा हेतव आर्द्रतादयः सन्तीति तेषामपि रसत्वापत्तिरिति वाच्यम्। आर्द्रतादीनामपि रतित्वात्। तस्याश्च तत्र-तत्र साधारण्ये शृङ्गाररसत्वापत्तिः।

[(यदि यह शंका उठाई जाए कि) वात्सल्य आदि में भी असाधारण हेतु (स्थायी) आर्द्रता आदि हैं इसलिए उन्हें भी रस मानना चाहिए, तो यह शंका उचित नहीं है, क्योंकि आर्द्रता आदि भी रतिरूप हैं (अर्थात् वे वात्सल्यादि के स्थायी नहीं हैं)। यदि आर्द्रतादि-रूप रति को (वात्सल्यादि का) असाधारण हेतु माना जाएगा तो वात्सल्यादि भी (रतिरूप स्थायिभावक होने से) शृङ्गार-रस-रूप हो जाएंगे।]

ननूत्साहक्रोधावुभयत्र तस्माद्वीररौद्रयोरन्यतर एव रसो वर्ततामिति चेन्न, स्थायिभेदेन भेदात्। उत्साहवासना वीरे न तु रौद्रे। क्रोधवासना रौद्रे न तु वीरे।

[(एक और शंका करते हैं कि) उत्साह और क्रोध दोनों में ही (वीर, रौद्र) होते हैं इसलिए वीर और रौद्र में एक ही रस मानना चाहिए (दोनों की आवश्यकता नहीं है)। (इसका समाधान करते हैं कि) वीर और रौद्र का भेद स्थायी भाव के आधार पर है (अर्थात् वीर का उत्साह और रौद्र का क्रोध स्थायी भाव है—अर्थात् वीर का क्रोध और रौद्र का उत्साह स्थायी नहीं हो सकता है—संचारी अवश्य हो सकते हैं)। उत्साह की वासना वीर में होती है, रौद्र में नहीं। (इसी प्रकार) क्रोध की वासना रौद्र में होती है वीर में नहीं।]

यूनोः परस्परं परिपूर्णः प्रमोदः सम्यक्सम्पूर्णरतिभावो वा शृङ्गारः। यूनोरेकत्र प्रमोदस्य रतेर्वाधिक्ये न्यूनतायां व्यतिरेके वा परिपूर्तेरभावात् रसाभासत्वमिति। स च द्विविधः—संयोगो विप्रलम्भश्चेति। तत्र दर्शनस्पर्शनसंलापादिभिरितरेतरमनुभूयमानं सुखं परस्परसंयोगेनोत्पद्यमान आनन्दो वा संयोगः। संयोगो बहिरिन्द्रियसम्बन्धः। अस्य दैवतं विष्णुर्वर्णः श्यामः। यथा—

[नायक-नायिका का परस्पर परिपूर्ण आनन्द, अथवा सम्यक् (औचित्य-युक्त) सम्पूर्ण रतिभाव शृङ्गार है। दोनों में से किसी एक में प्रमोद अथवा रति के आधिक्य, न्यूनता अथवा अभाव में परिपूर्णता का अभाव होने से रसा-

भाव होगा (रस नहीं)। वह (शृङ्गार-रस) दो प्रकार का है—संयोग और विप्रलम्भ। दर्शन, स्पर्शन और संलाप आदि से परस्पर अनुभूयमान सुख, अथवा परस्पर संयोग से उत्पन्न जो आनन्द है वही संयोग है। संयोग से अभिप्राय बाह्य इन्द्रियों का सम्बन्ध है। इस (शृङ्गार-रस) का देवता विष्णु है और (इसका) वर्ण श्याम है। उदाहरण—]

व्याख्या—नायक-नायिका का एक-दूसरे में परस्पर अनुरक्त रहना आदर्श शृङ्गार के लिए स्पृहणीय माना गया है। भाव यह है कि स्त्री-पुरुष जब एक-दूसरे के मनोनुकूल हों, परिपूर्ण आनन्द का उपभोग करें अथवा उनका रति-भाव पूर्णतया प्रस्फुट हो जाए, तब वह शृङ्गार-रस कहलाएगा। यदि उनमें से एक को रति या प्रमोद अधिक हो या न्यून हो अथवा किसी एक में बिलकुल हो ही नहीं तो वहाँ इस रस की स्थिति इसलिए नहीं मानी जा सकती क्योंकि इसमें परिपूर्णता का अभाव है। इसे रस नहीं, रसाभास कहा जाएगा। रसाभास का मूल कारण है अनौचित्य। भानुदत्त ने नायक-नायिका के संबंध का सम्यक् होना आवश्यक बताया है। शृङ्गार में अनौचित्य के उदाहरण हैं अन्य पुरुष अथवा अनेक पुरुषों में नायिका की रति होना, गुरुपत्नी आदि में अनुराग, नायक-नायिका में अनुभयनिष्ठ रति आदि। शृङ्गार-रस के दो भेद हैं—संयोग और विप्रलम्भ। दर्शन, स्पर्शन, संलाप इत्यादि के द्वारा अनुभूयमान सुख अथवा परस्पर संयोग से अर्थात् बहिरिन्द्रिय-संबंध से उत्पद्यमान आनन्द संयोग है। संयोग में बहिरिन्द्रिय-सबंध से अर्थ है उनका शारीरिक रूप में एक-दूसरे के निकट होना। एक-दूसरे के निकट तो वे विप्रलम्भ में भी होते हैं किन्तु मात्र आंतरिक रूप में ही। संयोग में शरीर-भाव प्रमुख है। इस सकेत से हमें आलिंगन-चुम्बनादि का भाव समझ लेना चाहिए और यह तभी संभव है जबकि दोनों में एक-दूसरे के प्रति उत्कट आकर्षण और प्रेम हो। वास्तव में संयोग के समय प्रेमानुभूति अपेक्षित है—केवल संयोग ही नहीं। पण्डितराज जगन्नाथ का 'रसगंगाधर' में मत है कि संयोग का अर्थ स्त्री-पुरुष का एक स्थान पर रहना नहीं है क्योंकि एक ही शय्या पर सोते रहने पर भी यदि ईर्ष्या, मान आदि हो तो वह विप्रलम्भ ही माना जाएगा। उनके अनुसार 'संयोग' इस मानसिक ज्ञान का पर्याय है कि 'मैं मिला हुआ हूँ'। प्रस्तुत प्रसंग में 'संयोग' एवं 'संभोग' शब्द समानार्थी हैं किन्तु कुछ आचार्यों का मत है कि संयोग की एक वह अवस्था भी है जिसमें प्रणयी-युगल की परस्पर रति तो होती है पर उन्हें सम्भोग-सुख की प्राप्ति नहीं होती। अतएव 'संयोग' को 'संभोग' में सम्मि-

लित नहीं करना चाहिए। हमारा मत तो यही है कि 'सम्भोग' का स्थूल अर्थ ग्रहण कर लेने से ही उसे 'संयोग' से पृथक् किया जा सकता है। वैसे इनको पृथक्-पृथक् स्वीकार करने में कोई विवेक नहीं दीखता।

शृङ्गार के देवता विष्णु माने गए हैं जो अपनी अनन्त शक्ति रमा के साथ रमण करते हुए लोक का पालन करते हैं। इसी आधार पर शृङ्गार का वर्ण भी श्याम कहा गया है। प्रायः रसों के वर्ण उनके देवताओं के वर्ण के आधार पर ही लिए गए हैं। यहाँ एक उदाहरण हैः—

स्तोभेन चाटुवचनानि पराहतानि
पाणिः पयोधरगतो जडतां जगाम।
लक्ष्म्याः परन्तु पृथुवेपथुरेव नीवीं
विस्रंसयन्सुहृदभून्मधुसूदनस्य ॥ ३ ॥

[विष्णु के चाटुकारिता के वचन तो स्तोभ के कारण रुक गए, उनका हाथ पयोधर पर जाते ही जड़ हो गया, लक्ष्मी की नीवी को शिथिल करने में उसका अत्यधिक कम्प ही विष्णु का सहायक हुआ।]

व्याख्या—विष्णु और लक्ष्मी की शृङ्गार-चेष्टाओं का वर्णन है। कहा है कि लक्ष्मी के सौंदर्य का वर्णन करते हुए विष्णु के वचन आनन्दातिरेक से होने वाले स्वरभंग के कारण रुक गए, अर्थात् वे आगे कुछ कहने में असमर्थ हो गए। उन्होंने अपना हाथ लक्ष्मी के पयोधर पर रखा किन्तु वह भी सुख-स्पर्श से जड़ता को प्राप्त हो गया और वे कुचमर्दन करने में असमर्थ हो गए। दूसरा हाथ लक्ष्मी की नीवी को शिथिल करने में लगा था किन्तु जड़ता के कारण वे उसे शिथिल नहीं कर पाए—हाँ, उस समय लक्ष्मी को जो अत्यधिक कम्प हो रहा था उसी के कारण विष्णु अपने प्रयत्न में सफल हुए। यहाँ विष्णु और लक्ष्मी में सात्त्विकों का उदय दिखाया है।

यथा वा—

निद्राणो क्षणमुन्नमय्य वदनं कान्तेकुचान्तःस्पृशि
स्रस्तव्यस्तदुकूलदर्शितबलिप्रव्यक्तनाभिश्रियः ।
राधाया दरघूर्णदुत्पलदलद्रोणीमदद्रोहिभि-
र्दृक्कोणस्य तरंगितैर्विरचितो दीर्घायुरेव स्मरः ॥ ४ ॥

[अथवा एक अन्य उदाहरण—निद्रा से अलसाए मुख को कुछ ऊपर उठाकर, प्रिय के द्वारा कुचों का स्पर्श करने पर दुकूल के अस्त-व्यस्त होने से जिसकी त्रिबली और नाभि की शोभा प्रकट हो गई है, ऐसी राधा के, कुछ

काँपते हुए कमल-पत्र के सम्पुट से भी सुन्दर नेत्रकोणों की भंगिमा से कामदेव को दीर्घायु ही किया गया।]

देशानां समयानां नायिकानां च भेदेन नायकयोरवस्थाभेदेन च बहवो भेदाः। ते च रसमञ्जर्यां विशेषतो दर्शिताः। इह पुर्नविस्तरभिया न प्रदर्श्यन्त इति।

[स्थान, समय और नायिका-भेद से तथा नायक-नायिका के अवस्था-भेद से शृङ्गार-रस के अनेक भेद हैं जिनका विवेचन 'रसमंजरी' में विशेष रूप से किया है। यहाँ विस्तार-भय से उनका वर्णन नहीं किया जाता है।]

अथ हावा निरूप्यन्ते। तत्र भरतः—

लीला विलासो विच्छित्तिर्विभ्रमः किलकिञ्चितम्।
मोट्टायितं कुट्टमितं विव्वोको ललितं तथा॥
विहृतं चेति विज्ञेया दश हावास्तु योषितः॥ ५॥

[अब हावों का निरूपण करते हैं। भरत के अनुसार—लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक, ललित और विहृत ये दस हाव (स्त्रियों में) होते हैं।]

नारीणां शृङ्गारचेष्टा हावः। स च स्वभावजो नारीणाम्।

[स्त्रियों की शृङ्गार-चेष्टा ही हाव कहलाती है; और यह स्त्रियों की स्वाभाविक विशेषता है।]

ननु विव्वोकविलासविच्छित्तिविभ्रमाः पुरुषाणामपि सम्भवन्तीति चेत्। सत्यम्, तेषान्त्वौपाधिकाः स्वभावजाः स्त्रीणामेव।

[(यहाँ शंका करते हैं कि) विव्वोक, विलास, विच्छित्ति और विभ्रम—ये शृङ्गार-चेष्टाएँ पुरुषों में भी होती हैं (इसलिए पुरुषों में भी हाव मानने चाहिए)। (इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि) यह सत्य है, परन्तु पुरुषों में ये चेष्टाएँ औपाधिक (उद्दीपक सापेक्ष) होती हैं जबकि स्त्रियों में स्वाभाविक होती हैं।]

नन्वेवं यदि तासां सदव ते कथं न भवन्तीति चेत्। सत्यम्, उद्दीपकान्वयव्यतिरेकाभ्यां नायिकानां हावाविर्भावतिरोभावाविति।

[(यहां फिर शंका करते हैं कि) यदि स्त्रियों में ये स्वाभाविक होती हैं तो उनमें ये चेष्टाएँ हर समय ही क्यों नहीं होतीं? (इसका समाधान करते हैं कि) उद्दीपक के अन्वय-व्यतिरेकी (भाव, अभाव) होने पर नायिकाओं में

हाव का आविर्भाव और तिरोभाव होता है (अर्थात् उद्दीपकान्वय में आवि-र्भाव और उद्दीपक-व्यतिरेक में तिरोभाव होता है) ।]

लीलाविलासविच्छित्तिविभ्रमललितानि शारीराणि । मोट्टायित-कुट्टमितविव्वोकविहृतान्यान्तराणि । किलकिञ्चितमुभयसङ्कीर्णमिति ।

[लीला, विलास, विच्छित्ति, विभ्रम और ललित—ये शारीरिक हाव हैं । मोट्टायित, कुट्टमित, विव्वोक और विहृत—ये आंतर (मानस) हाव हैं । किलकिञ्चित दोनों (अर्थात् शारीरिक और मानस) से सम्बन्धित है ।]

प्रियभूषणवचनाद्यनुकृतिर्लीला । तत्र विभावः सखीकौतुककलापः । अनुभावः प्रियपरिहासः । यथा—

[प्रिय के भूषण, वचन आदि की अनुकृति लीला है । इसका विभाव सखियों का कौतुक-कलाप है । अनुभाव प्रियपरिहास है । उदाहरण—]

टिप्पणी—दशरूपककार का मत इस सम्बन्ध में अधिक स्पष्ट है । उनके अनुसार—'प्रियानुकरणं लीला मधुराङ्गविचेष्टितैः' (२।३७) । धनिक ने इसकी यह व्याख्या की है—'प्रियकृतानां वाग्वेषचेष्टानां शृङ्गारिणीनामङ्गनाभिरनु-करणं लीला' । अर्थात् नायिका का अपने मधुर अङ्गों की चेष्टाओं द्वारा प्रिय (नायक) के वाग्वेषचेष्टादि का शृङ्गारिक अनुकरण करना लीला कहलाता है । अनेक आचार्यों ने लीला के तीन भेद माने हैं—१ स्वगता, २. सखीगता और ३. स्वप्रियता । उपर्युक्त उदाहरण स्वगता का ही है । जब नायिका सखी से नायक के प्रेमालाप, वेशभूषा एवं चेष्टादि का अनुकरण करवाती है वह सखी-गता लीला कही जाती है । स्वप्रियता लीला वह है जब नायिका नायक से अपने रूप और चेष्टादि का अनुकरण करवाती है और स्वयं भी नायक के वचन, वस्त्राभूषण, रूप और क्रियाओं का अनुकरण करती है । यहाँ एक उदा-हरण दिया है:—

चण्डांशौ चरमाद्रिचुम्बिनी मनो जिज्ञासितुं सुभ्रुवां
न्यञ्चत्कौतुकया तया विरचिते वंशीरवे राधया ।
एष स्फूर्जति कस्य निस्वन इति क्रोधाद्व्रजन्काननं
राधां वीक्ष्य लताप्रतानपिहितां स्मेरो हरिः पातु नः ।। ६ ।।

[सूर्य के अस्ताचलगामी होने पर, सुन्दरियों के मनोभावों को जानने के कौतूहल से राधा के वंशी बजाने पर, 'यह किसका स्वर है' ऐसा कहकर क्रोध से वन को जाते हुए और लतावितान से ढकी हुई राधा को देखकर मुसकराते हुए कृष्ण हमारी रक्षा करें ।]

टिप्पणी—कृष्ण के वंशीवादन का अनुकरण करती हुई राधा का यह वर्णन है।

गमननयनवदनभ्रू प्रभृतीनां यः कश्चिदुत्पद्यते विशेषः स विलासः। अत्र विभावाः प्रियदर्शनस्मरणादयः। अनुभावा अभिलाषवैदग्ध्य-प्रकाशनादयः। यथा—

[गमन, नयन, मुख, भौंह आदि में उत्पन्न होने वाली अनोखी विशेषता विलास है। इसके विभाव हैं प्रिय का दर्शन, स्मरण आदि। अनुभाव हैं अभि-लाषा, वैदग्ध्य का प्रकाशन आदि। उदाहरण—]

कूजत्काञ्चि दरस्फुरद्वलि चलद्भ्रूवल्लि वेल्लद्वपु—
र्वल्गत्कुण्डलकान्ति साचिचलितग्रीवं लपन्त्या वचः।
प्रातर्नर्तितपुण्डरीकपरिषत्पांडित्यपाटच्चरी—
दृष्टिर्यं प्रति जायते वरतनोर्वक्रा स शक्राधिकः।। ७।।

[शब्द करती हुई मेखला, कुछ-कुछ प्रकट त्रिबली, चंचल भ्रू लता, हिलोरें लेता हुआ शरीर, नर्तन करती हुई कुण्डल की कांति से युक्त और ग्रीवा को वक्र करके वचन कहती हुई उस सुन्दरी की प्रातःकाल के समय नृत्य करते हुए कमलसमूह की शोभा को भी हरने वाली वक्र दृष्टि जिसके ऊपर पड़ जाती है वह इन्द्र से भी अधिक (भाग्यशाली) है।]

कतिपयभूषाविन्यासो विच्छित्तिः। तत्र विभावाः सौकुमार्यप्रिय-सौभाग्यसौन्दर्यगर्वक्रोधक्लेशादयः। अनुभावा गर्वमानक्लेशप्रकाशना-दयः। यथा—

[थोड़े आभूषणों का धारण करना विच्छित्ति है। इसके विभाव सुकु-मारता, प्रिय का सौभाग्य, सौन्दर्य का गर्व, क्रोध, क्लेश आदि हैं। अनुभाव गर्व, मान, क्लेश आदि का प्रकाशन हैं। उदाहरण—]

केयूरं न करे पदे न कटकं मौलौ न माला पुनः
कस्तूरीतिलकं तथाऽपि तनुते संसारसारं श्रियम्।
सर्वाधिक्यमलेखि भालफलके यद्वेधसा सुभ्रुवो
जानीमः किमु तत्र मन्मथमहीपालेन मुद्रा कृता।। ८।।

[(नायिका के) हाथ में कंकण नहीं है, पैर में कटक (कड़ा) नहीं है और सिर में माला नहीं है, फिर भी कस्तूरी का तिलक उसकी लोकोत्तर शोभा को प्रकट कर रहा है। (ऐसा प्रतीत होता है कि) विधाता ने इसके भाग्य-फलक (मस्तक या भाग्य) में जो सर्वश्रेष्ठ होना लिखा है उस पर राजा काम-

देव ने अपनी मोहर लगा दी हो।]

वागङ्गभूषणानां स्थानविपर्यासो विभ्रमः। तत्र विभावा धनमदरागौत्कट्यादयः। अनुभावाः प्रियसख्याद्युपहासादयः। यथा—

[वचन और अङ्गभूषणों का स्थान-विपर्यास (उलटपुलट होना) विभ्रम है। इसके विभाव धन, मद, राग की उत्कटता आदि हैं। अनुभाव प्रिय या सखी आदि के उपहास आदि हैं। उदाहरण—]

त्यक्ते केलिविधौ निजांशुकधिया पीताम्बरस्यांशुकं
पद्मायाः परिधाय पद्मशयनात्प्रातः प्रयान्त्या बहिः।
आदातुं वसनाञ्चलं चपलयन्कोपं दृशा दर्शयन्
वाचा कौतुकमाचरन्स्मितसुधास्निग्धो हरिः पातु नः॥ ९॥

[केलिविधि (रतिक्रीड़ा) के समाप्त होने पर अपने वस्त्र के विचार से प्रातःकाल विष्णु के वस्त्र को पहनकर कमलशयन से बाहर आती हुई लक्ष्मी से अपना वस्त्र लेने की शीघ्रता से युक्त, दृष्टि से क्रोध का प्रदर्शन करते हुए और वाणी से उपहास करते हुए मन्दहास से उल्लसित विष्णु हमारी रक्षा करें।]

श्रमाभिलाषगर्वस्मितहर्षभयक्रुधां सङ्करः किलकिञ्चितम्। तदाह—

श्रमाभिलाषगर्वाणां स्मितहर्षभयक्रुधाम्।
असकृत्सङ्करः प्राज्ञैर्विज्ञेयं किलकिञ्चितम्॥ १०॥

अत्र विभावा नवयौवनोद्भेदचाञ्चल्यादयः। अनुभावाः कर्तव्यानिर्धारणादयः। यथा—

[श्रम, अभिलाषा, गर्व, स्मित, हर्ष, भय और क्रोध—इनका संकर (मिश्रण) किलकिंचित है। जैसा कहा भी है—

श्रम, अभिलाषा, गर्व, स्मित, हर्ष, भय और क्रोध—इनका बार-बार संकर ही विद्वानों ने किलकिंचित माना है।

इसके विभाव नवयौवनोद्भेद, चंचलता आदि हैं। अनुभाव कर्त्तव्य का अनिश्चय आदि हैं। उदाहरण—]

कोदण्डमारोहति चण्डिमानं मधुव्रतः कांक्षति शोणिमानम्।
पद्मं सुधां वर्षति वेपमानं स्वर्णाचलः स्विद्यति किं निदानम्॥ ११॥

[भौंहें चण्डता को धारण कर रही हैं, नेत्र रक्तिमा से युक्त हैं, काँपता हुआ मुख अमृतवर्षा कर रहा है, स्तन स्वेदयुक्त हैं। इस सबका क्या कारण है?]

व्याख्या—यह नायिका के प्रति नायक की उक्ति है। भौंहें चण्डता को धारण कर रही हैं कहने से गर्व का अनुभाव, नेत्र रक्तिमा से युक्त हैं कहने से क्रोध का अनुभाव, काँपता हुआ मुख आदि कहने से चंचलता का अनुभाव, अमृतवर्षा कर रहा है कहने से हास का अनुभाव, स्तन स्वेदयुक्त हैं कहने से हर्ष का अनुभाव स्पष्ट किया गया है। अतः गर्व, क्रोध, चंचलता, हास और हर्ष का संकर होने से यह किलकिंचित का उदाहरण है। प्रश्न में अनिश्चय की स्थिति है ही।

यथा वा—

क्रोधागारसमुत्थिताः समुदयत्संत्रासशैलार्दिताः
व्रीडाभिः परिमर्दिताः स्मितसुधाधाराभिरुद्वर्तिताः।
स्नाताः स्नेहरसैर्मनोभवकलामालाभिराभूषिताः
पायासुर्मयि शैलराजदुहितुः स्फीताः कटाक्षच्छटाः ॥ १२ ॥

[अथवा जैसे—

क्रोधागार (नेत्र) से उद्भूत, उत्पन्न भय-रूपी शैल से रोके गए, लज्जा से युक्त, मंदहास की सुधाधारा से वृद्धि को प्राप्त, स्नेह-रस से स्नात, काम की कलाओं से सुशोभित पार्वती की सुन्दर कटाक्ष-छटा हमारी रक्षा करे।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में किलकिंचित हाव की स्थिति पार्वती में दिखाई गई है। प्रसङ्ग इस प्रकार है कि शिव से पार्वती के विवाह के पश्चात् उनकी सखी उन्हें शिव के पास लाते हुए परिहास करती है। इससे पार्वती क्रोधित होती हैं किन्तु कहीं शिव ही अप्रसन्न न हो जाएँ, इससे उन्हें भय की अनुभूति होती है, शिव को देखकर प्रसङ्गानुरूप उनमें लज्जा का उदय होता है। शिव से वार्त्तालाप के समय हास उत्पन्न होता है और फिर अंततः रमण की स्थिति आती है।

वार्तावैमुख्ये सति निभृतभूयोदर्शनस्पृहा मोट्टायितम्। अत्र विभावाः सपत्नीत्रासलज्जादयः। अनुभावा मनःप्रेमकथनसङ्केतनिवेदनादयः। यथा—

[वार्ता से विमुख होकर छिपकर बार-बार देखने की इच्छा मोट्टायित है। इसके विभाव सपत्नीत्रास, लज्जा आदि हैं। अनुभाव हैं अन्तःकरण के प्रेम का कथन, संकेत-निवेदन आदि। जैसे—]

न स्नेहस्य कथारसं कथमपि श्रोतुं समुत्कण्ठते
राधा किन्तु विकीर्णरत्नकपटादागत्य सौधाद्बहिः।

नृत्यन्नेत्रपुटि स्फुरत्कुचघटि स्वेदोल्लसद्दोस्तटि
व्यावल्गद्भ्रुकुटि स्खलत्कटि पुन कृष्णान्तिके भ्राम्यति ।।१३।।

[चंचल नेत्रों वाली, कुचकलशों से सुशोभित, स्वेदयुक्त बाहुमूल एवं फड़कती भौंह से युक्त तथा जिसका कटिवस्त्र स्खलित हो रहा है ऐसी राधा रसपूर्ण प्रेमकथा को सुनने के लिए कुछ भी उत्साह नहीं दिखाती है परन्तु बिखरे हुए रत्नों के बहाने भवन से बाहर आकर कृष्ण के निकट ही घूम रही है।]

टिप्पणी—प्रस्तुत उदाहरण में वार्ता से विमुख राधा अन्य किसी बहाने से कृष्ण के समीप बने रहना चाहती है। अतः यहाँ मोट्टायित है। विभाव लज्जा है, अनुभाव हैं अन्तःकरण के प्रेम का कथन आदि। व्यापक रूप में कहा जा सकता है कि प्रिय को देखने की इच्छा रखते हुए अथवा किसी अन्य से उसके रूप-गुण आदि की चर्चा का श्रवण करते रहने के लिए जब नायिका उधर ही कान लगाए रहती है किन्तु प्रकटतः भाव ऐसा प्रदर्शित करती है कि उसे इन सब बातों का ज्ञान नहीं है तो मोट्टायित होता है। नायिका द्वारा अपने मन का भाव छिपाना इसका मुख्य उद्देश्य होता है।

सुखे दुःखचेष्टा कुट्टमितम्। अत्र विभावा रागौत्कटचदशनकरजक्षतकुन्तलाधरग्रहादयः। अनुभावाः कपटकायसङ्कोचकपटसीत्कारादयः। यथा—

[सुख में दुःखचेष्टा (अर्थात् यथार्थ में तो सुख का अनुभव हो पर बाहर से दुःख दिखाने का अभिनय हो) कुट्टमित होता है इसके विभाव उत्कट राग, दशन, नखक्षत, केश, अधर का ग्रहण आदि हैं। अनुभाव बनावटी शरीर-संकोच, बनावटी सीत्कार आदि हैं। उदाहरण—]

रोद्धं पाणिः प्रचलति चिरादङ्गुलिर्निश्चलाऽसौ
भ्रूविक्षेपो भवति कुटिलो नेत्रमन्तःप्रसन्नम्।
गाढाश्लेषे भवति सुतनोरर्धमात्रो नकारः
कम्पो मूर्ध्नः प्रसरति मुखं सम्मुखं न प्रयाति।। १४ ।।

[प्रतिरोध करने के लिए नायिका का हाथ देर में चलता है, अंगुलियाँ भी निश्चल हैं, भ्रू-विक्षेप में कुटिलता है किन्तु नेत्र अन्दर से प्रसन्न हैं, गाढ़ालिंगन के समय अधूरा ही निषेध होता है, जिसमें केवल मस्तक का कम्पन है और मुख सामने नहीं करती है।]

व्याख्या—प्रस्तुत श्लोक में रतिक्रीड़ा के लिए तत्पर नायक को रोकने

के लिए नायिका की कृत्रिम चेष्टाओं का वर्णन है। कृत्रिम चेष्टा से तात्पर्य है कि वह दिखाने भर के लिए ही निषेध कर रही है किन्तु मन से चाहती है कि रतिक्रीड़ा सम्भव हो। इसके लिए श्लोक में संकेत किया गया है कि जब नायक उसका नीवीबन्ध शिथिल करता है तो वह अपने हाथ से नायक के हाथ को बहुत देर में हटाती है—अर्थात् वह नायक को नीवीबन्ध शिथिल करने का पूरा अवसर देकर ही प्रतिरोध करती है। अपनी अंगुलियों से भी वह वर्जना नहीं करती क्योंकि वे निश्चल हैं। रतिक्रीड़ा को तत्पर नायक को अपनी भौहें टेढ़ी करके देखती है अर्थात् अपने क्रोध का प्रदर्शन करती है किन्तु उसके नेत्रों में उल्लास छाया हुआ है, अर्थात् उसका क्रोध बनावटी है और इस कार्य में स्वयं उसकी भी प्रसन्न सहमति है। नायक उसे अपने आलिंगन में कस लेता है तो भी वह पूर्ण निषेध नहीं कर पाती, अर्थात् दिखाने को तो नायक के आलिंगन से मुक्त होने का व्यापार करती है किन्तु उसके शरीर से परे नहीं हटती। केवल नकारात्मक रूप में अपना सिर हिला देती है। नायक अधरों और कपोलों के चुम्बन का प्रयास करता है किन्तु वह आँख उठाकर उसकी ओर नहीं देखती जिससे कि कहीं उसे कृत्रिम क्रोध का ज्ञान न हो जाए। यहाँ उत्कट राग आदि विभाव और बनावटी शरीर-संकोच आदि अनुभाव हैं।

गर्वाभिमानसम्भूतो विकारोऽनादरात्मा विव्वोकः। अत्र विभावा यौवनमदधनमदकुलमदप्रियाऽपराधादयः। अनुभावा अवहित्थदुर्वचनदुष्प्रेक्षणादयः। यथा—

[गर्व और अभिमान से उत्पन्न अनादर-रूप विकार विव्वोक कहलाता है। इसके विभाव हैं यौवनमद, धनमद, कुलमद, प्रिय का अपराध आदि। अवहित्थ, दुर्वचन, दुष्प्रेक्षण आदि अनुभाव हैं। उदाहरण—]

कृताञ्जलिः कातरदृङ्निपातः प्राणेश्वरः पार्श्वमुपाजगाम।
सखीमुखे कुण्डलरत्नरेखामेषापुनः प्रेक्षितुमाचकाङ्क्ष ॥ १५ ॥

[हाथ जोड़े हुए, कातरदृष्टि से युक्त प्रिय (नायक) उसके निकट आ गया, परन्तु वह नायिका कुण्डल के रत्न की रेखा को सखी के मुख पर फिर देखने की इच्छा करती रही।]

टिप्पणी—प्रिय के समुपस्थित होने पर भी उसका आदर न करने से यहाँ विव्वोक है। यौवनमद विभाव है और अनुभाव है अवहित्था।

सकलाङ्गसमीचीनविन्यासो ललितम्। अत्रैव स्मितादयोऽन्तर्भवन्ति। तत्र विभावा मनःप्रसादप्रियतमदृढाऽनुरागधीरत्वादयः।

अनुभावाः प्रियवशीकरणलोकाऽनुरागचमत्कारादयः । यथा—

[सब अंगों का सुन्दरता से विन्यास (प्रसाधन) ललित है । स्मित आदि का भी इसी में अन्तर्भाव हो जाता है । इसके विभाव मनःप्रसाद, प्रियतम का दृढ़ अनुराग, धीरता आदि हैं । अनुभाव प्रिय को वश में करना, लोकानुराग, चमत्कार आदि हैं । उदाहरण—]

कलक्वणितमेखलं चपलचारुनेत्राञ्चलं
प्रसन्नमुखमण्डलं श्रवणसञ्चरत्कुण्डलम् ।
स्फुरत्पुलकबन्धुरं लपितशोभमानाधरं
विहस्य रतिमन्दिरे व्रजति कस्य शातोदरी ।। १६ ।।

[मेखला की सुन्दर ध्वनि, चंचल एवं सुन्दर नेत्र, प्रसन्न मुखमण्डल, कानों में हिलते हुए कुण्डल, रोमाञ्च से उन्नतावनत अवयव और वचनों से शोभित अधर से युक्त यह कृशोदरी हँसती हुई किसके रतिमन्दिर में जा रही है ?]

प्रियसन्निधावभिलाषापरिपूर्तिर्विहृतम् । तत्र व्याजलज्जादयो विभावाः । अनुभावा अन्यथाचेष्टिताऽन्यथाव्यवहारादयः । व्याजाद्यथा-

[प्रिय के निकट होने पर भी अभिलाषा की अपूर्णता विहृत है । इसके विभाव हैं व्याज, लज्जा आदि । अनुभाव हैं अन्यथाचेष्टा, अन्यथाव्यवहार आदि । व्याज का उदाहरण—]

अभिलषति कपोले चन्द्रचूडे विधातुं
तिलकमुदयदन्तः कोपभाजा भवान्या ।
फणिपतिभयकूटादंगमुत्कम्पयन्त्या
प्रचलवसनया तर्विघ्निताः केलिदीपाः ।। १७ ।।

[शिव के द्वारा पार्वती के कपोल पर तिलक करने की अभिलाषा से कोपयुक्त होकर भवानी ने सर्प से भय का प्रदर्शन करते हुए अंगों को कँपाते हुए चंचल वस्त्रों से केलिदीपों को बुझा दिया ।]

व्याख्या—शिव पार्वती के निकट हैं किन्तु उनके व्यवहार से पार्वती की अभिलाषा अपूर्ण ही रह जाती है । शिव अधिक-से-अधिक पार्वती के कपोल पर तिलक ही करके रह जाते हैं । अवसर से लाभ उठाने के लिए पार्वती शिव के गले में पड़े हुए सर्प को देखकर भय-प्रदर्शन करने लग जाती हैं जिनसे उनका शरीर कम्पित हो जाता है और वस्त्र चंचल हो जाते हैं । इसी के व्याज से पार्वती अपने चंचल वस्त्रों से केलिगृह के भीतर जलने वाले समस्त

दीपक बुझाकर शिव को अपने निकट आने का अवसर देती हैं, अर्थात् अपना अभिलषितार्थ पूर्ण करने का प्रयत्न करती हैं। पार्वती की अभिलाषा की अपूर्णता से यहाँ विहृत है। सर्प से भय व्याज है जो विभाव है तथा अनुभाव अन्यथाचेष्टा आदि हैं।

लज्जातो यथा—

आनन्दभाजो यदुनन्दनस्य कराऽवरोधं न करेण कुर्याः।
सखीं लपन्तीमिति सञ्जघान चकोरनेत्रा चुलकोदकेन ॥१८॥

[लज्जा का उदाहरण—

चकोर के समान नेत्र वाली नायिका चुल्लू भर पानी भरकर अपनी उस सखी को मारती है जो उससे कह रही है कि उत्कंठित श्रीकृष्ण के हाथ को अपने हाथ से मत रोको।]

टिप्पणी—नायिका राधा है। उसे चकोर के समान नेत्र वाली कहकर इस भाव की व्यंजना की गई है कि उसके नेत्र कृत्रिम कोप से रक्तवर्ण हैं। उत्कंठित श्रीकृष्ण के हाथ इस भाव के सूचक हैं कि वे राधा की कंचुकी का मोचन करने में प्रवृत्त हैं। यहाँ लज्जा विभाव है तथा अन्यथा व्यवहार आदि अनुभाव हैं।

यूनोरन्योन्यं मुदितानां पञ्चेन्द्रियाणां सम्बन्धाभावोऽभीष्टाप्राप्तिर्वा विप्रलम्भः। न च मानात्मके विप्रलम्भेऽव्याप्तिरिति वाच्यम्, मुदितपञ्चेन्द्रियसम्बन्धाभावरूपस्य विशिष्टाभावस्य तत्राऽपि सत्त्वात्। तदानीं यूनोरिन्द्रियाणां मुदितत्वाभावात्। ननु या प्रियमभिसरति सा विप्रयुक्ता भवेदिति चेत्। सत्यम्, सा विप्रयुक्तैव। अचिरदर्शनप्रत्याशाऽनुवृत्तप्रमोदेन विरहधर्मस्याश्रुपातादेरसम्भव इति।

[नायक-नायिका की परस्पर मुदित पंचेन्द्रियों के सम्बन्ध का अभाव अथवा अभीष्ट की अप्राप्ति विप्रलम्भ है। यह कहना ठीक नहीं है कि मान-रूप विप्रलम्भ में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी, क्योंकि मुदित पंचेन्द्रिय=संबंध का अभावरूप विशिष्ट अभाव वहाँ भी विद्यमान है। उस समय नायक-नायिका के इन्द्रियों में मुदितत्व का अभाव होता है। (यहाँ फिर एक प्रश्न करते हैं कि) जो नायिका प्रिय के प्रति अभिसरण करती है, क्या वह भी विप्रयुक्ता मानी जाएगी ? (इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि) यह सत्य है, वह विप्रयुक्ता ही होगी। शीघ्र ही प्रिय-दर्शन की आशा से होने वाले उल्लास के कारण विरह-धर्म के अश्रुपात आदि यहाँ संभव नहीं हैं।]

व्याख्या—यहाँ विप्रलम्भ के सम्बन्ध में अपना मत प्रकट करते हैं। कहा गया है कि जब नायक-नायिका की परस्पर मुदित पंचेन्द्रियों के सम्बन्ध का अभाव हो तब विप्रलंभ होता है। सबसे पहले पंचेन्द्रिय के विषय में विचार करते हैं। इन्द्रियों के दो प्रकार बताए गए हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय। यहाँ कर्मेन्द्रियों से ही आशय है। वे हैं—पाय, उपस्थ, हस्त, पाद और वाक्। फिर कहा गया है कि ये मुदित अर्थात् प्रसन्न होती हैं। भाव यह है कि नायक-नायिका की मुदित पंचेन्द्रियों का ही परस्पर अभाव होना चाहिए। यदि यहाँ 'मुदित' न कहते तो इस लक्षण की करुण-रस में अतिव्याप्ति हो जाती क्योंकि पंचेन्द्रिय का अभाव तो वहाँ भी होता है। इसीलिए यहाँ मुदित कहा क्योंकि करुण-रस में इन्द्रियों का मोद नहीं होता है। आगे कहा गया है कि अथवा अभीष्ट की अप्राप्ति विप्रलम्भ है। यहाँ अभीष्ट का अभिप्राय नायक या नायिका से है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि मानरूप विप्रलम्भ में इस लक्षण की अव्याप्ति है। वास्तव में मानावस्था में पंचेन्द्रियों का संबंध होते हुए भी उनमें मुदितत्व नहीं होता है।

भानुदत्त ने एक प्रश्न और उठाया है। वह यह है कि जो नायिका प्रिय के प्रति अभिसरण कर रही है क्या उसे विप्रयुक्ता स्वीकार कर सकते हैं? उत्तर है—हाँ। यहीं एक शंका उठती है—वियोग में होने वाले अश्रुपात आदि तो उसमें नहीं होते; फिर उसे कैसे विप्रयुक्ता माना जाए? भानुदत्त ने इसका समाधान इस प्रकार किया है कि ऐसी नायिका में उल्लास प्रधान हो जाता है। यह उल्लास प्रिय के दर्शन की आशा से सम्बन्धित है। इसलिए उसमें अश्रुपात आदि संभव नहीं हो पाते।

स च विप्रलम्भः पञ्चधा, देशान्तरगमनाद्गुरुनिदेशादभिलाषा-दीर्ष्यायाः शापाच्चेति। समयाद्दैवाद्विड्वरादित्यादयोऽप्युन्नेयाः। देशा-न्तरगमनाद्यथा—

[वह विप्रलम्भ पांच प्रकार का है—देशान्तरगमन से, गुरु की आज्ञा से, अभिलाषा से, ईर्ष्या से और शाप से। समय, दैव और विड्वर (उपद्रव) आदि के कारण होने वाले विप्रलम्भ भी इसी के अन्तर्गत हैं। देशान्तरगमन का उदाहरण—]

प्रस्थानाय कृतोद्यमे प्रियतमे दोःकंकरणेन च्युतं
धैर्येण स्खलितं मदेन गलितं नेत्राम्भसा निःसृतम्।
जीवेनाऽपि यियासुना शिवशिव प्रारम्भि वामभ्रुवः
कम्पान्दोलितकिङ्किणीकलरवव्याजेन वैण्यस्मृतिः॥ १६॥

[प्रियतम के द्वारा प्रस्थान की तैयारी करने पर (नायिका के) हाथ से कंकरण गिर गया, धैर्य स्खलित हो गया, मद नष्ट हो गया, नेत्रों से जल प्रवाहित होने लगा, (शरीर में स्थित सभी प्रमुख तत्त्वों को अलग होते देखकर) उसके जीव (प्राण) ने भी जाने की इच्छा से कम्प के कारण शब्द करती हुई किंकिणी के बहाने मानो वेणुपुत्र पृथु का स्मरण करना प्रारम्भ कर दिया ।]

यथा वा तातचरणानाम्—

वीणामंके कथमपि सखीप्रार्थनाभिर्निधाय
स्वैरंस्वैरं सरसिजदृशा गातुमारब्धमेव ।
तन्त्रीबुद्ध्या किमपि विरहक्षीणदीनाङ्गवल्ली—
मेनामेषा स्पृशति बहुशो मूर्छना चित्रमेतत् ॥ २० ॥

[पूज्य पितृचरणों का भी एक उदाहरण—

सखी की प्रार्थना से वीणा को किसी तरह गोद में रखकर उस कमलनयनी ने किसी प्रकार गाना तो आरम्भ किया, परन्तु तन्त्री के धोखे में विरह से क्षीण और दीन शरीरयष्टि को ही वह मूर्छना के लिए बार-बार स्पर्श करती है, यह आश्चर्य है ।]

व्याख्या—नायक दूसरे देश में गया हुआ है और उसके विरह में नायिका कृशांगी हो गई है । उसकी व्याकुलता को देखकर उसकी सखी मन बहलाने के लिए वीणावादन और गायन की उससे प्रार्थना करती है । नायिका यह बात मान लेती है और वीणा को गोद में रखकर जैसे-तैसे गाना भी प्रारम्भ कर देती है । किन्तु उसकी अंगुली वीणा के तार पर न जाकर उसके शरीर पर ही जा पड़ती है क्योंकि अपने कृश शरीर को देखकर उसे वीणा के तार का ही भ्रम हो जाता है । भाव यह है कि उसका शरीर वीणा के तार जैसा कृश हो गया है ।

गुरुनिदेशाद्यथा—

भास्वाँश्चूततरुर्गुरुर्मनसिजः कोऽप्येष भृंगस्तमो
मन्दो गन्धवहः सितो मलयजो दोषाकरो माधवः ।
अंगारो नवपल्लवः परभृतो विज्ञो गुरोराज्ञया
निर्यान्तोऽसि विचारिताः कथममी क्रूरास्त्वया न ग्रहाः ॥२१॥

[गुरुनिदेश (से होने वाले विप्रलम्भ) का उदाहरण—

हे नाथ ! तुम गुरु की आज्ञा से गए हो, परन्तु तुमने सूर्य के समान आम्रवृक्ष, गुरु के समान कामदेव, तम के समान भृंग, मन्द-मन्द वायु, धवल-

शीतल चन्दन, दोषों का स्थान वसन्त, अङ्गार के समान नव पल्लव और विज्ञ कोयल—इन क्रूर ग्रहों का विचार क्यों नहीं किया ?]

व्याख्या—यह नायिका का नायक के लिए कथन है। नायक गुरु की आज्ञा से विदेश में गया हुआ है। सामान्य रीति यह है कि बाहर जाने से पूर्व विविध ग्रहों की स्थिति का अध्ययन कर लिया जाता है और यदि ग्रह अनुकूल हों तभी प्रवास किया जाता है। प्रस्तुत श्लोक में नायिका ने विविध उद्दीपक उपादानों में विविध ग्रहों का विचार किया है। उसका कहना है कि ग्रह तो कोई भी अनुकूल नहीं था। इतने पर भी नायक ने जाने से पूर्व इन पर विचार नहीं किया। इसी कारण मुझे आज असह्य वियोग की पीड़ा सहन करनी पड़ रही है। ये ग्रह कौन-कौन हैं, इस सबंध में कहते हैं कि आम्रवृक्ष जो है वह ही सूर्य है। अर्थात् आम्रवृक्ष सूर्य के समान ताप उत्पन्न करता है। कामदेव अथवा मन में उत्पन्न काम की वासना गहन-गंभीर है और यही मानो बृहस्पति है, श्यामल भृंग ही राहु है, गंध का वहन करने वाला मंद वायु कामोद्दीपक है और शनि-रूप है, धवल चन्दन का लेप शुक्र-रूप है, वसन्त परपीड़न में रत होने के कारण दोषों का स्थान है, अर्थात् चन्द्र-रूप है, वृक्षों के नवीन पल्लव दाह उत्पन्न करते हैं और ये मंगल-रूप हैं तथा कोयल की कूक विशेष रूप से विज्ञ होने के कारण बुध-रूप है। इस प्रकार ग्रह तो सभी प्रतिकूल स्थिति में थे किन्तु नायक ने जाने से पूर्व इन पर विचार भी नहीं किया। अर्थात् ऐसे समय में, जबकि उसे निकट होना चाहिए था, वह नायिका को छोड़ कर चला गया।

अभिलाषाद्यथा—

आगाराभिमुखं मुखं रचयतोर्वक्रीकृतग्रीवयो—
र्व्यस्तं चोलमजानतोः क्वचिदपि व्याजात्पुनस्तिष्ठतोः।
मार्गं विस्मरतोः क्वचित्क्वचिदपि त्यक्ताक्षरं जल्पतोः
साचि प्रेक्षितमावयोर्यदभवद्भूयस्तदाशास्महे।।२२।।

[अभिलाषहेतुक (विप्रलम्भ) का उदाहरण—

वापस जाते हुए भी देवगृह की ओर मुड़ कर देखते हुए, (देखने के लिए) ग्रीवा को वक्र करते हुए, गिरते हुए वस्त्र पर ध्यान न देते हुए, किसी बहाने से कहीं पर फिर खड़े होते हुए, कहीं मार्ग भूलते हुए और कहीं अस्पष्टाक्षरों में कुछ बोलते हुए प्रेमपूरित दृष्टि से मार्ग में जो हम दोनों को एक-दूसरे को देखने का अवसर मिला था उसी की फिर अभिलाषा है।]

ईर्ष्यातो यथा—

प्राणेशस्य प्रभवति मनः प्रेम हेमप्रसून—
ञ्चेतश्चूतं दृगपि कमलं जीवनं बन्धुजीवम् ।
आशासूत्रे ग्रथितमखिलं वेधसा तस्य भंगे
स्यादेतेषामपि निपतनं चण्डिमानं विमुञ्च ।। २३ ।।

[ईर्ष्या (विप्रलंभ) का उदाहरण—

हे चण्डि ! यह मान छोड़ दो क्योंकि हेमपुष्प के समान प्राणेश के मन का प्रेम, आम्रपुष्प के समान अन्त करण, कमलसदृश नेत्र और बन्धुजीवपुष्प के समान जीवन – इन सब वस्तुओं को विधाता ने आशा के सूत्र में गूँथा हुआ है; उसके भंग होने पर ये सब भी समाप्त हो जाएगे ।]

व्याख्या—यह नायिका के प्रति उसकी सखी की उक्ति है। किसी कारण से नायिका नायक पर क्रोधित है और मान किए बैठी है। सखी उसे मानभंग करने के लिए कहती हुई समझाती है कि हे क्रोधयुक्ते ! नायक के प्रति तुमने जो यह मान किया हुआ है उसे समाप्त कर दो क्योंकि प्रिय का जो मनःप्रेम है वह रक्षा करने के योग्य होने से स्वर्णपुष्परूप है, प्रिय का जो अन्तःकरण है वह अनेकविध मनोरथों से युक्त होने के कारण आम्रपुष्परूप है, उसके जो नेत्र हैं वे जल में अर्थात् आँसुओं में भीगे होने से कमलरूप हैं और जीवन अस्थिर होने से मध्याह्नपुष्प रूप है अर्थात् अभी तो यौवनकाल है, आगे जीवन का क्या मालूम क्या हो। ये सब वस्तुएँ आशा के सूत्र में गुँथी हुई हैं अर्थात् अभी नायक को तुम्हारे मिलन की आशा है। यदि यह सूत्र ही भंग हो गया तो ये सब वस्तुएँ भी समाप्त हो जाएंगी अर्थात् तुम्हारे अधिक मान करने से नायक निराश हो जाएगा जिससे यह अनर्थ होने की सम्भावना है।

शापाद्यथा—

अन्यत्र यदि निर्गन्तुमिच्छा निर्गच्छ दूरतः ।
प्रियाविरहतापेन शापदग्धो भविष्यसि ।। २४ ।।

[शापहेतुक (विप्रलंभ) का उदाहरण—यदि अन्यत्र जाने की इच्छा हो तो दूर से ही (बाहर से ही नायिका से मिले बिना ही) चले जाओ अन्यथा प्रिया के विरहताप-रूपी शाप से दग्ध हो जाओगे ।]

टिप्पणी—नायक विदेशगमन को उद्यत है और नायिका विरहताप से संतप्त है। ऐसी स्थिति में नायिका की सखी का नायक के प्रति यह कथन है।

समयाद्यथा—

विश्लेषजीवनव्रीडापीडाविधुरमानसा ।
तस्थौ प्रातः प्रियं प्रेक्ष्य चक्री वक्रीकृतानना ।।२५।।

[समयहेतुक (विप्रलंभ) का उदाहरण—

नायिका प्रातःकाल के समय प्रियवियोग होने पर जीवनव्रीड़ा तथा उससे होने वाली पीड़ा के कारण चक्रवाकी की तरह मुख को वक्र करके स्थित हो गई ।]

व्याख्या—नायक-नायिका का प्रातःकाल के समय होने वाला वियोग समय की आवश्यकता के अनुसार होने वाला वियोग है । इसी का यहाँ वर्णन किया गया है । प्रातःकाल के समय वियोग होने पर जीवनसंभूत व्रीड़ा से उत्पन्न दुःख के कारण अधीर मन वाली नायिका ने प्रिय को देखकर चक्रवाकी की तरह अपना मुख वक्र कर लिया और उसी रूप में स्थित रह गई ।

दैवाद्यथा—

जीवने सति विश्लेषो विश्लेषे सति जीवनम् ।
द्वयोरप्यनयोर्यूनामहमेव निदर्शनम् ।। २६ ।।

[दैवहेतुक (विप्रलंभ) का उदाहरण—

जीवन होने पर वियोग, और वियोग होने पर भी जीवन—इन दोनों बातों का युवा पुरुषों में मैं ही उदाहरण हूँ ।]

व्याख्या—सीता के वियोग में यह रामचन्द्र की उक्ति है । उनका कथन है कि जीवन होने पर भी वियोग झेलना पड़ रहा है और वियोग होने पर साथ में जीवन भी है । अर्थात् जीवन हो तो उसमें वियोग नहीं होना चाहिए और यदि वियोग ही हो तो जीवन नहीं होना चाहिए अर्थात् वियोग से त्रस्त जीवन से मृत्यु श्रेयस्कर है । और ये दोनों बातें मेरे साथ घट रही हैं अर्थात् भाग्य का ऐसा कोप मुझ पर ही हुआ है, किसी अन्य पर नहीं ।

विड्वराद्यथा—

केलीगृहे वा मणिमन्दिरे वा शशामलंकानगरे हुताशः ।
इतस्ततः प्रस्थितयोर्न यूनोर्वियोगजन्मा विरराम वह्निः ।।२७।।

[विड्वर (उपद्रव)-हेतुक (विप्रलंभ) का उदाहरण—

लंका के केलिगृह अथवा मणिमन्दिर में जली हुई अग्नि तो शान्त हो गई परन्तु इधर-उधर भागे हुए युवक-युवतियों की विरहाग्नि शान्त न हो सकी ।]

व्याख्या—प्रसंग इस प्रकार है कि हनुमान ने लंका-दहन किया था जिसमें लंका के विविध केलिमन्दिर, मणिमन्दिर आदि भाग दग्ध हो गए थे। यहाँ कहा गया है कि उन विविध भागों में जो अग्नि फैलकर सर्वस्व भस्म कर रही थी वह तो कुछ काल के पश्चात् ही शान्त हो गई किन्तु उन केलिमन्दिर आदि में जो राक्षस युवक-युवतीगण उस समय प्रणयक्रीड़ा कर रहे थे और जो अग्नि के भय के कारण एक-दूसरे से पृथक् होकर इधर-उधर भाग गए थे उनकी विरहाग्नि बहुत समय तक शान्त नहीं हुई, अर्थात् उनका बहुत समय तक फिर संयोग न हो पाया।

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां शृङ्गाररसनिरूपणं नाम षष्ठस्तरंगः।

[भानुदत्त-विरचित 'रसतरंगिणी' की शृङ्गाररसनिरूपण नामक षष्ठ तरंग समाप्त हुई।]

सप्तमस्तरङ्गः

हासस्य परिपोषो हास्यः। वर्णोऽस्य शुद्धो दैवतं प्रमथः। स च द्विविधः—स्वनिष्ठ परनिष्ठश्चेति। तावप्युत्तममध्यमाधमभेदात्त्रिधेति षड्विधः। स्वनिष्ठोऽपि षड्विधः। परनिष्ठोऽपि षड्विध इति द्वादशविधो हास्यः। तथाहि उत्तमानां स्वनिष्ठे परनिष्ठे च स्मितहसिते। मध्यमानां स्वनिष्ठे परनिष्ठे च विहसितोपहसिते। अधमानां स्वनिष्ठे परनिष्ठे चापहसितातिहसिते।

[हास (स्थायीभाव) का पुष्ट रूप ही हास्य-रस है। इसका वर्ण शुद्ध (शुक्ल) तथा देवता प्रमथ है। यह हास्य स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ-भेद से दो प्रकार का होता है। इन दोनों के उत्तम, मध्यम और अधम के आधार पर छः भेद होते हैं। स्वनिष्ठ और परनिष्ठ हास्य के छः-छः भेद होने से हास्य बारह प्रकार का हुआ। उत्तमों का स्वनिष्ठ और परनिष्ठ हास्य दो प्रकार का होता है—स्मित और हसित। मध्यमों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ हास्य के दो प्रकार हैं—विहसित और उपहसित। अधमों के स्वनिष्ठ और परनिष्ठ हास्य के अपहसित और अतिहसित ये दो भेद होते हैं]

व्याख्या—हास्य-रस का स्थायी भाव हास है। यद्यपि हास्य शृङ्गार से उत्पन्न कहा गया है, पर उसका वर्ण शृङ्गार-रस के श्याम वर्ण के विपरीत शुक्ल बताया गया है। इसी प्रकार हास्य के देवता भी शृङ्गार के देवता विष्णु से भिन्न प्रमथ कहे गए हैं। हास्य-रस के भेद अनेक आधारों पर किए गए हैं। पहला आधार है हास्य का आश्रय। इस आधार पर भानुदत्त ने हास्य-रस के दो भेद किए हैं—स्वनिष्ठ और परनिष्ठ। भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में हास्य-रस के इस आधार पर दो भेद किए हैं—आत्मस्थ और परस्थ। कदाचित् 'आत्मसमुत्थ' और 'परसमुत्थ' भी इन्हीं को कहा गया है। 'नाट्यशास्त्र' के छठे अध्याय के गद्यभाग में पहले शब्द-युग्म का प्रयोग हुआ है और श्लोक में दूसरे का (६-४९-६१)। स्पष्ट है कि जब कोई स्वयं हँसे तो वह आत्मस्थ अथवा स्वनिष्ठ हास्य होगा, पर जब वह दूसरे को हँसाए तो उसे परस्थ अथवा परनिष्ठ हास्य कहा जाएगा। इस संबंध में पंडितराज जगन्नाथ की व्याख्या कुछ अन्य प्रकार की है। उनका कहना है कि आत्मस्थ हास्य सीधे

विभावों से उत्पन्न होता है और परस्थ हास्य हँसते हुए व्यक्तियों को देखने के कारण उत्पन्न होता है।

भानुदत्त ने फिर स्वनिष्ठ और परनिष्ठ के उत्तम, मध्यम और अधम भेद किए हैं। उत्तमों का स्वनिष्ठ हास्य दो प्रकार का है—स्मित और हसित। इसी प्रकार क्रम को लेकर अन्य भेद भी किए गए हैं जो अनुवाद-भाग में ही स्पष्ट हैं। इस संबंध में भानुदत्त ने भरत से सीधा संकेत ग्रहण किया है।

उत्तमानामीषद्विकसितकपोलमव्यक्तदशनमपाङ्गसुष्ठुवीक्षणं स्मितम्। उत्फुल्लकपोलं किञ्चिल्लक्षितदशनं हसितम्। मध्यमानां समयोचितमुत्तमरचनमाकुञ्चितमुखमाविर्भूतवदनरागं विहसितम्। उत्फुल्लनासापुटं कुटिलवीक्षितं कुञ्चितग्रीवं स्फुटस्वनमुपहसितम्। अधमानामुद्धतमुद्यदश्रु कम्पितमौलि स्फुटतरस्वनमपहसितम्। अत्युद्धतं वहलाश्रु स्फुटतमस्वनमाश्लिष्टपार्श्वजनमारब्धकरतालमतिहसितम्।

[उत्तमों में स्मित किंचित् विकसित कपोल, अव्यक्तदशन तथा अपांग (नेत्रकोण) के सुन्दर दृष्टिपात से युक्त होता है। उत्फुल्ल कपोल, दाँतों का किंचित् लक्षित होना हसित कहा जाता है। मध्यमों में समयानुसार उचित और उत्तम शब्दयुक्त, मुख का संकुचित होना तथा मुख में राग का आविर्भाव होना विहसित है। उत्फुल्ल नासापुट, कुटिल वीक्षित, ग्रीवा का कुछ टेढ़ा होना तथा स्पष्ट शब्द से युक्त उपहसित होता है। अधमों में उद्धत, अश्रुओं का प्रकट होना, सिर का हिलना और स्पष्ट शब्द से युक्त अपहसित होता है। अत्युद्धत, अत्यन्त अश्रु, अत्यन्त स्पष्ट शब्द, निकट स्थित व्यक्ति का आश्लेष और ताली बजाने की क्रिया से युक्त अतिहसित होता है।]

स्वनिष्ठं स्मितं यथा—

लेखनीमितइतो विलोकयन्कुत्रकुत्र न जगाम पद्मभूः।
तां पुनः श्रवणसीम्नि योजितां प्राप्य सन्नतमुखः स्मितं दधौ ॥ १ ॥

[स्वनिष्ठ स्मित का उदाहरण—

लेखनी को इधर-उधर ढूँढ़ते हुए ब्रह्मा कहाँ-कहाँ नहीं गए? परन्तु बाद में अपने ही कान के ऊपर लगाई गई लेखनी को पाकर वह मुख नीचे करके स्मित से युक्त हुए।]

टिप्पणी—यहाँ लेखनी ब्रह्मनिष्ठ हास्य का आलंबन है, स्वयं लेखनी हास्याश्रय नहीं है। इसी कारण यह स्वनिष्ठ स्मित है।

स्वनिष्ठं हसितं यथा—

व्योमांकुरं व्योमगतं रदाग्रमुग्रद्युतिं स्वीयमुदीक्ष्य विष्णोः ।
यदा स हास्यं किमु तत्पयोधावद्याऽपि फेनस्तबकायमानम् ॥ २ ॥

[स्वनिष्ठ हसित का उदाहरण—

व्योमाङ्कुर के समान आकाश में दीखने वाले अपने उग्रद्युति दन्ताग्रभाग को देखकर विष्णु को जो हास्य हुआ वही मानो आज भी समुद्र में फेनसमूह के रूप में विद्यमान है ।]

टिप्पणी—वराहावतार के समय पृथ्वी का उद्धार करते हुए विष्णु अपने रूप को देखते हैं । दाँत का अग्रभाग विष्णुनिष्ठ हास्य का आलम्बन है ।

परनिष्ठं स्मितं हसितं यथा—

हरवृषभमुखे सखेलमायोजयति सुवर्णसवर्णकान्तिपर्णम् ।
दृशि भुजगपतेः शिशुः षडास्यः कलयति कज्जलमन्तिके भवान्याः ॥ ३ ॥

[परनिष्ठ स्मित और हसित का उदाहरण—

बालक षडानन भवानी के समीप, नान्दी के मुख में सुवर्ण की कान्ति के समान पत्र को बड़े कौतुक से आयोजित करते हैं और शेषनाग के नेत्रों में काजल लगाते हैं ।]

टिप्पणी—नान्दी के प्रति पत्रिकाव्यापार करते हुए षडानन को हँसते देखकर भवानी को स्मित हुआ और शेषनाग के प्रति अंजनव्यापार करते हुए षडानन को हँसते देख भवानी को हसित हुआ । यहाँ हास्य के आलम्बन हैं षडानन जिससे पार्वती को हास्य हो रहा है । अतः यह परनिष्ठ का उदाहरण है ।

विहसितं परनिष्ठं यथा—

निशासु तैलस्य धिया गृहीतैर्मसीजलैर्लिप्तमुखारविन्दम् ।
गोपं प्रभाते स्खलदश्रुनीरमधीरनादं जहसुस्तरुण्यः ॥ ४ ॥

[परनिष्ठ विहसित का उदाहरण—

रात्रि के समय स्याही को तेल समझकर अपने मुख पर पोत लेने वाले गोप को प्रभात के समय देखकर जोर से शब्द करके हँसती हुई तरुणियों के नेत्रों से अश्रु (जल) बहने लगे ।]

उपहसितं परनिष्ठं यथा—

यो-निरोधो मयारब्ध इति पद्यं पठन्बुधः ।
शश्वदुत्फुल्लनासेन तटस्थेनोपहस्यते ॥ ५ ॥

[परनिष्ठ उपहसित का उदाहरण—

'जो आग्रह मैंने आरम्भ किया है' (यो-निरोधो मयारब्ध) इस पद्य को पढ़ते हुए पंडित पर हँसते हुए तटस्थ व्यक्ति की नाक श्वास के आवेग से फूल गई है।]

टिप्पणी—यहाँ मूल पाठ में 'जो आग्रह' का मूल पाठ है 'यो-निरोधः'। परन्तु इसे मिलाकर पढ़ने से जुगुप्सापरक अश्लील भाव भी प्रकट होता है—'योनिरोधः'—अर्थात् इसी की कल्पना से यहाँ तटस्थ व्यक्ति का हास्य संकेतित है।

परनिष्ठमपहसितं यथा—

रतोत्सवे वल्लभयज्ञसूत्रं कण्ठावलग्नं परिमोचयन्तीम्।
द्विजाङ्गनां दीर्घतरं श्वसन्तीं तारस्वनं वारवधूर्जहास ॥ ६ ॥

[परनिष्ठ अपहसित का उदाहरण—

रतिक्रीड़ा के समय कण्ठ में उलझे हुए पति के यज्ञोपवीत को छुड़ाती हुई और लम्बे-लम्बे श्वास लेती हुई ब्राह्मण-पत्नी को देखकर वेश्या जोर से हँसी।]

परनिष्ठमतिहसितं यथा--

चोरः कामरिपोर्गृहं निशि गतः शूलं कपालं हर-
न्बीजं धूर्तफलस्य तण्डुलधिया नीत्वा पुनर्भुक्तवान्।
व्यावल्गन्प्रचलन्स्खलन्परिपतन्मुह्यन्विघूर्णन्हस-
न्नट्टाट्टध्वनिमुक्तमौलिकुसुमं स्वर्वेश्यया हस्यते ॥ ७ ॥

[परनिष्ठ अतिहसित का उदाहरण—

रात्रि में चोर ने शंकर के घर में घुसकर शूल और कपाल का हरण किया, फिर चावल समझकर धतूरे के बीज लेकर खा लिए जिससे उन्मत्त होते, चंचलता से युक्त, लड़खड़ाते हुए, गिरते हुए, मोह को प्राप्त होते हुए, चक्कर खाते हुए और हँसते हुए उसे देखकर स्वर्ग की अप्सराएँ अट्टहास करके हँसीं जिससे उनके केशों के कुसुम भी गिर गए।]

शोकस्य परिपोषः करुणः। आशाविच्छेदे सति सर्वेन्द्रियक्लमो वा। न च विप्रलम्भेऽतिव्याप्तिः। तत्रेष्टाशायाः सत्त्वात्, तद्विच्छेदे तु स विप्रलम्भः करुण एव। शोको दुःखम्। वर्णोऽस्य कपोतचित्रितः। दैवतं वरुणः। स च स्वनिष्ठः परनिष्ठश्च। स्वशापबन्धनक्लेशानिष्टै-र्विभावैः स्वनिष्ठः। परेष्टनाशशापबन्धनक्लेशादीनां दर्शनस्मरणै-र्विभावैः परनिष्ठः।

[शोक (स्थायी भाव) का परिपुष्ट रूप करुण-रस है। अथवा आशा का विच्छेद होने पर सर्वेन्द्रियों का क्लेश (पीड़न) करुण-रस है। विप्रलम्भ में इस लक्षण की अतिव्याप्ति न होगी क्योंकि उसमें इष्ट की आशा विद्यमान रहती है; जब विप्रलम्भ में आशा का विच्छेद हो जाए तो वह भी करुण ही होगा। शोक का अभिप्राय है दुःख। इसका वर्ण कपोत के समान चित्रित है। देवता वरुण है। वह करुण-रस स्वनिष्ठ और परनिष्ठ रूप से दो प्रकार का है। अपने प्रति होने वाले शाप, बन्धन, क्लेश, अनिष्ट विभावों से युक्त करुण-रस स्वनिष्ठ है। दूसरे के प्रति होने वाले इष्टनाश, शाप, बन्धन, क्लेश आदि के दर्शन, स्मरणपरक विभावों से युक्त करुण-रस परनिष्ठ है।]

व्याख्या—जब शोक स्थायी भाव पुष्ट हो जाए तो करुण-रस की सिद्धि होती है। दूसरे शब्दों में, करुण-रस का स्थायी भाव है शोक। भरत ने भी कहा है—'अथ करुणो नाम शोकस्थायिभावप्रभवः।' भानुदत्त का दूसरा मत यह है कि आशा का विच्छेद होने पर जब सभी इन्द्रियाँ क्लेश की स्थिति में आ जाएँ तो भी करुण-रस होता है। इस सम्बन्ध में एक समस्या उठती है। इन्द्रियों के क्लेश की स्थिति तो विप्रलम्भ में भी है इसलिए इस लक्षण की विप्रलम्भ में अतिव्याप्ति हो जाती है। भानुदत्त का मत है कि नहीं, अतिव्याप्ति इसलिए नहीं होती क्योंकि इस लक्षण में आशा के विच्छेद की बात कही गई है। अर्थात् विप्रलम्भ में आशा का विच्छेद नहीं हो जाता, इष्ट की आशा बनी ही रहती है। भरत ने भी करुण-रस की उत्पत्ति 'इष्टजन-विप्रयोग' आदि से मानी है। धनञ्जय, विश्वनाथ आदि संस्कृत आचार्यों ने करुण-रस के उत्पादक विविध कारणों को संक्षिप्त करके 'इष्टनाश' और 'अनिष्टाप्ति'—इन दो सूत्रों में ही निबद्ध कर दिया है। देखिए—

१. इष्टनाशादनिष्टाप्तौ शोकात्मा करुणोऽनुतम्। (धनञ्जय–'दशरूपक', ४।८१)
२. इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत्।(विश्वनाथ–'साहित्यदर्पण', ३।२२२)

करुण-रस का वर्ण कपोत के सदृश है। यह मान्यता प्रायः सभी आचार्यों की है। मतभेद है इस रस के देवता पर। भरत के अनुसार इस रस के देवता यम हैं—'करुणो यमदेवतः'। यही मत साहित्यदर्पणकार का भी है किन्तु भानुदत्त ने इस रस का देवता वरुण को बताया है। यह रस दो प्रकार का है—स्वनिष्ठ और परनिष्ठ। जब शाप, बन्धन, क्लेश, अनिष्ट आदि अपने अर्थात् आश्रय ही से सम्बन्ध रखते हों या इस प्रकार कहें कि जब आश्रय ही

स्वयं करुण-रस का आलम्बन हो तो स्वनिष्ठ करुण होगा। जब इन सभी का सम्बन्ध अपने से पृथक् आलम्बन से हो तो परनिष्ठ करुण होगा।

स्वनिष्ठो यथा--

> **तव नाथ शरः शरासनं तव देहेन सहैव भस्मसात्।**
> **अहमस्मि ततः प्रतीयते तव नास्मीति किमुच्यतामितः ॥ ८ ॥**

[स्वनिष्ठ (करुण) का उदाहरण—

हे नाथ ! तुम्हारे धनुष और बाण भी तुम्हारे शरीर के साथ ही भस्म हो गए, परन्तु मैं अब भी जीवित हूँ। इससे प्रतीत होता है कि मैं तुम्हारी नहीं हूँ, इससे अधिक और क्या कहूँ ?]

व्याख्या—यह शिव द्वारा कामदहन किए जाने पर मृत कामदेव के प्रति उसकी पत्नी रति की उक्ति है। उसका कथन है कि जब तुम्हारा शरीर भस्म हुआ तो उसके साथ ही तुम्हारे धनुष और बाण भी भस्म हो गए—अर्थात् वे वस्तुएं तुम्हारी थीं और तुम्हें प्रिय थीं। इसलिए तुम उन्हें अपने साथ ले गए। इधर मैं जीवित हूँ जिससे मुझे लगता है कि मैं तुम्हारी प्रिया नहीं थी क्योंकि यदि ऐसा होता तो तुम मुझे भी अन्य वस्तुओं के समान अपने साथ ले गए होते। भाव यह है कि मुझे अकेला छोड़कर तुम कैसे परलोकवासी हो गए ?

परनिष्ठो यथा—

> **अनुवनमनुयान्तं बाष्पवारि त्यजन्तं**
> **मृदितकमलदामक्षाममालोच्य रामम्।**
> **दिनमपि रविरोचिस्तापमन्तः प्रसूते**
> **रजनिरपि च धत्ते तारकाबाष्पबिन्दून् ॥ ९ ॥**

[परनिष्ठ (करुण) का उदाहरण—

वन की ओर जाते हुए, अश्रु छोड़ते हुए, मुरझाई हुई कमल-माला के समान कृश राम को देखकर दिन भी मानो सूर्य के आतप के रूप में अंतस्ताप को प्रकट करता है और रात्रि भी तारकों के रूप में बाष्पबिन्दुओं (अश्रु) को धारण कर रही है।]

परिपूर्णः क्रोधो रौद्रः, सर्वेन्द्रियाणामौद्धत्यं वा। वर्णोऽस्य रक्तो दैवतं रुद्रः। यथा—

[क्रोध (स्थायी भाव) की परिपूर्णता ही रौद्र-रस है, अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों का औद्धत्य रौद्र रस है। इसका वर्ण रक्त (लाल) तथा देवता रुद्र है। उदाहरण—]

व्याख्या—स्थायी भाव क्रोध की परिपूर्णावस्था रौद्र-रस कही जाती है अर्थात् स्थायी भाव क्रोध का पूर्णतया प्रस्फुट स्वरूप रौद्र-रस है। दूसरी बात यह कही गई है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों का औद्धत्य अर्थात् सभी इन्द्रियों का उद्धत स्वरूप को ग्रहण कर लेना रौद्र है। इसका रंग लाल है और रुद्र इसके देवता हैं। इस स्थल पर यह स्मरणीय है कि रुद्र का वर्ण श्वेत माना गया है फिर भी रौद्र-रस का रंग लाल इसलिए बताया गया है कि कोपाविष्टावस्था में मनुष्य की आकृति क्षोभातिशय्य से रक्तवर्ण हो जाती है। यहाँ एक उदाहरण दिया गया है—

चण्डांशुः किं न चक्रं भुजगपतिरसौ वर्तते वा न पाशः
कुन्तः किं दन्तिदन्ता न च गिरिरशनिः किं न शस्त्रैः किमन्यैः।
भीमोऽहं दुष्टदुर्योधननिधनसमुद्दण्डबाहुप्रकाण्डः
प्रत्यावृत्तप्रकोपप्रलयहुतवहो नास्मि कस्याऽपि वश्यः॥ १०॥

[क्या सूर्य ही चक्र नहीं है? अथवा शेषनाग ही नागपाश नहीं है? क्या हाथियों के दाँत ही भाले नहीं हैं? अथवा पर्वत ही वज्र नहीं हैं? फिर अन्य शस्त्रों से क्या प्रयोजन? दुष्ट दुर्योधन के निधन के लिए गदा उठाए हुए दृढ़ बाहु वाला तथा प्रलयकाल की अग्नि के समान उग्र क्रोध वाला मैं भीम हूँ, और मुझे कोई भी पराजित नहीं कर सकता।]

टिप्पणी—'चण्डांशुः' से लेकर 'किमन्यैः' तक का भाव यह है कि दुर्योधन का विनाश करने के लिए मैं सूर्य, शेषनाग, हस्तिदन्त और पर्वतों को भी शस्त्रों के रूप में प्रयोग करके प्रलय मचा दूँगा। यहाँ स्थायी भाव क्रोध की परिपूर्णावस्था है, अतः रौद्र-रस सिद्ध है।

यथा वा—

क्रीडातुङ्गतुरङ्गटापपटलीखर्वीकृतोर्वीधर-
श्रेणीस्फूर्जितधूलिधारिणि तमस्तोमावलीढं जगत्।
बद्धस्पद्धकरीन्द्रवृन्दचरणव्याभुग्नभोगीश्वर-
व्यग्रोदग्रफणाग्ररत्नरुचिभिर्विद्योतयामो वयम्॥ ११॥

[अथवा अन्य उदाहरण—

हम, चपल और ऊँचे अश्वों के खुरों से खूँदे गए पर्वतों से उठने वाली धूलि के कारण अन्धकारमय हुए जगत् को, शेषनाग से स्पर्धा करने वाले हस्तिसमूह के चरणों के भार से नीचे को झुकाए हुए शेषनाग के व्याकुल और उग्र फण के अग्रभाग की मणि की कान्ति से प्रकाशित करते हैं।]

टिप्पणी—यह किसी योद्धा की उक्ति है।

परिपूर्ण उत्साहः सर्वेन्द्रियाणां प्रहर्षो वा वीरः। वर्णोऽस्य गौरः। दैवतं शक्रः। स च त्रिधा—युद्धवीरदानवीरदयावीरभेदात्। इयांस्तु विशेषः। स चोत्साहो युद्धवीरे प्रतापाऽध्यवसायादिप्रभवः, दानवीरे दानसामर्थ्यादिप्रभवः, दयावीर आर्द्रतादिप्रभवः।

[उत्साह (स्थायी भाव) की परिपूर्णता अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों का प्रहर्ष वीर-रस है। इसका वर्ण गौर है। देवता इन्द्र है। वह युद्धवीर, दानवीर, दयावीर के भेद से तीन प्रकार का है। इतना विशेष है कि वह उत्साह युद्ध-वीर में प्रताप से और अध्यवसाय से उत्पन्न होता है, दानवीर में दानसामर्थ्य आदि से और दयावीर में आर्द्रता से उत्पन्न होता है।]

व्याख्या—पूर्णतया परिस्फुट उत्साह अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों का प्रहर्ष या उत्फुल्लता वीर-रस है। वीर-रस का वर्ण गौर तथा देवता इन्द्र कहे गए हैं। भरत ने वीर-रस को उत्तम प्रकृति के व्यक्तियों से संबद्ध किया है। उन्होंने कहा है—'अथ वीरो नाम उत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मकः।' भानुदत्त ने वीर-रस के तीन भेद किए हैं—युद्धवीर, दानवीर और दयावीर। तीन भेद तो भरत ने भी किए थे किन्तु उन्होंने दयावीर का उल्लेख न कर धर्मवीर की स्थापना की थी—

दानवीरं धर्मवीरं युद्धवीरं तथैव च। (६।७९)

भोजराज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में 'धर्मवीर' को छोड़ दिया था और 'दया-वीर' का उल्लेख किया था। भानुदत्त ने इसी संकेत को ग्रहण किया है। साहित्यदर्पणकार ने इन तीन में धर्मवीर को भी जोड़कर चार की संख्या कर दी है।

यह तो स्पष्ट है ही कि उत्साह वीर-रस का स्थायी भाव है। अतः सभी भेदों में उत्साह समान रूप से स्थित है किन्तु पृथक्-पृथक् भेदों के अनुसार स्वयं उत्साह के कारण भिन्न-भिन्न हैं। इसी को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि युद्धवीर में जो उत्साह है वह प्रताप व अध्यवसाय से, दानवीर का उत्साह दानसामर्थ्य से और दयावीर का उत्साह दयार्द्रता के कारण उत्पन्न होता है। इस प्रकार स्वयं उत्साह के कारण विषय-भेद के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में वर्णित किए गए हैं।

युद्धवीरो यथा—

संग्रामाङ्गणमागते दशमुखे सौमित्रिणा विस्मितं
सुग्रीवेण विचिन्तितं हनुमता व्यालोलमालोकितम्।

श्रीरामेण परन्तु पीनपुलकस्फूर्जत्कपोलश्रिया
सान्द्रानन्दरसालसा निदधिरे बाणासने दृष्टयः ।। १२ ।।

[युद्धवीर का उदाहरण—

रावण के युद्धभूमि में आने पर लक्ष्मण ने आश्चर्य से, सुग्रीव ने चिंतन करते हुए और हनुमान ने चंचलता से उसे देखा। परन्तु अत्यधिक रोमांच से दीप्त कपोल की कान्ति वाले श्रीराम ने प्रवृद्ध आनन्दरस से अलसाई हुई दृष्टि धनुष पर स्थापित कर दी।]

व्याख्या—राम से युद्ध करने के लिए जब रावण युद्धभूमि पर पहुँचा तो लक्ष्मण ने विस्मय से उसे देखा अर्थात् आज मैं रावण को मारकर कृतकृत्य सिद्ध होऊँगा। इस प्रकार लक्ष्मण हर्ष से विस्मय को प्राप्त हुए। सुग्रीव रावण को देखकर चिन्तन में पड़ गया अर्थात् यह विचार करने लगा कि मैं किस प्रकार आज रावण को युद्ध में मारकर राम से उऋण होऊँ। हनुमान चंचलता से उसे देखने लगे अर्थात् इस बात के लिए व्यग्र हो गए कि कब स्वामी राम आज्ञा दें और कब मै इस दुष्ट का वध करूँ। परन्तु राम ने अपनी दृष्टि धनुष पर स्थापित कर दी थी। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि राम के कपोल की कान्ति अत्यधिक रोमांच से दीप्त हो उठी है और अलसाई हुई दृष्टि में आनन्द की धारा बह रही है।

दानवीरो यथा—

अभ्यागच्छति मंदिरं द्विजकुले खण्डाय खण्डाम्बुधिं
क्षाराब्धिं लवणाय दुग्धजलधिं दुग्धाय चेद्दास्यति ।
दुर्वारो विरहो भवेदिति भिया दीनेव दिव्यापगा
यस्यांघ्रि न जहाति विप्रवपुषे रामाय तस्मै नमः ।। १३ ।।

[दानवीर का उदाहरण—

दान लेने के निमित्त घर पर आने वाले ब्राह्मणों को यदि (परशुराम) खांड (मीठा) के लिए खण्डाम्बुधि, नमक के लिए क्षाराम्बुधि और दूध के लिए क्षीरसागर को दान कर देंगे तो हमारा विरह दुर्वार (नित्य या स्थायी) हो जाएगा; इसी भय से मानो गंगा दीन होकर जिसके चरणों को नहीं छोड़ रही है, उस ब्राह्मणवेशधारी (परशु-) राम को नमस्कार है।]

दयावीरो यथा—

दयाबीजं हरेर्नेत्रमंकुरस्तत्र भास्करः।
ततः समुत्थितावेतौ पल्लवौ रामलक्ष्मणौ ।। १४ ।।

[दयावीर का उदाहरण—

हरि का नेत्र दया का बीज है, उस बीज में अंकुर सूर्य है, उस अंकुर से राम-लक्ष्मण-रूपी पल्लव प्रकट हुए हैं ।]

भयस्य परिपोषः सर्वेन्द्रियविक्षोभो वा भयानकः । वर्णोऽस्य श्यामो दैवतं यमः । स च स्वनिष्ठः परनिष्ठश्च ।

[भय की पुष्टता अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों का विक्षोभ भयानक-रस है । इसका वर्ण श्याम है, देवता यम है । वह स्वनिष्ठ तथा परनिष्ठ (दो प्रकार का) होता है ।]

व्याख्या—भय स्थायी भाव का परिपोष अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों का विक्षोभ भयानक-रस कहा जाता है । भाव यह है कि भयोत्पादक वस्तुओं के दर्शन या श्रवण से अथवा शत्रु आदि के विद्रोहपूर्ण आचरण से जब हृदयस्थ भय स्थायी भाव की पुष्टि होती है तब भयानक-रस होता है । इसी कारण सम्पूर्ण इन्द्रियों में विक्षोभ उत्पन्न हो जाता है । भरत ने इसका रंग कृष्ण और देवता कालदेव बताया है । भानुदत्त का मन्तव्य इस सम्बन्ध में पृथक् नहीं है, केवल शब्दावली में अन्तर है । उनके अनुसार इसका रग श्याम है और देवता यम है । साहित्यदर्पणकार ने भयानक को 'स्त्रीनीचप्रकृतिः' कहकर उसे स्त्रियों और नीच प्रकृति के लोगों से सम्बद्ध किया है । इसका संकेत उन्होंने भरत से ही ग्रहण किया है जिन्होंने भय स्थायी भाव के विषय में यही बात कही थी । भानुदत्त ने इसे दो प्रकार का कहा है—स्वनिष्ठ और परनिष्ठ । स्वनिष्ठ भयानक वहाँ होता है जहाँ भय का आलम्बन स्वयं आश्रय में रहता है और परनिष्ठ भयानक वहाँ होता है जहाँ भय का आलम्बन आश्रय में वर्तमान न होकर उससे बाहर, पृथक् होता है । स्वनिष्ठ भयानक अपराधजन्य भय से उत्पन्न होता है । भाव यह है कि आश्रय स्वयं अपने द्वारा किए गए अपराध से भय खाता है ।

अपराधात्स्वनिष्ठो यथा—

गोपीक्षीरघटीविलुण्ठनविधिव्यापारवार्ताविदोः
पित्रोस्ताडनशंकया शिशुवपुर्देवः प्रकाश्य ज्वरम् ।
रोमाञ्चं रचयन्दृशौ मुकुलयन्प्रत्यंगमुत्कम्पयन्
सीत्कुर्वंस्तमसि प्रसर्पति गृहं सायं समागच्छति ।। १५ ।।

[अपराध से (भय के कारण) स्वनिष्ठ का उदाहरण—

गोपिकाओं के दुग्धपूर्ण घटों को लूटने के वृत्त को जानकर माता-पिता

से मिलने वाली ताड़ना की आशंका से बालरूप भगवान् कृष्ण ज्वर का बहाना करके, रोमांच से युक्त, नेत्रों को बन्द-सा किए हुए, अंगों को कँपाते हुए और सीत्कार करते हुए सायंकाल के समय अंधेरा होने पर घर की ओर आते हैं।]

परनिष्ठो यथा--

गंगायाः सलिले निमज्जति जटाजूटे परिभ्राम्यति
भ्रश्यत्यक्षिहुताशने फणिफणाभोगे क्वचिल्लीयते।
कुब्जीभूय हरस्य कर्णसुषिरं निर्गन्तुमुत्कण्ठते
राहोरास्यमुदीक्ष्य किं न कुरुते बालस्तुषारद्युतिः॥ १६॥

[परनिष्ठ (भयानक) का उदाहरण—

राहु के मुख को देखकर (भयभीत होते हुए) बालचन्द्र (उससे बचने के लिए) क्या-क्या नहीं करता (अर्थात् कितने ही प्रयत्न करता है, जैसे)— शंकर के सिर पर स्थित गंगाजल में डूबता है, जटाजूट में घूमता है, नेत्र की अग्नि में गिरता है, कभी सर्प के फण के घेरे में छिपता है और कभी टेढ़ा होकर शंकर के कर्ण-विवर में जाने की सोचता है।]

विकृतनिनदात्परनिष्ठो यथा--

कुर्वाणे दशभिर्मुखैर्दशमुखे नादं सुरैः कंपितं
दिङ्नागैश्चकितं हरेरपि हयैरुत्पुच्छमाधावितम्।
सुग्रीवस्तु समुच्छलज्जलनिधिव्यालोलवीचिभ्रमि-
भ्रश्यत्सेतुविशङ्कया हनुमतो वक्त्रे दृशौ सन्दधे॥ १७॥

[विकृत शब्द से होने वाले परनिष्ठ (भयानक) का उदाहरण—

रावण के द्वारा दसों मुखों से उच्च शब्द करने पर देवता काँप गए, दिङ्नाग (दिग्पाल) चकित हो गए, सूर्य के घोड़े पूँछ उठाकर भागने लगे और सुग्रीव भी उफनते हुए समुद्र की चंचल तरंगों के आवर्त से सेतु के विनाश की आशंका से हनुमान की ओर देखने लगे।]

जुगुप्सायाः परिपोषो बीभत्सः। सर्वेन्द्रियाणां संकोचो वा। वर्णोऽस्य नीलो दैवतं महाकालः। स च स्वनिष्ठः परनिष्ठश्चेति।

[परिपुष्ट जुगुप्सा (स्थायी भाव) अथवा सम्पूर्ण इन्द्रियों का संकोच बीभत्स-रस है। इसका वर्ण नील तथा देवता महाकाल है। वह भी स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेद से युक्त होता है।]

व्याख्या—बीभत्स-रस का स्थायी भाव जुगुप्सा है। इस स्थायी भाव के

पुष्ट होने पर ही बीभत्स-रस की सिद्धि होती है। वास्तव में जुगुप्सा स्थायी भाव भयानक-रस के स्थायी भाव भय का मूल प्रेरक कहा जा सकता है। इसीलिए भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में बीभत्स-रस को चार मुख्य उत्पत्ति-हेतुक रसों में स्थान दिया है। कहा गया है कि बीभत्स-रस भयानक-रस का उत्पादक है—'बीभत्साच्च भयानकः'। भानुदत्त ने एक और प्रकार से भी लक्षण प्रस्तुत किया है। उनका कहना है कि सम्पूर्ण इन्द्रियों का संकोच बीभत्स-रस है। इसे समझने के लिए हमें भरत के 'नाट्यशास्त्र' का ही आश्रय लेना होगा। बीभत्स-रस की विभाजन-व्यवस्था में भरत ने कहा है—

बीभत्सः क्षोभजः शुद्ध उद्वेगी स्यात् तृतीयकः।
विष्ठाकृमिभिरुद्वेगी क्षोभजो रुधिरादिजः॥ (६।८१)

—अर्थात् बीभत्स-रस के तीन भेद होते हैं—क्षोभज, शुद्ध और उद्वेगी। क्षोभज की उत्पत्ति रुधिरादि के देखने से मन में क्षोभ का संचार होने पर होती है और उद्वेगी विष्ठा तथा कृमि के सम्पर्क द्वारा उत्पन्न होता है। शुद्ध बीभत्स की व्याख्या इस विभाजन में प्राप्य नहीं है। सम्भवतः भरत का यह मत रहा हो कि जुगुप्सा का सामान्य भाव ही उसका उत्पादक है जिसमें कारण-रूप किसी स्थूल वस्तु की अपेक्षा नहीं रहती। ये सब कारण इन्द्रियों का संकोच करते हैं।

बीभत्स-रस के वर्ण और देवता के नामकरण में भानुदत्त ने भरत का ही अनुकरण किया है। इसका वर्ण नील है और देवता महाकाल है। स्वनिष्ठ और परनिष्ठ-भेद से बीभत्स-रस दो प्रकार का होता है।

स्वनिष्ठो यथा—

कालीकुण्डलिनीकुतूहलमिथःप्रारब्धथूथूत्कृति—
न्यञ्चद्वीचिचलद्विहायसि वलज्झल्लीनिपातस्पृशि।
बद्धस्पर्द्धविपक्षपक्षरुधिरस्रोतःस्विनीस्रोतसि
भ्रश्यत्युद्भ्रमति स्खलत्यथ रणक्रोधाकुलो भार्गवः॥ १८॥

[स्वनिष्ठ (बीभत्स) का उदाहरण—

रणभूमि में क्रोध से आकुल भार्गव विरोध करने वाले शत्रुओं के रक्त की नदी के प्रवाह में गिरते हैं भ्रमित होते हैं, लड़खड़ाते हैं। वह नदी ऐसी है मानो काली और कुण्डलिनी नामक योगिनियों के परस्पर कौतूहलवश थूकने से चंचल लहरों वाली शब्द करती हुई नदी हो जिसमें चंचल आकाश का प्रतिबिम्ब दिखाई दे रहा है।]

परनिष्ठो यथा—

छत्रं कुम्भीन्द्रकर्णैर्विरचयत नुतं चामरं व्यालपुच्छै—
र्मालां मुण्डैः प्रचण्डैः सृज गजजघनैर्मंडपं योजयस्व ।
अन्त्रैर्नीराजनायाः कलय विधिमितिप्रेतवृद्धाङ्गनाना—
मालापः कुण्डलिन्यास्तनयपरिणयारम्भजन्मा बभूव ।। १९ ।।

[परनिष्ठ (बीभत्स) का उदाहरण—

कुण्डलिनी नाम की योगिनी के पुत्र के विवाह के अवसर पर वृद्ध प्रेतांगनाओं में चर्चा होने लगी कि श्रेष्ठ हाथियों के कानों से छत्र बनाओ, अश्व-पुच्छ से चामर, प्रचण्ड मुण्डों से माला, हाथियों के जघनों से मण्डप और आँतों से आरती की योजना करो ।]

विस्मयस्य सम्यक्समृद्धिरद्भुतः, सर्वेन्द्रियाणां ताटस्थ्यं वा । वर्णोऽस्य पीतो दैवतं ब्रह्मा । स च स्वनिष्ठः परनिष्ठश्च ।

[विस्मय (स्थायी भाव) की सम्यक् समृद्धि अथवा सभी इन्द्रियों की तटस्थता अद्भुत-रस है । इसका वर्ण पीत, देवता ब्रह्मा है । वह भी स्वनिष्ठ और परनिष्ठ भेद वाला है ।]

व्याख्या—अद्भुत-रस के सम्बन्ध में भानुदत्त के इस लक्षण का मूल आशय इस प्रकार है कि जब किसी रचना में विस्मय स्थायी भाव इस प्रकार पूर्णतया प्रस्फुट हो कि सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उसमे अभिभावित होकर निश्चेष्ट बन जाएँ तब वहाँ अद्भुत-रस की निष्पत्ति होती है। इसका वर्ण पीला है और देवता ब्रह्मा है। स्वनिष्ठ और परनिष्ठ-भेद से यह भी दो प्रकार का होता है। विस्मय के सम्बन्ध में भानुदत्त ने कहा है कि किसी चमत्कार के दर्शन, स्पर्श एवं श्रवण से उत्पन्न जो अपरिपूर्ण मनोविकार है वह विस्मय कहलाता है। स्पष्ट है कि अद्भुत-रस का आधार है चमत्कार। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में किसी अलौकिक पदार्थ के गोचरीकरण से उत्पन्न चित्त के विस्तार को विस्मय कहा गया है। विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में विस्मय को चमत्कार का पर्याय बताया है। चित्त की वह चमत्कृत अवस्था जिसमें वह सामान्य की परिधि से ऊपर उठकर विस्तारलाभ करता है विस्मय कहलाएगी।

अनेक आचार्यों ने अद्भुत-रस को सभी रसों में सार-रूप से वर्तमान कहा है। भानुदत्त का मत है कि विस्मय सभी रसों में संचार करता है। विश्वनाथ के मतानुसार लोकोत्तर चमत्कार रस का प्राण है। अतः सर्वत्र, सम्पूर्ण रस-

गर्भित स्थानों में अद्भुत-रस मानना चाहिए। 'साहित्यदर्पण' में विश्वनाथ ने धर्मदत्त आलंकारिक का मत इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते ।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः ।
तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम् ॥ इति । (३।३ से आगे)

—अर्थात् चाहे कोई भी रस हो, यह तो चमत्कार ही है जो उसमें सार-रूप से प्रतीत हुआ करता है। और जबकि चमत्कार ही रस का सार है तब तो यही सिद्ध है कि सभी रसों में अद्भुत रस का ही आस्वाद प्राप्त होता है। वस्तुतः महासहृदय आचार्य नारायण ने इसीलिए तो रस को अद्भुत अथवा चमत्कारसार कहा है।

स्वनिष्ठो यथा—

लीलानिबद्धपाथोधिर्हेलाहतदशाननः ।
स रामः सीतयाश्लिष्टमात्मानं बह्वमन्यत ॥ २० ॥

[स्वनिष्ठ (अद्भुत) का उदाहरण—

जिन्होंने लीला में ही समुद्रबन्धन किया और अनायास ही दशानन का वध किया वही राम सीता से आश्लिष्ट होकर अपने को बहुत मानने लगे (अर्थात् उन्होंने स्वयं को कृतकृत्य अनुभव किया)।]

परनिष्ठो यथा—

त्यक्ता जीर्णदुकूलवद्वसुमती बद्धोऽम्बुधिर्बिन्दुव—
द्बाणाग्रेण जरत्कपोतक इव व्यापादितो रावणः ।
लंका काऽपि विभीषणाय सहसा मुद्रेव हस्तेऽर्पिता
श्रुत्वैवं रघुनन्दनस्य चरितं को वा न रोमाञ्चति ॥ २१ ॥

[परनिष्ठ (अद्भुत) का उदाहरण—

जिसने जीर्ण वस्त्र के समान पृथ्वी का त्याग कर दिया, एक बिन्दु के समान समुद्र का बन्धन कर दिया, बाण की नोक से वृद्ध कपोत के समान रावण का वध कर दिया और अलौकिक ऐश्वर्य से युक्त लंका को एक अंगूठी के समान विभीषण के हाथों में सौंप दिया, ऐसे राम के चरित्र को सुनकर किसको रोमाञ्च नहीं होता ?]

अत्युक्तिभ्रमोक्तिचित्रोक्तिविरोधाभासप्रभृतयो अद्भुता एव ।

[अत्युक्ति, भ्रमोक्ति, चित्रोक्ति, विरोधाभास आदि अद्भुत के ही अंतर्गत हैं।]

व्याख्या—भानुदत्त ने अत्युक्ति, भ्रमोक्ति, चित्रोक्ति और विरोधाभास के नाम ही दिए हैं, लक्षण नहीं दिए हैं। यह भी स्पष्ट नहीं है कि ये वास्तव में हैं क्या ? फिर भी, इन्हें हम अलंकार ही कहेंगे। अत्युक्ति और विरोधाभास तो अलंकार-रूप में सिद्ध-प्रसिद्ध हैं ही। अत्युक्ति अतिशयोक्ति वर्ग का अर्थालंकार है। शौर्य एवं औदार्य आदि के अत्यन्त मिथ्या वर्णन को अत्युक्ति कहा जाता है। वास्तव में इस अलंकार को उदात्त अथवा अतिशयोक्ति में अन्तर्भूत समझना चाहिए। अप्पय दीक्षित का 'कुवलयानन्द' में यह मत है कि जहाँ समृद्धि का वर्णन हो अथवा किसी अन्य वस्तु के अंग के रूप में श्लाघ्य चरित का वर्णन हो वहाँ उदात्त अलंकार होता है। उदाहरण के लिए—यह वही पर्वत है जिसके शिखर पर शिव और अर्जुन का युद्ध हुआ था। यहाँ श्लाघ्य चरित वाला उदाहरण है। भानुदत्त ने दोनों से संबंधित उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। उदात्त और अत्युक्ति में यह भेद है कि सम्पत्ति का अत्युक्तिमय वर्णन उदात्त होता है और शौर्यादि का अत्युक्तिमय वर्णन अत्युक्ति। स्पष्ट ही अत्युक्ति उदात्त से मूलतः पृथक् नहीं है।

विरोधाभास अर्थालंकार है और इसके मूल में विरोध काम करता है। मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' में कहा है कि विरोध न होने पर भी ऐसा वर्णन जिसमें विरोध की प्रतीति हो विरोधाभास अलंकार है—'अविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः' (सू० १६६)। भाव यह है कि विरोध होता तो नहीं है किन्तु विरोध की प्रतीति अवश्य होती है। उदाहरण के लिए—'विनापि तन्वि ! हारेण वक्षोजौ तव हारिणौ।'—अर्थात् हे सुन्दरी ! तेरे स्तन हार के बिना भी हार वाले हैं। यह विरोध है क्योंकि जब स्तनों पर हार है नहीं तो वे हार वाले कैसे हो सकते हैं। वस्तुतः यहाँ कवि का यह अभिप्राय है कि 'स्तन हार के बिना भी सुन्दर (हारिणौ) हैं।'

अब रह गए चित्रोक्ति और भ्रमोक्ति। भोज ने 'शृङ्गारप्रकाश' में चित्रोक्ति को चित्र और विचित्र—इन दो भागों में बाँटा है। भोज के अनुसार वास्तव में चित्रोक्ति भी 'वाकोवाक्य' अलंकार का एक भेद है। किन्तु भानुदत्त द्वारा प्रस्तुत किए गए उदाहरण का 'चित्रोक्ति' अलंकार से कोई संबंध नहीं है। 'चित्रोक्ति' स्पष्ट रूप में शब्दालंकार है और भानुदत्त की ऐसी कोई योजना प्राप्य नहीं है। वास्तव में चित्रोक्ति का यहाँ अर्थ है कोई सुन्दर कथन अथवा वर्णन। यह भी काव्य-भाषा का अलंकार है। 'विक्रमांकदेवचरित' में इस संबंध में एक पंक्ति इस प्रकार है—'जयति ते पंचमनादमित्र-

चित्रोक्तिसंदर्भविभूषरोशु' (१।१०) ।

भ्रमोक्ति में किसी व्यक्ति द्वारा किए गए भ्रम के कारण अन्यथा कार्य का वर्णन होता है ।

अत्युक्तिर्यथा—

भूयादेष सतां हिताय भगवान्कोलावतारो हरिः
सिन्धोः क्लेशमपास्य यस्य दशनप्रान्ते स्थिताया भुवः ।
तारा हारति वारिदस्तिलकति स्वर्वाहिनी माल्यति
क्रीडादर्पणति क्षपापतिरहर्देवश्च ताटंकति ॥ २२ ॥

[अत्युक्ति का उदाहरण—

जिसके दशन (दाँत) के अग्रभाग में स्थित समुद्र में डूबने के क्लेश को दूर करके पृथ्वी के लिए तारागण हार के समान हैं, मेघ तिलक (तिल) के समान, स्वर्गंगा माला के समान, चन्द्रमा क्रीड़ादर्पण के समान और सूर्य ताटंक (कर्णाभूषण) के समान है; वह वराहावतार को प्राप्त विष्णु सज्जनों का मंगल करें ।]

यथा वा—

दिव्यहरेर्मुखकुहरे विस्तीर्णे पर्णति व्योम ।
चूर्णति चन्द्रः क्रमुकति कनकगिरिः खदिरसारति खरांशुः ॥ २३ ॥

[और भी—

हरि (विष्णु) के दिव्य मुखकुहर में (वराहावतार के समय) आकाश ताम्बूलपत्र के समान, चन्द्रमा चूने के समान, सुमेरु पर्वत सुपारी के समान और सूर्य कत्थे के समान प्रतीत होते हैं ।]

भ्रमोक्तिर्यथा—

तीव्रैस्तिग्मरुचः करैः परिचितां सेक्तुं कपोलस्थलीं
नीराणां निकरं करेण हरता तुच्छीकृते वारिधौ ।
मैनाकं समुदीक्ष्य पंकपतितं शालूकशंकाजुषो
हेरम्बस्य पुनातु दन्तशिखरव्यापारलीलारसः ॥ २४ ॥

[भ्रमोक्ति का उदाहरण—

सूर्य की प्रखर किरणों से तप्त कपोलस्थली को शीतल करने के लिए अपनी सूँड़ से जलसमूह को हरण करते हुए जिन्होंने समुद्र को तुच्छ कर दिया है और समुद्रपंक में पड़े हुए मैनाक पर्वत को शालूक (कन्दविशेष) समझकर गणेशजी के दन्ताग्र की क्रिया का लीलारस (हमें) पवित्र करे ।]

यथा वा--

अंतःक्रोधाग्निजाग्रत्कपटनरहरिस्फारनिःश्वासवात—
व्याधूता वारिवाहाः कुलधरणिभृत सानुषु प्रस्खलन्तः ।
दिङ्नागैर्नागबुद्धया वनहरिणकुलैः शंकया शाद्वलानां
छायाभ्रान्त्या किरातैः शितिवसनधिया वीक्षिताः स्वर्वधूभिः ॥ २५ ॥

[अन्य उदाहरण—

अंतःकरण में क्रोधाग्नि से युक्त नृसिंह रूप-धारी विष्णु के तीव्र निःश्वास की वायु से उड़कर कुलाचलों (प्रमुख बड़े-बड़े पर्वत) के शिखरों पर फेंके गए बादलों को दिग्पालों ने हाथी, वनहरिणों ने शाद्वल (घास), किरातों ने छाया और स्वर्वधुओं (अप्सराओं) ने नीलवस्त्र समझा ।]

चित्रोक्तिर्यथा—

गिरिर्वमति मौक्तिकावलिमलिद्वयं स्थावरं
शरत्तुहिनदीधितिर्व्यंजनमारुतं वाञ्छति ।
धनुः स्वपिति मान्मथं शिथिलबन्धमन्धन्तमो
नमो मनसि जायते किमपि कौतुकं तन्वते ॥ २६ ॥

[चित्रोक्ति का उदाहरण—

अद्भुत कौतुक (चमत्कार) का विस्तार करने वाले उस मनसिज (कामदेव) को नमस्कार है, (जिसके चमत्कार से) गिरि (कुचयुगल) मुक्तासमूह (स्वेदबिन्दु) को उगलता है, भ्रमरयुगल (दो आँखें) निश्चेष्ट है, शरच्चन्द्र (मुख) निःश्वास से युक्त है, काम का धनुष (भौंहें) उदासीन है और गाढ़ान्धकार (श्याम केशराशि) का बन्ध शिथिल हो रहा है ।]

लाक्षणिकमखिलं चित्रोक्तिरेव ।

[लक्षणा (सारोपा, साध्यवसाना) से सभी पदों में चित्रोक्ति ही है ।]

व्याख्या—सारोपालक्षणा और साध्यवसानालक्षणा से युक्त पदों से घटित सभी वाक्यों में चित्रोक्ति होती है । सारोपालक्षणा में विषयी अर्थात् आरोप्यमाण और विषय अर्थात् आरोप का विषय दोनों का शब्दशः प्रतिपादन किया जाता है । पृथक् शब्दों द्वारा कही गई दो वस्तुओं की, एक वस्तु के स्वरूप की दूसरी वस्तु में तादात्म्यप्रतीति को आरोप समझना चाहिए । उदाहरण के लिए 'वाहीक बैल है ।' यहाँ वाहीक (गँवार) में बैल का आरोप है । वाहीक आरोप का विषय है और बैल आरोप्यमाण का । दोनों का स्पष्ट शब्द द्वारा कथन होने से यहाँ सारोपालक्षणा है ।

साध्यवसानालक्षरा में आरोप-विषय अपने बोधक पद के रूप में निर्दिष्ट नहीं रहता है क्योंकि आरोप्यमारा (जिसका आरोप किया जाए) के द्वारा वह निगीर्ण (निगला) रहा करता है। इस प्रकार साध्यवसाना में आरोप के विषय का शब्द द्वारा कथन नहीं किया जाता, केवल आरोप्यमारा के कथन से लक्ष्यार्थ व्यक्त होता है। उदाहरण के लिए किसी मूर्ख को देखकर कहा जाए कि 'बैल है'। यहाँ आरोप के विषय (मूर्ख) का कथन न किए जाने से केवल विषयी (बैल) का कथन है। अतः यह साध्यवसाना है। भानुदत्त ने चित्रोक्ति का जो उदाहरण दिया है उसमें साध्यवसानालक्षरा ही है। गिरि, भ्रमरयुगल, शरच्चन्द्र, काम का धनुष और गाढ़ान्धकार आरोप्यमारा अथवा विषयी हैं। गिरि मुक्तासमूह को नहीं उगलता। यहाँ अर्थ की सिद्धि इसीलिए नहीं हो रही क्योंकि आरोप का विषय आरोप्यमारा के द्वारा निगीर्ण है। इसी तरह अन्यों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

विरोधाभासो यथा—

कोऽप्यसौ तव मुकुन्द नन्दकोऽनन्दको भवति कंससंपदः।
कुण्डली त्वमसि कालियं कुतो दूरतो नयसि तन्निवेदय॥ २७॥

[हे मुकुन्द! यह बताओ कि तुम्हारा यह नन्दक (खड्ग) कंस की सम्पत्ति के लिए अनन्दक (विनाशक) क्यों होता है? और तुम स्वयं (कुण्डल धारण करने से) कुण्डली हो फिर (कालिय नाग) कुण्डली को क्यों दूर करते हो?]

नाट्ये च सर्वे रसा आनन्दरूपा अद्‌भुताख्यः परनिष्ठ एवेति।

[काव्य और नाटक में सभी रस आनन्दरूप हैं; अद्‌भुत नामक रस केवल परनिष्ठ ही है (अर्थात् पात्र में न होकर केवल सामाजिक में ही है।)

चित्तवृत्तिर्द्विधा—प्रवृत्तिर्निवृत्तिश्चेति। निवृत्तौ यथा शान्तरसस्तथा प्रवृत्तौ मायारस इति प्रतिभाति। एकत्र रसोत्पत्तिरपरत्र नेति वक्तुमशक्यत्वात्। न च स रतिरेव स कस्यास्तु व्यभिचारी। न शृङ्गारस्य, तद्वैरिणो बीभत्सस्यापि तत्र सत्त्वादत एव न बीभत्सस्यापि। न हास्यस्य, तद्वैरिणः करुणस्य तत्र सत्त्वादत एव न करुणस्याऽपि। न रौद्रस्य, तद्वैरिणोऽद्‌भुतस्याऽपि तत्र सत्त्वादत एव नाद्‌भुतस्याऽपि। न च वीरस्य, तद्वैरिणो भयानकस्याऽपि तत्र सत्त्वादत एव न भयानकस्याऽपि। नाऽपि शान्तस्य, तद्विरोधित्वात्। न च सामान्य एव

रसस्तद्विशेषा इतरे भवन्ति, शान्तरसस्य तर्हि रसाभावत्वापत्तेः[1]। किन्तु विद्युत इव रतिहासशोकक्रोधोत्साहभयजुगुप्साविस्मयास्तत्रोत्पद्यन्ते विलीयन्ते च। तेन तत्र ते व्यभिचारिभावा इति। लक्षणं च प्रबुद्ध-मिथ्याज्ञानवासना मायारसः। मिथ्याज्ञानमस्य स्थायिभावः। विभावाः सांसारिकभोगार्जकधर्माधर्माः। अनुभावाः पुत्रकलत्रविजयसाम्राज्यादयः। यथा—

[चित्तवृत्ति दो प्रकार की है—प्रवृत्ति और निवृत्ति। निवृत्ति में जैसे शांत-रस है उसी प्रकार प्रवृत्ति में माया-रस प्रतीत होता है। क्योंकि एक स्थान पर रसोत्पत्ति है और दूसरे स्थान पर नहीं है ऐसा नहीं कहा जा सकता। 'उसको क्यों न रतिरूप ही माना जाए' (इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि ऐसा मानने से) वह किसका व्यभिचारी होगा? शृङ्गार का नहीं हो सकता क्योंकि उसका विरोधी बीभत्स भी वहाँ विद्यमान है, इसीलिए बीभत्स का भी नहीं हो सकता। हास्य का भी नहीं क्योंकि उस का विरोधी करुण भी वहाँ विद्यमान है, इसीलिए करुण का भी नहीं हो सकता। रौद्र का भी नहीं, उसका विरोधी अद्भुत वहाँ है, इसी से अद्भुत का भी नहीं होगा। वीर का भी नहीं क्योंकि उसका विरोधी भयानक वहाँ है, भयानक का भी इसीलिए नहीं होगा। शान्त का भी नहीं क्योंकि माया-रस स्वयं ही शान्त का विरोधी है। (यहाँ एक और शंका करते हैं कि) रस तो सामान्य-रूप है, उसी के विशेष-भेद अन्य रस हैं। (इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि) यदि ऐसा मान लेंगे तो शांत-रस का अभाव हो जाएगा। इसी माया-रस में रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय विद्युत् की तरह उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। इसीलिए माया-रस में ये आठों व्यभिचारी भाव ही हैं। प्रबुद्ध मिथ्याज्ञानवासना ही माया-रस है। मिथ्याज्ञान इसका स्थायी भाव है। सांसारिक भोग के उत्पादक धर्म, अधर्म विभाव हैं। अनुभाव पुत्र, कलत्र, विजय, साम्राज्यादि हैं। उदाहरण—]

व्याख्या—माया-रस की स्थापना के लिए भानुदत्त ने चित्तवृत्तियों का आधार ग्रहण किया है। ये दो प्रकार की होती हैं—प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। प्रवृत्ति अभ्युपगमनशील होती है और निवृत्ति अपसरणशील। दूसरे

१. रसाभासत्वापत्तेः इति पाठान्तरम्।

शब्दों में प्रवृत्ति आकर्षण है और निवृत्ति विकर्षण। संसार के विविध विषयों से निवृत्ति की परिणति जिस प्रकार शांत-रस में होती है उसी प्रकार प्रवृत्ति में माया-रस होता है। शान्त-रस का स्थायी भाव निर्वेद कहा गया है जो निवृत्ति का सूचक है। कहा गया है कि—

न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः।

समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥ (रसाध्याय, शांतरस-प्रकरण)

—अर्थात् (भरत के अनुसार) जहाँ न दुःख रहता है, न सुख, न द्वेष रहता है और न ईर्ष्या रहती है, समस्त प्राणियों में समभाव वाला वह शान्त-रस प्रसिद्ध माना गया है।

वास्तव में ऐसी स्थिति तभी आती है जब संसार के रागद्वेष आदि के प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता। रागद्वेष ही सुख-दुःख आदि के मूल कारण हैं। इनकी अनुपस्थिति में सुख-दुःख की भी सत्ता नहीं रह जाती। अतः निवृत्ति शान्त-रस का कारण बनती है। ठीक इसी प्रकार प्रवृत्ति में माया-रस है। ऐसा भला कैसे कहा जा सकता है कि निवृत्ति में तो शान्त-रस-रूप रसोत्पत्ति होती है और प्रवृत्ति में रसोत्पत्ति नहीं होती। प्रवृत्ति में जिस रस की उत्पत्ति होती है वह है माया-रस। अतः माया-रस की उद्भावना में भी औचित्य ही दीखता है। इस माया-रस को हम रति-रूप नहीं मान सकते क्योंकि यदि ऐसी व्यवस्था हो जाएगी तो हम उसे किस रस का व्यभिचारी कह पाएँगे? शृङ्गार-रस का व्यभिचारी वह इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि उसका विरोधी बीभत्स वहाँ विद्यमान है। इस पद्धति में वह बीभत्स, हास्य, करुण, रौद्र, अद्भुत, वीर और भयानक रसों का भी व्यभिचारी सिद्ध नहीं होता। और माया-रस तो स्वयं ही शान्त का विरोधी है। अतः शान्त का भी वह व्यभिचारी नहीं है। यह भी नहीं कह सकते कि रस तो सामान्य-रूप है और वही माया-रस है तथा उसी के विशेष भेद अन्य आठ रस हैं। यदि ऐसा मान लेते हैं तो शान्त-रस तो समाप्त ही हो जाएगा। फिर चित्तवृत्तियों के वर्गीकरण की बात भी असिद्ध हो जाती है। इसलिए यह माया-रस एक अतिरिक्त रस ही है। रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय—ये आठों माया-रस के व्यभिचारी भाव हैं और इसमें वैसे ही उत्पन्न और विलीन होते हैं जैसे मेघसंकुल आकाश में विद्युत उत्पन्न और विलीन होती है। इस माया-रस का लक्षण क्या है? इस संबंध में कहते हैं कि प्रबुद्ध मिथ्याज्ञान वासना ही मायारस है। अर्थात् मिथ्याज्ञान की वासना जब अत्यन्त पुष्ट हो जाए तो माया-रस की उत्पत्ति

होती है। यहाँ स्पष्ट ही मिथ्याज्ञान माया-रस का स्थायी भाव है। इस रूप में यहाँ माया का अर्थ अतात्त्विक, असार या दार्शनिक दृष्टि से असत् है। साथ ही यह व्यावहारिक और दृश्य होते हुए भी मिथ्या है। वास्तव में माया तीन शक्तियों का पुंज है। वे हैं--आवरण-शक्ति, विक्षेप-शक्ति और मल-शक्ति। इनमें आवरण शक्ति के कारण वस्तु का जैसा स्वरूप रहता है वह दिखाई नहीं देता और उस पर अज्ञान का पर्दा पड़ जाता है। विक्षेप-शक्ति से वस्तु के स्थान पर दूसरी वस्तु दिखाई पड़ती है और मल-शक्ति के कारण मनुष्य उस दूसरी वस्तु का उपयोग करने लग जाता है। यही मिथ्याज्ञान है। माया-रस के विभाव हैं सांसारिक भोगों को उत्पन्न करने वाले धर्म-अधर्म और पुत्र, कलत्र, विजय, साम्राज्य आदि अनुभाव हैं। यहाँ एक उदाहरण देते हैं--

वाटी लाटीदृगम्भोरुहरभसकरी वापिका काऽपि कान्ता
तल्पं चन्द्राऽनुकल्पं प्रकटयति मिथः कामिनी कामनीतिम्।
रूपं कामाऽनुरूपं मणिमयभवनं बन्धुरं बन्धुरागो
लोके लोकेश कस्य त्वमसि न भवने सर्वदा सर्वदाता ॥ २८ ॥

[हे लोकेश ! इस लोक में तुम सदा किसको सब कुछ नहीं दे देते हो ? लाट देश की स्त्री के कमल के सदृश चंचल नेत्रों के समान उन्माद करने वाली वाटिका है अत्यन्त सुन्दर वापी है, चन्द्रमा के सदृश शय्या कामिनियों की परस्पर कामनीति को प्रकट करती है, कामदेव के सदृश रूप है, मणिमय सुन्दर भवन है और बन्धुओं के प्रति अनुराग है।]

टिप्पणी—भाव यह है कि अनायास ही वह लोकेश सब-कुछ प्रदान कर देता है। यहाँ यथोक्त विभाव स्पष्ट ही हैं। कलत्र, साम्राज्य, वैभव आदि अनुभाव हैं।

नाट्यभिन्ने परं निर्वेदस्थायिभावकः शान्तोऽपि नवमो रसो भवति।

[नाटक से भिन्न स्थलों में निर्वेद स्थायी भाव वाला शान्त नामक नवम रस भी होता है।]

व्याख्या--शान्त-रस नवम रस है और इसका स्थायी भाव है निर्वेद। नाटक में इसकी सिद्धि नहीं होती अपितु काव्य में होती है। शान्त-रस के स्थायी भाव के संबंध में जो मतभेद है पहले उस पर ही विचार करें। 'नाट्य-शास्त्र' की कुछ प्रतियों में शान्त-रस से संबंधित जो विवेचन प्राप्य है उसके अनुसार शान्त-रस का स्थायी भाव है शम—

अथ शान्तो नाम शमस्थायिभावात्मको मोक्षप्रवर्तकः।

—अर्थात् 'शम स्थायी भाव-स्वरूप और मोक्ष का सम्पादक शान्त-रस होता है।' अभिनवगुप्त ने तत्त्वज्ञान से उत्पन्न निर्वेद को शान्त का स्थायी भाव कहा है—

तत्त्वज्ञानजश्च निर्वेदः स्थाय्यन्तरोपमर्दकः। भाववैचित्र्यसहिष्णुभ्यो रत्यादिभ्यो यः परमःस्थायिशीलः स एव हि स्थाय्यन्तराणामुपमर्दकः। (अभिनव-भारती, बड़ौदा, पृष्ठ ३३३)।

—अर्थात् 'और तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद (केवल स्थायी भाव ही नहीं है अपितु वह रत्यादिरूप) अन्य स्थायी भावों का मर्दन करने वाला भी है। व्यभिचारी भावों के वैचित्र्य को सहन करने वाले रति आदि से भी जो अधिक स्थायी स्वभाव वाला है वही (निर्वेद) अन्य स्थायी भावों का विमर्दक होता है। (इसलिए तत्त्वज्ञान-जन्य निर्वेद ही शान्त-रस का स्थायी भाव है यह सिद्ध हुआ)।' —आचार्य विश्वेश्वर की व्याख्या।

मम्मट ने सीधे ही निर्वेद को शान्त-रस का स्थायी भाव कह दिया है—

निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः। (सूत्र ४७)

रुद्रट ने 'काव्यालंकार' (१५।१५) में सम्यक्-ज्ञान (सम्यग्ज्ञानप्रकृति शान्तो) और आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में तृष्णाक्षयसुख (शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव) को शान्त का स्थायी भाव कहा। किन्तु विवेचन 'शम' और 'निर्वेद' को लेकर ही होता रहा और अन्य धारणाओं को मान्यता प्राप्त नहीं हुई। विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' में विस्तार से इस संबंध में विवेचन किया—

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः॥
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः।
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या॥
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते।
पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः॥
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
रोमाञ्चाद्यानुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः॥
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः। (३/२४५-२४६)

—अर्थात् 'शान्त वह रस है जो शम स्थायी भाव का आस्वाद हुआ करता है। इसके आश्रय उत्तम प्रकृति के व्यक्ति हैं। इसका वर्ण कुन्द-श्वेत अथवा चन्द्र-श्वेत है। इसके देवता श्री नारायण हैं। अनित्यता किंवा दुःखमयता आदि के

कारण समस्त सांसारिक विषयों की निःसारता का ज्ञान अथवा साक्षात् परमात्म-स्वरूप का ज्ञान ही इसका आलंबन-विभाव है। इसके उद्दीपन हैं पवित्र आश्रम, भगवान् की लीलाभूमियाँ, तीर्थस्थान, रम्य कानन, साधु-संतों का संग आदि। रोमांच आदि इसके विभाव हैं और व्यभिचारी भाव हैं निर्वेद, हर्ष, स्मृति, मति, जीवदया आदि।'

एक प्रश्न का समाधान शेष रह गया है। शम और निर्वेद में क्या अन्तर है? विश्वनाथ ने निःस्पृहता की अवस्था में आत्मा के विश्राम से उत्पन्न सुख को शम कहा है—

शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम्। (३।१८०)

वास्तव में यहाँ आत्मा के विश्राम से तात्पर्य भोगादि की निवृत्ति से ही है। निर्वेद के संबंध में पंडितराज जगन्नाथ का मत है कि जिसकी (वेदान्त आदि के द्वारा) नित्य और अनित्य वस्तुओं के विचार से उत्पत्ति है और जिसका नाम विषयों से विरक्ति है उसे निर्वेद कहते हैं—

नित्यानित्यवस्तुविचारजन्मा विषयविरागाख्यो निर्वेदः।

कहा जा सकता है कि शम निर्वेद (विरक्ति) की ही प्रसूति है और व्यावहारिक दृष्टि से इनमें कोई भेद नहीं है।

अब यह प्रश्न उठता है कि नाटक में शान्त-रस की सिद्धि क्यों नहीं होती? भानुदत्त का ही यह मत नहीं है। उनसे पूर्व धनंजय भी यह कह चुके थे—

शममपि केचित्प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।

अनेक विद्वानों का यह मत है कि शान्त भावशून्य स्थिति का बोधक है और इसीलिए उसकी अभिनेयता असिद्ध हो जाती है। 'नाट्यशास्त्र' में शान्त-रस से संबधित जो विवेचन प्राप्त होता है उसे प्रक्षिप्त भी कहा गया है। अनेक प्रतियों में यह स्थल प्राप्य नहीं है। प्रायः यह आरोप लगाया गया है कि शान्त-रस का अभिनय में समावेश इसलिए नहीं किया जा सकता क्योंकि किसी प्रकार का व्यापार, चेष्टा आदि न करना ही 'शम' कहलाता है और चेष्टा के अभाव का अभिनय असंभव है। 'अभिनवभारती', 'रसगंगाधर' आदि ग्रन्थों में इस आक्षेप का समाधान करने का प्रयत्न हुआ है तथापि नाटकों में शान्त-रस को स्वीकृति नहीं मिली। भरत के अनुसार लोक का स्वभाव सुख-दुःखमय है और इसी का अनुकरण नाटक में होता है। शान्त-रस में सुख-दुःख की स्थिति नहीं है। वह जागतिक अनुभवों से परे है। इसलिए जिसमें न दुःख है, न सुख, न चिन्ता है न रागद्वेष हैं और न जिसमें कोई इच्छा ही शेष है

वह रस नाटक के किस काम का ? काव्य में अवश्य शान्त-रस को स्वीकृति प्राप्त हुई। रसगंगाधरकार भी आखिर में यही कहकर रह गए—

यैरपि नाट्ये शान्तो रसोनास्तीत्यभ्युपगम्यते, तैरपि बाधकाभावान्महाभारतादिप्रबन्धानां शान्तरसप्रधानताया अखिललोकानुभवसिद्धत्वाच्च काव्ये सोऽवश्यं स्वीकार्यः।

—अर्थात् जो लोग नाटकों में शान्त-रस नहीं मानते हैं उन्हें भी काव्यों में उसको अवश्य मानना चाहिए क्योंकि उनके मत से भी वहाँ उसको मानने में किसी तरह की बाधा नहीं है और 'महाभारत आदि ग्रन्थों में शान्त-रस ही प्रधान हैं' यह बात सब लोगों के अनुभव से सिद्ध है।

निर्वेदस्य परिपोषः शांतो रसः, दोषप्रशमो वा। दोषाः कामक्रोधादयः। अस्य विषयदोषविचारविरक्त्यादयो विभावाः। अनुभावा आनन्दाश्रुपुलकहर्षगद्गदवचनादयः। यथा—

[निर्वेद (स्थायी भाव) का परिपुष्ट रूप शान्त-रस है अथवा दोषों की शान्ति शान्त-रस है। दोष का अभिप्राय है काम-क्रोधादि। विषयों में दोष मानना तथा विरक्ति आदि इसके विभाव हैं। अनुभाव हैं आनन्दाश्रु, पुलक, हर्ष, गद्गदवचन आदि। उदाहरण—]

व्याख्या—अभिनवगुप्त, मम्मट की परम्परा में भानुदत्त ने शान्त-रस का स्थायी भाव निर्वेद कहा है। इससे पृथक् वे कहते हैं कि दोषों की शान्ति भी शान्त-रस है। दोष से क्या आशय है, इसे स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि काम-क्रोधादि दोष हैं। तात्त्विक रूप में काम-क्रोधादि रागद्वेष के ही पर्याय हैं। इनकी निवृत्ति आवश्यक है। 'शान्ति' शब्द से भी सन्तुष्टि का आश्रय नहीं ग्रहण करना चाहिए क्योंकि सन्तुष्टि की सीमा नहीं है और अशक्तता आदि को ही सन्तुष्टि के रूप में ग्रहण कर लिया जाता है। जीवन और जगत् के विविध विषयों के प्रति आकर्षण-बुद्धि का मूलोच्छेदन आवश्यक है। इसीलिए विषयों में दोष मानना, विरक्ति आदि इसके विभाव हैं। परम सत्ता ईश्वर के भजन-स्मरण आदि से प्रस्फुट आनन्दाश्रु आदि अनुभाव हैं। यहाँ एक उदाहरण दिया है—

हेयं हर्म्यमिदं निकुञ्जभवनं श्रेयः प्रदेयं धनं
पेयं तीर्थपयो हरेर्भगवतो गेयं पदाम्भोरुहम्।
नेयं जन्म चिराय दर्भशयने धर्मे निधेयं मनः
स्थेयं तत्र सितासितस्य सविधे ध्येयं पुराणं महः॥ २६॥

[यह भवन त्याज्य है, निकुंज का निवास श्रेष्ठ है, धन दान करने योग्य है, तीर्थजल पीने योग्य है, भगवान् हरि के चरणकमलों की स्तुति करनी उचित है, कुश की शय्या पर चिरकाल तक जीवन बिताना उपयुक्त है, धर्म में मन को स्थिर करना चाहिए और गंगा-यमुना के संगम पर रहकर पुराण-पुरुष का ध्यान करना चाहिए ।]

व्याख्या—विविध भौतिक सम्पत्तियों से युक्त जो गृह है वह अस्थिर है। इसलिए उसका परित्याग कर देना चाहिए। अतः यहाँ विषय में दोष मानने से विभाव है। निकुंज का निवास करना चाहिए। यहाँ औदासीन्य-रूप अनुभाव है। धन को परहित दान में देना चाहिए क्योंकि यह रागद्वेष का हेतु है और इसीलिये अनुपादेय है। तीर्थों की नदियों के जल का पान करना चाहिए अर्थात् तीर्थों में रहकर ईश्वर का स्मरण करते रहना चाहिए। यहाँ विरक्ति अथवा क्रियाहानि आदि विभाव हैं। समग्र ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन गुणों से युक्त हरि के चरणारविन्दों की स्तुति करनी चाहिए। यहाँ मति-रूप व्यभिचारी भाव सिद्ध है। कुश की बनी हुई शय्या पर चिरकाल तक जीवन बिताना चाहिए और गंगा-यमुना के संगम अर्थात् प्रयाग में निवास करना चाहिए। इनमें तपस्वी अथवा तपोवनदर्शन आदि उद्दीपन स्पष्ट हैं। मन को धर्म में स्थापित करना चाहिए। इस कथन में वेदान्तश्रवण आदि उद्दीपन हैं। पुराणपुरुष अर्थात् आत्मचैतन्य ध्यान करने योग्य है। यहाँ नासाग्रदृष्टिरूप अनुभाव संकेतित है।

यथा वा—

वेदस्याध्ययनं कृतं परिचितं शास्त्रं पुराणं श्रुतं
सर्वं व्यर्थमिदं पदं न कमलाकान्तस्य चेत्कीर्तितम् ।
उत्खातं सदृशीकृतं विरचितः सेकोऽम्भसा भूयसा
सर्वं निष्फलमालवालवलये क्षिप्तं न बीजं यदि ॥ ३० ॥

[अन्य उदाहरण—

यदि भगवान् विष्णु के चरणों का कीर्तन नहीं किया तो वेदों का अध्ययन, शास्त्र-ज्ञान और पुराणों का श्रवण उसी प्रकार व्यर्थ है जैसे कि मिट्टी को खोदने, समतल करने और जल से सींचने के बाद भी उस क्यारी में बीज न डाला जाए।]

व्याख्या—भूमि को खोदने, उसे समतल करने और जल से उसे सींचने

का प्रयोजन यही होता है कि उसमें बीज डाला जाए और अन्न प्राप्त किया जाए। प्रधान उद्देश्य यही है। इसी की सिद्धि के लिए इतने कार्य किए जाते हैं। ठीक ऐसे ही प्रधान उद्देश्य है भगवान् के चरणों की स्तुति। वेदों का अध्ययन, विभिन्न शास्त्रों का ज्ञान और पुराणों का श्रवण इसीलिए किया जाता है कि उस ईश्वर को प्राप्त करने के लिए उसका स्मरण, कीर्तन करें। यदि यही प्रधान उद्देश्य छूट गया तो इतने उपक्रम का क्या लाभ है? यहाँ विरक्ति आलंबन-विभाव है, वेदाध्ययनादि उद्दीपन-विभाव हैं, कीर्तन अनुभाव है।

इति श्रीभानुदत्तविरचितायां रसतरंगिण्यां रसनिरूपणं नाम सप्तमस्तरंगः।

[भानुदत्त-विरचित 'रसतरंगिणी' की रसनिरूपण नामक सप्तम तरंग समाप्त हुई।]

अष्टमस्तरङ्गः

स्थायिभावजा दृष्टिरष्टधा। स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भीता, जुगुप्सिता, विस्मिता चेति। व्यभिचारिभावजा दृष्टिर्विंशतिधा—शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जिता, शंकिता, मुकुलाऽर्द्धमुकुला, ग्लाना, जिह्मा, कुञ्चिता, वितर्किता, अभितप्ता, विषण्णा, ललिता, केकरा, विकोशा, विभ्रान्ता, विप्लुता, त्रस्ता, मदिरा चेति। रसभेदादष्टधा रस दृष्टिः—कान्ता, हास्या, करुणा, रौद्रा, वीरा, भयानका, बीभत्सा, अद्भुता चेतिषट्त्रिंशद्भेदा दृष्टयः। कुणिता, विकसिताऽर्द्धविकसिता, चकिता, सुप्ता, घूर्णिताऽलसा, विवर्तिताऽर्द्धविवर्तिता, पर्यस्ता, शून्या, स्तिमिता चेत्यादयो दृष्टिभेदा ऊहनीयाः।

[स्थायी भावों से उत्पन्न दृष्टि आठ प्रकार की है—स्निग्धा, हृष्टा, दीना, क्रुद्धा, दृप्ता, भीता, जुगुप्सिता और विस्मिता। व्यभिचारी भावों से उत्पन्न दृष्टि बीस प्रकार की है—शून्या, मलिना, श्रान्ता, लज्जिता, शंकिता, मुकुला, अर्द्धमुकुला, ग्लाना, जिह्मा, कुञ्चिता, वितर्किता, अभितप्ता, विषण्णा, ललिता, केकरा, विकोशा, विभ्रान्ता, विप्लुता, त्रस्ता और मदिरा। रस के आधार से रसदृष्टि आठ प्रकार की है—कान्ता, हास्या, करुणा, रौद्रा, वीरा, भयानका, बीभत्सा अद्भुता। इस प्रकार दृष्टियों के छत्तीस भेद हैं। इनके साथ ही कुणिता विकसिता, अर्द्धविकसिता, चकिता, सुप्ता, घूर्णिता, अलसा, विवर्तिता, अर्द्धविवर्तिता, पर्यस्ता, शून्या और स्तिमिता आदि भी दृष्टिभेद समझने चाहिए।]

व्याख्या—अभिनय का एक प्रकार है आंगिक। जिस अभिनय में अङ्ग प्रयोजन हों उसे आंगिक अभिनय की संज्ञा से अभिहित किया जाता है। भावों की अभिव्यक्ति में नेत्रों का सर्वाधिक महत्त्व है क्योंकि इनके संकोचनादि से अनेकानेक भाव व्यंजित होते हैं। छत्तीस प्रकार की दृष्टियों के जो नामकरण यहाँ प्रस्तुत किए गए हैं वे 'नाट्यशास्त्र' में ही प्राप्त हो जाते हैं। भानुदत्त ने इन दृष्टियों का तीन खण्डों में जो विभाजन किया है वह भी भरत के अनुसार है। 'नाट्यशास्त्र' के अतिरिक्त 'नाट्यदर्पण', 'भावप्रकाशन' आदि ग्रन्थों

में इनका विवेचन है। भानुदत्त ने अपने इस ग्रन्थ में दृष्टियों के नाम ही गिनाए हैं, उनके उदाहरण नहीं दिए। केवल ललिता और ग्लाना—इन दो दृष्टियों का विवेचन कर वे इस विषय की समाप्ति कर देते हैं। विषय के स्पष्टीकरण के लिए यहाँ इनका विवेचन किया जाता है—

स्निग्धा दृष्टि में पुतलियाँ स्थिर रहती हैं, पलकों का विस्तार मध्यम रहता है और नेत्रों में आनन्द के अश्रु रहते हैं। रति स्थायी भाव में इसका अभिनय होता है। हास स्थायी भाव की हृष्टा दृष्टि में चांचल्य रहता है और पुतलियाँ अर्द्धोन्मीलित रहती हैं। शोक स्थायी भाव की दीना दृष्टि में पुतलियाँ आँसुओं से भरी रहती हैं, नीचे की पलकें और भी अधिक झुक जाती हैं और उसमें संचार की गति बहुत ही मन्द रहती है। क्रुद्धा दृष्टि में भौंहें कमान की भाँति वक्र हो जाती हैं, पुतलियाँ ऊपर की ओर उठकर गतिहीन हो जाती हैं, नेत्रतारक स्तब्ध हो जाते हैं। यह दृष्टि क्रोध स्थायी भाव की व्यंजना करने के लिए प्रयुक्त होती है। दृप्ता दृष्टि में पुतलियाँ स्थिर हो जाती हैं। उत्साह स्थायी भाव में इसका अभिनय होता है। भीता अथवा भयान्विता दृष्टि में दोनों पलकें फैल जाती हैं, पुतलियों में चांचल्य आ जाता है जिससे वे केन्द्र में स्थित नहीं रह पातीं। भय स्थायी भाव की इससे व्यंजना होती है। जुगुप्सिता दृष्टि में पलकें संकुचित होते हुए भी पूर्णतः बन्द नहीं होतीं। उन विषयों पर जिनसे जुगुप्सा उत्पन्न होती है दृष्टि ठहर नहीं पाती। विस्मिता दृष्टि में पुतलियाँ पूर्णतः ऊपर उठी रहती हैं तथा पलकें स्थिर रहती हैं। विस्मय स्थायी भाव की इससे व्यंजना होती है।

अब व्यभिचारी भावों से संबधित दृष्टियों को लें। शून्य की ओर आकृष्ट रहने वाली दृष्टि शून्या कही जाती है। इसमें पुतलियाँ व पलकें समस्थिति में रहा करती हैं। आस-पास की वस्तुओं पर यह दृष्टि केन्द्रित नहीं होती है। मलिना दृष्टि में नेत्रकोण मलिन रहते हैं, पलकें लगभग आधी ढकी रहती हैं। श्रान्ता दृष्टि में पुतलियाँ झुकी रहती हैं, नेत्र तिरछे रहते हैं तथा पलकें गिरी रहती हैं। लज्जिता अथवा लज्जान्विता दृष्टि में लज्जा के कारण नेत्रतारक झुक जाते हैं, ऊपर की पलकें भी झुक जाती हैं। ग्लाना दृष्टि में भौंहें, पलकें तथा बरौनियाँ म्लान रहती हैं और थकान के कारण नेत्रतारक पलकों से ढके रहते हैं। शंकिता दृष्टि में पुतलियाँ चकित रहती हैं। मुकुला दृष्टि में सुख के कारण पुतलियाँ उन्मीलित रहती हैं तथा ऊर्ध्वभाग की पलकें मुकुल पुष्प के

समान झुकी हुई लगती हैं। अर्द्धमुकुला दृष्टि में पलकें प्रसन्नता के कारण अर्द्धमुकुलित रहती हैं तथा पुतलियों में कुछ चांचल्य होता है। जिह्मा दृष्टि में नेत्रतारक छिपे से रहते हैं तथा पलकें झुकी रहती हैं। कुंचिता दृष्टि में पुतलियाँ तथा पलकें संकुचित रहती हैं। वितर्किता दृष्टि में पलकें तर्कना के कारण ऊपर उठी रहती हैं एवं पुतलियाँ उत्फुल्ल रहती हैं। अभितप्ता में पलकों के परिचालित होते रहने के कारण पुतलियों का संचार मन्दगति से होता है और इससे व्यथा एवं सन्ताप की अभिव्यक्ति होती है। विषण्णा में पलकें दुःख के कारण फैलकर अलग हो जाती हैं जिससे उन्हें झपकते भी नहीं हैं और पुतलियाँ कुछ निस्तब्ध हो जाती हैं। काम-भावना के चिह्नों को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने के लिए ललिता दृष्टि का अभिनय होता है। इसमें भ्रू-संचालन विशेष होता है। केकरा अथवा आकेकरा दृष्टि में नेत्र आधे खुले रहते हैं तथा आधे बन्द रहते हैं, पलकें तथा अपांग कुछ संकुचित तथा मुकुलित रहते हैं। विकोशा दृष्टि में हर्ष के कारण दोनों पलकें पूर्णरूपेण विस्फारित रहती हैं, उन्हें झपका नहीं जाता तथा नेत्र-तारक चंचल रहते हैं। विभ्रान्ता में पलकें तथा पुतलियाँ अस्थिर होती हैं। नेत्रों का मध्य भाग विस्फारित हो जाता है। जिस दृष्टि में पलकें पहले कंपित होती हैं और फिर स्तब्ध हो जाती हैं तथा नेत्रतारकों में अव्यवस्था रहती है उसे विप्लुता दृष्टि कहा जाता है। त्रस्ता दृष्टि में भय के कारण पलकें ऊपर उठ जाती हैं, नेत्रतारक कम्पित होने लग जाते हैं। मदिरा में नेत्रों का मध्य भाग घूर्णन करता रहता है, अन्तभाग क्लान्त होता है, नेत्र नीचे की ओर झुक जाते हैं तथा उपांग विकसित होते हैं। हलके मद की स्थिति में इस दृष्टि का अभिनय किया जाता है।

इन दृष्टियों में शून्या दृष्टि का चिन्ता और स्तम्भ में, मलिना का निवद और वैवर्ण्य में, श्रान्ता का श्रम और स्वेद में, लज्जिता का लज्जा में, शंकिता का शंका में, मुकुला का निद्रा, स्वप्न आदि में, अर्द्धमुकुला का गन्ध व स्पर्श से उत्पन्न आह्लाद में, ग्लाना का अपस्मार, व्याधि आदि में, जिह्मा का असूया, जड़ता और आलस्य में, कुंचिता का असूया, अक्षिव्यथा आदि में, वितर्किता का स्मृति और तर्क में, अभितप्ता का निर्वेद, अभिघात आदि में, विषण्णा का विषाद में, ललिता का धृति और हर्ष में, आकेकरा अथवा केकरा का दूराव-लोकन, वियोग आदि में, विकोशा का विबोध, अमर्ष, गर्व, उग्रता और मति में, विभ्रान्ता का सम्भ्रम, विभ्रम आदि में, विप्लुता का चपलता, उन्माद, मरण

आदि में, त्रस्ता का त्रास में और मदिरा का मद में अभिनय किया जाता है।

रसदृष्टियों में कान्ता वह दृष्टिनिक्षेप है जिसमें प्रेमभाव से भौंहों को कुंचित कर वक्र दृष्टिकोण स्थापित किया जाए। यह दृष्टि हर्ष और प्रसाद से उत्पन्न होती है तथा शृङ्गार-रस में इसका अभिनय होता है। हास्या दृष्टि में क्रमशः दोनों पलकें कुंचित हो जाती हैं एवं उनमें से विभ्रान्त पुतलियाँ झलकती रहती हैं। कुहकाभिनय में इसका प्रयोग होता है। करुणा दृष्टि में ऊपर की पलकें नीचे झुकी रहती हैं, नेत्रतारक स्थिर होते हैं, दृष्टि नासाग्रभाग पर जम जाती है और नेत्रों से अश्रुजल प्रवाहित होता है।

रौद्रा दृष्टि में नेत्रतारक क्रूर, रुक्ष, अरुण एवं उद्धत लगते हैं, पलकें निस्तब्ध रहती हैं, भौंहें वक्र हो जाती हैं। इसका अभिनय रौद्र-रस में होता है। वीरा दृष्टि में पुतलियाँ मध्य में स्थिर हो जाती हैं। इस दृष्टि को दीप्त, विकसित, गम्भीर आदि बताया गया है। वीर-रस में इसका अभिनय होता है। भयानका दृष्टि में पलकें ऊपर उठकर स्थिर हो जाती हैं, नेत्रतारक चमक उठते हैं और इससे अत्यधिक भय को व्यक्त किया जाता है। भयानक-रस में इसका अभिनय किया जाता है। बीभत्सा दृष्टि में नेत्रों के कोने पलकों से ढक जाते हैं, पुतलियाँ उद्वेलित रहती हैं तथा भौंहें परस्पर जुड़ी हुई व स्थिर होती हैं। अद्‌भुता दष्टि में भौंहें अन्त के भागों पर कुछ टेढ़ी हो जाती हैं, पुतलियाँ आश्चर्य के कारण विस्फारित हो जाती हैं तथा आँखें फैल जाती हैं।

भानुदत्त ने कुणिता, विकसिता, अर्द्धविकसिता, चकिता, सुप्ता, घूर्णिता, अलसा, विवर्तिता, अर्द्धविवर्तिता, पर्यस्ता, शून्या और स्तिमिता आदि दृष्टियों को उपर्युक्त दृष्टियों में ही परिगणित किया है। यहाँ एक प्रश्न उठता है—स्थायी भावों की संख्या आठ है। इसलिए उससे संबंधित दृष्टियाँ भी आठ ही हैं। इसी प्रकार रसों और उनकी दृष्टियों में भी संख्या का विरोध नहीं है। फिर तैंतीस व्यभिचारी भावों के लिए बीस दृष्टियाँ ही क्यों? वास्तव में यहाँ जो दृष्टियाँ प्रतिपादित की गई हैं उनमें अनेक ऐसी हैं जो कई व्यभिचारी भावों के लिए प्रयुक्त होती हैं। इसके लिए ऊपर के विवेचन को फिर से देखा जा सकता है।

तत्र ललिता यथा—

मनसिजनृपतिर्वा मण्डनं वा मदो वा
शशिमुखि भवनं वा यौवनं वा वयं वा।

अखिलमपि कृतार्थं वीचिविक्षेपखेल-
त्कमलविजयलीलाशालिना लोचनेन ॥ १ ॥

[ललिता (दृष्टि) का उदाहरण—

हे चन्द्रमुखी ! लहरों के हिलने से चंचल कमल को विजय करने वाली शोभा से युक्त तेरे नेत्रों से कामदेव, अलंकरण, मद, भवन, यौवन और हम सब भी कृतार्थ हो गए हैं।]

ग्लाना यथा—

पर्यस्तालकरोचिषः श्रमजुषः प्रस्पन्दगण्डत्विषः
शम्भौ शीकरशीतलेन शशिना वातं समातन्वति ।
जीयास्तामचलाऽधिराजदुहितुर्निःस्पन्दनीलोत्पल-
च्छायानिद्रितचञ्चरीकमिथुनस्पर्द्धासमृद्धे दृशौ ॥ २ ॥

[ग्लाना (दृष्टि) का उदाहरण—

शंकर के द्वारा जलकणों से शीतल शशि (चन्द्राकार व्यजन) से हवा किए जाने पर बिखरे अलकों से शोभित, श्रमयुक्त और प्रकम्पमान कपोल की कान्ति वाली हिमालय की पुत्री पार्वती की, निश्चल नीलोत्पल की छाया में विश्राम करते हुए भ्रमरयुगल से स्पर्द्धा करने वाली सुन्दर दृष्टि सर्वोत्कृष्ट रूप से स्थिर रहे।]

एवमन्या अप्युदाहरणीयाः। अथ रसानां जन्यजनकभावः। तत्र भरतः—

[इसी प्रकार अन्यों के भी उदाहरण समझने चाहिए। अब रसों के जन्यजनक भाव (कार्यकारण भाव) को स्पष्ट करते हैं। भरत के अनुसार–)

शृङ्गारात्तु भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो मतः ।
वीरात्स्यादद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः ॥ ३ ॥

[शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है।]

व्याख्या—रसों की संख्या आठ है—शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत। भानुदत्त ने भरत का जो यह श्लोक ऊपर उद्धृत किया है उसके अनुसार स्पष्ट है कि इनमें सभी रसों का समान महत्त्व नहीं है। जनक और जन्य में कुछ भेद होता ही है। यहाँ कहा गया है कि शृङ्गार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और बीभत्स से भयानक की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार इनमें शृङ्गार, रौद्र, वीर और बीभत्स—ये चार उत्पत्ति-

हेतुक रस हैं। ये चार ही प्रधान रस हैं और इन्हीं से अन्य रसों की उत्पत्ति बताई गई है—

तेषामुत्पत्तिहेतवश्चत्वारो रसाः। तद्यथा शृङ्गारो रौद्रो वीरो बीभत्स इति।

अतः हास्य, करुण, अद्‌भुत और भयानक उपरसों की कोटि में आते हैं। किन्तु व्यवहार में यह सिद्धान्त अपनाया नहीं गया है। उदाहरण के लिए करुण को ही लीजिए। 'उत्तररामचरित' में भवभूति ने करुण-रस की महत्ता और व्याप्ति का उद्‌घोष करते हुए कहा—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदा—
द्भिन्नः पृथक्पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्‌बुदतरङ्गमयान्विकारा—
नम्भो यथा, सलिलमेव हि तत्समस्तम्॥

—अर्थात् एक करुण-रस ही निमित्तभेद से भिन्न होता हुआ पृथक्-पृथक् शृंगार आदि परिणामों को आश्रय करता है, ऐसा मालूम पड़ता है; जैसे एक जल ही भँवर, बुद्‌बुद और तरङ्ग-रूप विकारों का आश्रय करता है; वह वास्तविक में जल ही है।

इसी प्रकार शृंगार, शान्त आदि रसों को भी मूल रसों के रूप में ग्रहण किया गया है।

अयमुत्सर्गः, परेषामपि रसानां कार्यकारणभावदर्शनात्।

[यह सामान्य विधि का संकेत है। अन्यों ने भी रसों के कार्यकारण भाव दिखाए हैं।]

पूर्वग्रन्थकारसम्मतिरपि—

कथासंग्रहयोगाच्च विवक्षावशतः कवेः।
अन्योऽन्यं जन्यजनका रसभावा भवन्त्यमी॥ ४॥

[प्राचीन ग्रन्थकारों की सम्मति देते हैं—

कथा-संदर्भ के योग से तथा कवि की विवक्षा के कारण ये रसों के भाव (स्थायी भाव) परस्पर जन्यजनक होते हैं।]

यथा—

मातुर्दृष्ट्वा दृगम्भोरुहयुगलगलद्बाष्पधारामुदारां
तातस्य प्रेक्ष्य वक्षःस्थलरुधिरचयं क्रुध्यता भार्गवेण।
हस्ते न्यस्तः सहस्रार्जुनदमनसमारम्भगम्भीरवीर्य-
स्फूर्जद्दोर्वल्लिहल्लीसकसकलकलासूत्रधारः कुठारः॥ ५॥

अत्र वीरम्प्रति करुणबीभत्सयोः कारणता ।

[उदाहरण—

क्रुद्ध होते हुए भार्गव ने माता के नेत्ररूपी कमलयुगल से अत्यधिक बहती हुई अश्रुधारा को देखकर तथा पिता के वक्षस्थल पर रक्तचय को देखकर सहस्रार्जुन के दमन के उद्योग से उत्कट शौर्ययुक्त भुजाओं में हल्लीसक की समस्त कलाओं के निर्देशक कुठार को ग्रहण किया ।

यहां वीर-रस के प्रति करुण और बीभत्स (दोनों) की कारणता है ।]

टिप्पणी—यहाँ वीर-रस के प्रति रेणुकाविषयक करुणा और जमदग्नि-सम्बन्धी बीभत्स की कारणता विद्यमान है । श्लोक में हल्लीसक जो शब्द आया है वह अपने अर्थ में नृत्यविशेष से सम्बद्ध है । वैसे यह एक अंक का उपरूपक होता है । इसमें सात, आठ या दस स्त्रियाँ होती हैं और उदात्त वचन बोलने वाला एक पुरुष रहता है । कैशिकी वृत्ति का प्रयोग, मुख-प्रतिमुख सन्धियों का निर्वाह तथा ताल, लय, गायन का बाहुल्य इसमें रहता है ।

यथा वा तातचरणानाम्—

कुरंगाक्ष्या वेणीं सुभग विपरीते रतविधा—
वधिस्कन्धं दृष्ट्वा किमपि निपतन्तीमरिभटः ।
अधिग्रीवं युष्मत्प्रचलकरवालव्यतिकरं
स्मरन्नेव स्तब्धो विरमति परीरम्भणरसात् ।। ६ ।।

[अथवा (उदाहरण के लिए) पूज्य पितृचरणों की रचना—

हे सुभग ! आपका वीर शत्रु विपरीत रति के समय अपनी गर्दन के पास गिरती हुई मृगनयनी की वेणी से आपके प्रकम्पमान खड्ग को स्मरण करता हुआ स्तब्ध होकर आलिंगन-रस से विरमित (उदासीन) हो जाता है ।]

अत्र भयानकम्प्रति शृङ्गारस्य कारणता ।

[यहां भयानक के प्रति शृङ्गार की कारणता है ।]

यथा वा—

युधि कुपितकृतान्तस्यन्दनस्पर्द्धिनादं
दिशिदिशि दशकण्ठस्त्यक्तवान्वारिदास्त्रम् ।
तडिति जनकपुत्र्याः साम्यमालोकमान—
स्त्यजति न पवनास्त्रं राघवः स्विन्नपाणिः ।। ७ ।।

अत्र शृङ्गारम्प्रति वीरस्य कारणता ।

[अन्य उदाहरण—

युद्ध में रावण ने कुपित यमराज के रथ के समान शब्द करने वाले मेघास्त्र को दिशा-दिशाओं में छोड़ा। उस मेघास्त्र में चमकने वाली विद्युत् में सीता के साम्य को देखकर राम शिथिलकर होने से पवनास्त्र को नहीं छोड़ते हैं।

यहाँ शृङ्गार के प्रति वीर की कारणता है।]

एतेषामङ्गाङ्गिभावापन्नानां रससङ्कर इति नाम लोका लपन्ति।

[इस प्रकार अंगांगिभाव को प्राप्त रसों की स्थिति को लोक में रससंकर नाम से अभिहित किया जाता है।]

व्याख्या—यहाँ जो तीन उदाहरण दिए गए हैं उनमें प्रथम में वीर-रस के प्रति करुण और बीभत्स की, द्वितीय में भयानक के प्रति शृंगार की और तृतीय में शृंगार के प्रति वीर की कारणता है। स्पष्ट ही शृंगार का विरोध भयानक से है। विरोध वीर से भी है। फिर क्यों न कहा जाए कि यहाँ रस-विरोध स्पष्ट है। किन्तु रस-विरोध का परिहार भी संभव है। इसके लिए कुछ नियम इस प्रकार हैं—

१. आश्रय-भेद से अभिव्यंजन।

२. एक रस को परतन्त्र बनाकर उसके विरोधी का अभिव्यंजन।

३. एक मुख्य रस की अधीनता में दो विरुद्ध रसों का प्रकाशन।

४. एक हीनबल और दूसरे अधिकबल—दो विरुद्ध रसों का अभिव्यंजन।

५. अन्य रस के व्यवधान से दो परस्पर विरुद्ध रसों का अभिव्यंजन।

आचार्य मम्मट ने रसविरोध के परिहारार्थ जो तीन मार्ग सुझाए हैं; वे इस प्रकार हैं—

१, स्मर्यमाण रूप में वर्णन।

२. साम्यविवक्षा।

३. प्रधानभूत तृतीय रस के अङ्गभूत रस।

इन तीनों उदाहरणों में 'मातुर्दृष्ट्वा…' आदि जो प्रथम उदाहरण है उस में प्रधानभूत अथवा अङ्गीरस है वीर और करुण तथा बीभत्स अङ्गरस हैं। द्वितीय और तृतीय उदाहरणों में वस्तुस्थिति का स्मर्यमाण रूप में वर्णन है। अतः विरोध का परिहार हो जाता है। भानुदत्त ने इनमें वैसे भी अङ्गाङ्गि-भाव स्थापित किया है। इसीलिए इस पद्धति को रससङ्कर भी कहा गया है।

रसानां मिथो विरोधोऽपि । तत्र भरतः—

श्रृंगारबीभत्सरसौ तथा वीरभयानकौ ।
रौद्राद्भुतौ तथा हास्यकरुणौ वैरिणौ मिथः ।। ८ ।।

[रसों का परस्पर विरोध भी होता है । भरत के अनुसार—

श्रृङ्गार और बीभत्स, वीर और भयानक, रौद्र और अद्भुत तथा हास्य और करुण—ये परस्पर विरोधी रस हैं ।]

वैरिरस इव वैरिरसस्य विभावाऽनुभावव्यभिचारिभावाः । अपि रसहानिकरा इति तानपि वारयेत् । तत्र प्राचीनसम्मतिः—

न च वैरिरसं ब्रूयाद्वैरिणो न विभावकम् ।
नाऽनुभावं न सञ्चारिभावं चाऽपि कदाचन ।। ९ ।।

[विरोधी रसों के समान ही इन विरोधी रसों के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव भी रस में बाधक होते हैं, इसलिए इनका भी वर्जन विहित है । इसमें प्राचीनों की सम्मति देते हैं—

विरोधी रसों का तथा विरोधी विभाव, अनुभाव और संचारियों का (काव्य में) कभी प्रयोग नहीं करना चाहिए ।]

किन्त्वङ्गांगिभावाऽनापन्नयोरेकदेशे सति वैरम् । देशभेदे सति न वैरम् । वृक्षे कपिसंयोगतदभावयोरिव । समयभेदे सत्यपि न वैरम्, भूतले घटतदभावयोरिव ।

[किन्तु अङ्गाङ्गिभाव को अप्राप्त रसों का एक ही स्थान पर प्रयोग होने से विरोध कहलाता है, पृथक् पृथक् स्थानों पर प्रयोग होने से विरोध नहीं होगा । जैसे वृक्ष में कपिसंयोग और कपिसंयोग का अभाव । इसी प्रकार समय-भेद होने से भी विरोध नहीं होता । जैसे भूमि पर घट की स्थिति और घट का अभाव ।]

व्याख्या—पहले यह स्थापना की गई है कि विरोधी रसों का तथा विरोधी विभाव, अनुभाव और संचारियों का व्यवहार नहीं करना चाहिए । फिर कहते हैं कि जो रस अङ्गांगिभाव को अप्राप्त होंगे और जिनका एक ही स्थान पर प्रयोग होगा विरोध वहीं होगा अन्यथा नहीं । पृथक्-पृथक् स्थानों पर प्रयोग होने से यह विरोध कम हो जाएगा । इसके लिए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे वृक्ष में कपिसंयोग और कपिसंयोग का अभाव । अर्थात् वृक्ष के एक स्थान पर कपिसंयोग है तो उसी वृक्ष के दूसरे स्थान पर उसका अभाव भी सम्भव है । अतः स्थानभेद होने से भाव और अभाव एकत्र होने पर भी विरोध नहीं है ।

ऐसे ही कालभेद होने पर भी विरोध नहीं रह जाता। उदाहरण के लिए भूमि पर समयविशेष में घट स्थित है और कालान्तर में घट का अभाव है। अतः विरोध यहाँ भी नहीं है।

वैरं यथा—

प्रियेणालिङ्ग्यमानायाः प्रियायाः कुचकुम्भयोः।
करजक्षतनिर्मुक्तं रुधिरं कुङ्कुमायते ॥ १० ॥

[विरोध का उदाहरण—

प्रिय से आलिंगन की जाती हुई प्रिया के कुचकुम्भों में नखक्षत से निकलने वाला रक्त कुंकुम की तरह प्रतीत होता है।]

टिप्पणी—प्रिय द्वारा प्रिया के आलिंगन का वर्णन होने से यहाँ शृङ्गार-रस है किन्तु कुचकुम्भों पर रुधिर का वर्णन बीभत्स का सूचक है। शृङ्गार और बीभत्स परस्पर विरोधी रस हैं। अतः यह रसविरोध का वर्णन है।

देशभेदे सति विरोधाभावो यथा—

एकः सिन्धुभुवः करे विलुलितश्चक्रे द्वितीयः स्थितः
कामध्वंसिनि कालकूटकवलक्लिष्टे तृतीयो धृतः।
भूयः क्षीरनिधेर्घनप्रमथने सक्तश्चतुर्थस्तथा
पायासुः कमलापतेर्भगवतो नानारसाः पाणयः ॥ ११ ॥

[देशभेद होने पर विरोध के अभाव का उदाहरण—

भगवान् कमलापति के नानारसयुक्त हस्त हमारी रक्षा करें (जिनमें) एक तो लक्ष्मी के हाथ पर चंचलता से स्थित है, दूसरा चक्र पर, तीसरा कालकूट विष के पान करने से दुःखी शङ्कर पर और चौथा क्षीरनिधि के घन प्रमथन में सक्त है।]

अत्र शृंगाररौद्रकरुणाऽद्भुतानां रसानां विरोधाभावः।

[यहां शृङ्गार, रौद्र, करुण और अद्भुत रसों में विरोध नहीं है।]

व्याख्या—देशभेद होने पर विरोध के अभाव का उदाहरण देते हुए कहा गया है कि विष्णु का एक हाथ लक्ष्मी के हाथ पर चंचलता से स्थित है। यह शृंगार-रस की व्यंजना हुई। दूसरा हाथ शत्रु के मर्दन के लिए सुदर्शन चक्र पर स्थित है। यह रौद्र-रस हुआ। तीसरे हाथ के लिए कहते हैं कि वह कालकूट विष का पान करने से क्लेश को प्राप्त भगवान् शंकर पर रखा हुआ है। यहाँ करुण-रस हुआ और चौथा हाथ क्षीरनिधि के घन प्रमथन में सक्त है अतः यहाँ अद्भुत है। ऐसे भगवान् विष्णु के नाना रसयुक्त हाथ हमारी रक्षा करें। इस

उदाहरण में इन विरोधी रसों में विरोध इसलिए नहीं है क्योंकि भिन्न-भिन्न हस्त पृथक्-पृथक् स्थान पर हैं।

समयभेदेन यथा—

भग्नं कामरिपोर्धनुः परिहृतं राज्यं स्थितं कानने
निर्भिन्नस्त्रिशिराः खरस्य पिशितं स्पृष्टं कपिर्लालितः।
लंकेशो दलितश्चिराय रुदितं लंकावधूनां श्रुतं
नीता सद्म विदेहभूस्तदखिलं रामस्य लोकोत्तरम् ॥ १२ ॥

[कालभेद से विरोध के अभाव का उदाहरण—

शङ्कर का धनुष तोड़ा, राज्य त्यागा, वन में निवास किया, त्रिशिरा का विनाश किया, खर के मांस का स्पर्श किया, कपि (सुग्रीव) को आश्रय दिया, लंकेश का दलन किया, पर्याप्त समय तक लंका की स्त्रियों का रोदन सुना और सीता को घर में ले आए—राम के ये सारे चरित्र लोकोत्तर हैं।]

अत्राद्भुतशान्तभयानकरौद्रबीभत्सहास्यवीरकरुणश्रृंगाराणां विरोधाभावः।

[यहाँ अद्भुत, शान्त, भयानक, रौद्र, बीभत्स, हास्य, वीर, करुण और श्रृङ्गार रसों में परस्पर विरोध नहीं है।]

व्याख्या—शङ्कर का धनुष तोड़ने में अद्भुत, राज्य-त्याग में शान्त, वन में निवास से भयानक, त्रिशिरा-विनाश में रौद्र, खर के मांस का स्पर्श करने में बीभत्स, कपि-लालन में हास्य, रावण के दलन में वीर, लंका की स्त्रियों के रोदन-श्रवण में करुण और सीता से मिलन में श्रृंगार-रस है। इन सभी रसों का एक ही उदाहरण में होने से विरोध इसलिए नहीं है क्योंकि कालभेद स्पष्ट है। राम ने ये सभी कार्य एक ही काल में नहीं किए। सभी कार्य पृथक्-पृथक् समय के हैं। इसीलिए काल के अनुसार रस भी पृथक्-पृथक् हैं। अतः यहाँ विरोध का अभाव है।

अंगांगिभावानापन्नानां रसानां निवेशो यत्र स रसशबल इति वेदितव्यम्। तस्याऽप्येतदेवोदाहरणम्। अंगयोर्वैरेऽपि न रसहानिर्भटयोर्वैरे प्रभोरिव। यथा—

[जहाँ अंगांगिभाव को प्राप्त न होने वाले (अर्थात् विरुद्ध) रसों का समावेश हो वह रसशबल कहलाता है। उसका भी यही, अर्थात् उपर्युक्त श्लोक ही, उदाहरण है। दो अंगों का विरोध होने पर भी रस की हानि नहीं

होती जिस प्रकार दो सैनिकों का विरोध होने पर भी राजा की हानि नहीं होती। उदाहरण—]

व्याख्या—यहाँ प्रतिपादित करते हैं कि जिस स्थल पर ऐसे रसों का समावेश होगा जो अंगांगिभाव को प्राप्त नहीं होंगे वहाँ रसशबल होगा। उदाहरण के लिए यही श्लोक ले लीजिए जिसका अभी-अभी उल्लेख हुआ है। इस श्लोक में अद्भुत, शान्त, भयानक, रौद्र आदि रस अंगांगिभाव को अप्राप्त हैं। स्पष्ट ही एक ही स्थल पर उनका उल्लेख होने से विरुद्धत्व है। इस प्रकार इस श्लोक में रसशबल है। आगे कहते हैं कि जिस स्थल पर दो अंग-रसों का परस्पर विरोध होगा वहाँ भी रस की हानि नहीं होगी। इसे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि जैसे दो सैनिकों के विरोध होने से भी राजा की हानि नहीं होती। इनमें राजा है अंगी और सैनिक हैं अंग। सैनिकों में परस्पर कितना ही विरोध हो, उस विरोध से राजा की हानि नहीं होती है। ठीक यही बात रस के संबंध में भी है। इसका उदाहरण देते हैं—

सीतां संस्मर्य वीचिप्रचलकुवलयस्पर्द्धिचक्षुः क्षिपन्तीं
सेनां संवीक्ष्य रक्षःशरदलितवपुःशोणितासारसिक्ताम्।
रामेण क्रोधदृप्यद्दशमुखनिपतन्मुण्डलाभप्रमोद—
क्रीडत्कालीकरालभ्रुकुटिसहचरी सन्दधे चापयष्टिः॥ १३॥

[लहरों से चलायमान कमल के समान चंचल नेत्रों वाली सीता का स्मरण करके और राक्षस के बाणों से विद्ध होने के कारण रक्तयुक्त शरीरों वाली सेना को देखकर राम ने क्रोध से रावण के कटे हुए शिर की प्राप्त्याशा की प्रसन्नता से नाचती हुई काली की कराल भ्रुकुटी की सहचरी के समान चापयष्टि का सन्धान किया।]

अत्र शृङ्गारबीभत्सयोर्विरोधेऽपि न रसहानिः।

[यहाँ शृङ्गार और बीभत्स का विरोध होने पर भी रसहानि नहीं है।]

व्याख्या—राम द्वारा लहरों से चलायमान कमल के समान चंचल नेत्रों वाली सीता का स्मरण किए जाने से शृंगार-रस की अभिव्यक्ति है। राक्षस के बाणों से विद्ध अपनी सेना के वीरों के शरीरों को रक्त से सना हुआ देखने में बीभत्स है। अतः यहाँ दो विरोधी रस हैं। शृंगार और बीभत्स का साक्षात् विरोध है। किन्तु विरोध होते हुए भी यहाँ रस की हानि किसी भी प्रकार से नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि यहाँ शृङ्गार और बीभत्स दोनों ही अंग-रस हैं। इन दोनों में अंगी कोई नहीं है। इसीलिए इतने पर भी रौद्र-रस की

पूर्ण अभिव्यक्ति होती है। विरोध की अपेक्षा ये दोनों रस अंगी रौद्र को पुष्ट ही करते हैं।

एवमङ्गाङ्गिभावापन्नयोर्विरोधिनोरेकत्र भावेऽपि न रसहानिः। यथा—

[इसी प्रकार अंगांगिभाव को प्राप्त दो विरोधी रसों की एकत्र स्थिति होने पर भी रसहानि नहीं होती। उदाहरण—]

भौजंगमं गिरिमय जलदात्मकं वा
शस्त्रं यदेव मुमुचे दशकन्धरेण।
सर्वं विदेहतनयाविरहाकुलेन
रामेण वह्निमयशस्त्रमिव व्यलोकि ॥ १४ ॥

[रावण ने नागपाश, पर्वतास्त्र अथवा मेघास्त्र आदि जो-जो भी शस्त्र चलाए उन सबको राम ने सीता के विरह से व्याकुल होने के कारण आग्नेयास्त्र के समान ही देखा।]

टिप्पणी—यहाँ अंगी-रस है भयानक और अंग-रस है वीर। भयानक और वीर का सीधा विरोध है। फिर भी यहाँ रस की हानि नहीं है क्योंकि अंग अंगी से दबा हुआ है।

ननु बीभत्सशृङ्गारयोः सहजवैरं कुतो मधु निपीय निष्ठीवतोः सम्भोगदर्शनादिति चेत्। सत्यम्, बीभत्सस्य जुगुप्सा स्थायिभावः। सा च तद्दर्शनेन तटस्थस्य भवति न तु नयोः रागोत्कर्ष्यादिति। ननु तथाऽपि बीभत्से रागो दृश्यते। तथाहि—

[(यहाँ यह शंका करते हैं कि) बीभत्स और शृङ्गार का स्वाभाविक विरोध कैसे हो सकता है क्योंकि मधुपान करके थूकते हुए भी नायक-नायिका सम्भोगरत होते हैं। (इसका समाधान करते हुए कहते है कि) बीभत्स-रस का स्थायी भाव है जुगुप्सा और वह उनको थूकते देखने से तटस्थ (अन्य व्यक्ति) को होगी, नायक-नायिका को नहीं; क्योंकि उनमें राग की उत्कटता है। (इसलिए ऐसे स्थलों में शृंगार ही होगा, बीभत्स नहीं। फिर शंका करते हैं कि) अनेक स्थलों में बीभत्स के साथ राग (शृंगार) को देखते हैं। जैसे इसी श्लोक में—]

यदपि हृदि विशाला मुण्डमाला न पाणि-
स्त्यजति नरकपालं रौरवं चर्म चैलम्।

तदपि गिरिसुतायाः पक्षपातः पुरारौ
समुदयति विचित्रः कामिनोः प्रेमबन्धः ॥ १५ ॥

[यद्यपि (शङ्कर के) हृदय में विशाल मुण्डमाला है, हाथ में विकृत खप्पर है, व्याघ्रचर्म ही (उनका) वस्त्र है तथापि पार्वती का शिव के प्रति विशेष राग का समुदय होता है। वास्तव में प्रेमियों का प्रेमबन्ध बड़ा ही विचित्र होता है।]

इत्यादाविति चेत्। सत्यम्, निजभर्तुरधमेऽपि भूषणे भक्त्यतिशयेन पत्न्यास्तत्र जुगुप्सैव नावतरति। जुगुप्सितत्वेन प्रतीयमानमेव हि जुगुप्सोत्पादकं भवति। किञ्च, प्रियसम्बन्धोपाधिकमधिकं तत्र प्रेमैवोत्पद्यते तस्मात्स्थायिभावाभावाद्बीभत्सस्तत्र न जायत इति।

[इस छन्द में बीभत्स के साथ शृंगार है। (इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि) अपने पति के अधम भूषणों में भी प्रेमातिशय होने से पत्नी के हृदय में जुगुप्सा उत्पन्न ही नहीं होती। जहाँ घृणा की प्रतीति हो वहाँ जुगुप्सा होती है। और, फिर उन पदार्थों का प्रिय से सम्बन्ध होने के कारण उनके प्रति अधिक प्रेम ही उत्पन्न होता है। इससे जुगुप्सा स्थायी भाव के अभाव के कारण वहाँ बीभत्स-रस नहीं होगा।]

ननु वीरस्य युधि गच्छतः सर्पस्पर्शे चकितता दृश्यते, रौद्रे चाकस्मिकोत्पातातिपाते विस्मय इति चेत्। चकितता विस्मयश्च तत्र रसावेशान्न भवत्येव, सति वा विषयभेदः। वीरस्य न प्रतिभटाद्भयं किन्तु भुजंगमात्। रौद्रे च न प्रतिभटबलाधिक्ये विस्मयः किन्तूत्पाते। रसवैरस्योत्पादकमखिलमवधेयम्। तत्र पूर्वाचार्याः—

[(फिर शंका करते हैं कि) वीर को युद्ध में जाते हुए सर्पस्पर्श से चकितता (भय) और रौद्र में आकस्मिक उत्पात का आगम होने से विस्मय देखते हैं (इसलिए वीर और भय; रौद्र और अद्भुत विरोधी नहीं हैं)। इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि) यहाँ वीर को चकितता और रौद्र में विस्मय ये रसावेश से नहीं होते। यदि होते भी हैं तो विषयभेद से होते हैं। अर्थात् वीर को अपने प्रतिद्वन्द्वी भट से भय न होकर सर्प से होता है और रौद्र में भी प्रतिद्वन्द्वी भट के बलाधिक्य से विस्मय नहीं होता अपितु आकस्मिक उत्पात से होता है। इस प्रकार रसों में विरोध उत्पन्न करने वाले तत्त्वों को जानना चाहिए। यहाँ प्राचीन आचार्यों का मत है—]

अन्यच्च रसवैरस्योत्पादकं वचनन्तथा।
न वाच्यं रसभावज्ञैर्नाट्यशास्त्रविशारदैः ।। १६ ।।

[रसभावों के ज्ञाता एवं नाट्यशास्त्रविशारदों को चाहिए कि रस में वैरस्य (विरसता) के उत्पादक तत्त्वों तथा वचनों का प्रयोग न करें।]

वचनमित्युपलक्षणम्। एवं विभावाऽनुभावेष्वपि द्रष्टव्यम्। यथा–

[यहाँ 'वचन' शब्द उपलक्षणमात्र है (अर्थात् वचन पद विरुद्ध रस-विभावादि का भी परिचय कराता है)। इसी प्रकार विभाव, अनुभावों में भी जानना चाहिए। उदाहरण—]

क्वाऽहं क्व त्वं क्व मधुसमयः कुत्र वा दूतिकाऽसौ
मेघच्छायाप्रविचलमिद कुत्र वा प्रेम यूनोः।
आयुर्वायुप्रचलनलिनीवारिबिन्दूपमानं
मानं मुग्धे विसृज सकलं तुच्छमेव प्रतीमः ।। १७ ।।

[कहाँ मैं, कहाँ तू, कहाँ वसन्त का समय और कहाँ यह दूतिका तथा मेघ की छाया के समान चंचल प्रेमियों का यह प्रेम भी कहाँ? यह आयु भी वायु से चंचल कमलपत्र पर स्थित जलबिन्दु के समान है। इसलिए, हे मुग्धे! मान का त्याग कर क्योंकि सभी कुछ तुच्छ है।]

व्याख्या—यह मानिनी नायिका के प्रति नायक की उक्ति है। कहाँ मैं और कहाँ तू कहकर नायक दोनों के बीच के अन्तर को स्पष्ट करना चाहता है। अर्थात् दोनों का समागम कठिन दीखता है। कहाँ वसन्त का समय कहने से नायक सूचित करना चाहता है कि यह समय भी शीघ्र ही समाप्त होने वाला है। कहाँ यह दूतिका कहने से यह अभिव्यक्त हुआ कि इसके माध्यम से जो अपराध मुझ पर लगाया गया है वह असंभव है। वास्तव में अपराध है नहीं। मेघ की छाया के समान चंचल प्रेमियों का यह प्रेम भी कहाँ यह कहने से सिद्ध हुआ कि प्रेम करने का समय भी इस जीवन में अत्यन्त अल्प है। इसी प्रकार यह भी अभिव्यक्त किया गया कि आयु भी अस्थिर है। जैसे वायु के चलने से हिलते हुए कमल के पत्ते पर पड़ी हुई जल की बूंद कभी भी ढुलककर गिर सकती है वैसे ही आयु भी किसी समय समाप्त हो सकती है। उसका क्या विश्वास? इसलिए सभी कुछ क्षणिक व नश्वर लगता है। इसलिए मान का त्याग करके शीघ्र ही अनुकूल हो जाना चाहिए।

अत्र निर्वेदप्रतिपादकमखिलं तच्च शृंगारविरोधि।

[प्रस्तुत कथन निर्वेद का प्रतिपादक होने से शृंगार का विरोधी है।]

व्याख्या—उपर्युक्त श्लोक में वैसे तो नायक नायिका के प्रति प्रणय-निवेदन करता है किन्तु विभावादि की विवेकपूर्ण अभिव्यक्ति न होने से कथ्य में अन्तर आ गया है। नायिका मानिनी है। वह प्रिय के अपराध से रुष्ट है। नायक उसे तुष्ट करना चाहता है। किन्तु जब वह संसार की सभी वस्तुओं को क्षणिक बताता है तो निर्वेद की ही व्यंजना होती है, शृंगार की नहीं। अतः मूलतः शृंगार की यह उक्ति निर्वेद के परिपोष से स्वयं ही अपनी विरोधी बन गई है।

अनौचित्यं सर्वथावधेयम्। तत्र प्राचीनग्रन्थः—

[अनौचित्य (रस-प्रतिकूलता) का पूर्णतः ध्यान रखना चाहिए। प्राचीन ग्रन्थों का प्रमाण उदाहरण-रूप में देते हैं—]

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभंगस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यवद्वस्तु रसहर्षाय जायते ॥ १८ ॥

[अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का अन्य कोई कारण नहीं है। लोक-प्रसिद्ध औचित्य से युक्त काव्य ही रसानुभूति कराने वाला होता है।]

उद्वेगकरमनौचित्यम्। लोकयात्राप्रसिद्धमौचित्यम्। तस्माद्द्वयोर्यूनोर्यत्र मिथो रतिस्तत्रैव रसः। एकस्यैव रतिश्चेद्रसाभास एव। एकस्या एव रतिश्चेद्रसाभास एव। क्रमेणोदाहरणम्—

[अनौचित्य उद्वेगकारक होता है। लोकव्यवहार में प्रसिद्ध औचित्य है। इसलिए दोनों नायक-नायिकाओं की जहाँ रति होगी वहीं रस होगा। यदि केवल नायक में ही रति होगी तो रसाभास होगा। इसी तरह केवल नायिका की रति होने पर भी रसाभास होगा। क्रम से इन दोनों के उदाहरण देते हैं—]

व्याख्या—औचित्य क्या है, इसके विषय में क्षेमेन्द्र ने कहा है :—

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावः तदौचित्यं प्रचक्षते ॥ (औचित्यविचारचर्चा, ७)

—अर्थात् जो जिसके अनुरूप है, उसे प्राचीन आचार्यों ने उचित कहा है—उचित का भाव ही औचित्य है। जीवन के समान काव्य के मूल्यों का आधार भी औचित्य ही है। लोकव्यवहार में जो रीति समादृत है उसे औचित्य कहा जाता है। लोकव्यवहार ही इसका प्रमाण है। इसलिए ऐसे प्रमुख तत्त्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। संस्कृत काव्यशास्त्र में प्रायः सभी आचार्यों ने प्रकारान्तर से औचित्य के महत्त्व को स्वीकृति प्रदान की है। क्षेमेन्द्र ने कहा—

अलङ्कारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणाः सदा ।
औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम् ।। (औचित्यविचारचर्चा,५)

—अर्थात् काव्य के अलङ्कार तो अलङ्कारमात्र ही हैं। वे बाह्य उपकरण हैं। गुण भी गुण ही हैं। अर्थात् वे अंतरंग होते हुए भी काव्य के जीवन नहीं हैं। रस के कारण ही काव्य में आनन्दोत्पादक क्षमता आती है और रससिद्ध काव्य का स्थिर जीवित औचित्य ही है।

इसीलिए यह भी कहा जा सकता है कि अनौचित्य के अतिरिक्त रसभंग का अन्य कोई कारण नहीं है और लोकप्रसिद्ध औचित्य से युक्त काव्य ही रसानुभूति कराने वाला होता है। भानुदत्त ने प्राचीन ग्रन्थों से यह श्लोक उद्धृत किया है किन्तु यह श्लोक किन-किन ग्रन्थों में प्राप्य है, यह नहीं कहा है। 'ध्वन्यालोक' और 'व्यक्तिविवेक' में यह श्लोक इस रूप में प्राप्य है :—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ।।

—अर्थात् औचित्य के अतिरिक्त रसभंग का और कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्य का अनुसरण ही रस का परम रहस्य है।

यहाँ दोनों श्लोकों में थोड़ा-बहुत पाठभेद होते हुए भी मूल मंतव्य का भेद नहीं है। अनौचित्य को उद्वेगजनक कहा गया है। रसभंग और रसाभास का यह मूल कारण है। यहाँ यह विचार किया जाता है कि रसाभास क्या है। रसनिष्पत्ति के लिए अपेक्षित पूर्ण औचित्य के अभाव में जब सहृदय को रस की नहीं बल्कि रस के आभास की प्रतीति हो तो रसाभास होता है। दूसरे शब्दों में कहें कि जहाँ रस-परिपाक न हो और रस केवल आभासित होकर ही रह जाए तो रसाभास होता है। अभिनवगुप्त ने रसाभास को 'शुक्तौ रजताभासवत्', अर्थात् सीपी में रजत के आभास जैसा बताया है।

इस विषय को लेकर दो बातों पर विशेष रूप से विचार किया गया है—रसाभास होने पर रसदशा बनी रहती है या नष्ट हो जाती है? एक मत के अनुसार रसाभास रस का विरोधी है क्योंकि रस और रसाभास के आधारभूत औचित्य-अनौचित्य परस्पर विरोधी हैं। दूसरा मत यह है कि रसाभास में रस का पूर्णतया अभाव नहीं होता है। यह अनुभवसिद्ध है कि अपने प्रतीतिकाल में रसाभास रस जैसा ही आस्वाद्य रहता है किन्तु जब बुद्धि अनौचित्य के संकेत का ग्रहण कर लेती है तो रसानुभूति रसाभास-रूप में पर्यवसित हो जाती है। अभिनवगुप्त ने इस मत को मानते हुए यह भी कहा है कि रसानुभूति में रसाभास आ जाने पर अन्य रस की प्रतीति भी उसके द्वारा सम्भव हो सकती है।

रसाभास के अनेक कारण बताए गए हैं जिनके मूल में अनौचित्य सर्वथा विद्यमान रहता है। भानुदत्त ने पहले तो यह कहा है कि जहाँ नायक और नायिका में परस्पर दोनों के लिए रति होगी, रस वहाँ ही होगा अन्यथा नहीं। नायक और नायिका में यदि एक-दूसरे के लिए समान रतिभाव नहीं होगा तो रसाभास होगा। भानुदत्त ने रसाभास का विवेचन केवल शृंगार-रस के संदर्भ में ही किया है। इसलिए उनके विवेचन को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। उन्होंने इस सम्बन्ध में जो उदाहरण दिए हैं वे इस प्रकार हैं—

सीतासमागमश्लाघाबन्धुरं　　दशकन्धरम्।
प्रहर्तुं क्षमते कामो रामो वा निशितैः शरैः॥ १९॥

[सीता-समागम की इच्छा से बन्धुर (चंचल या वक्र) रावण को कामदेव अथवा राम ही तीव्र शरों से प्रहार करने में समर्थ हैं।]

व्याख्या—सीता रावण के बन्धन में है। रावण ने उसका हरण ही कामासक्त होकर किया है। किन्तु सीता के हृदय में रावण के प्रति रतिभाव का सर्वथा अभाव है। उधर रावण भी अत्यन्त सशक्त है। उसे कौन हानि पहुँचा सकता है? इसके लिए कहते हैं कि ऐसे दुष्ट रावण का अंत दो ही प्रकार से हो सकता है। या तो वह स्वयं ही कामदशा की उत्कट अनुभूति करता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो सकता है अथवा राम ही अपने बाणों से उसे मृत्यु को प्राप्त करा सकते हैं।

अत्र रावणस्यैव रतिर्न तु सीतायाः।

[यहाँ रावण की ही रति है, सीता की (रावण के प्रति) नहीं।]

निधुवनवनप्रान्ते यान्तं चलैर्नयनाञ्चलैः
किमिति वलितग्रीवं मुग्धे मुहुर्मुहुरीक्षसे।
विफलमखिलं यूनोर्नो चेदुदेति परस्परं
रतिरथ मनोजन्मा देवः स एव निषेव्यताम्॥ २०॥

[हे मुग्धे! केलिवन के निकट जाते हुए (युवक को) चंचल नेत्रकोण से टेढ़ी गर्दन करके बार-बार क्यों देखती है? यदि दोनों का परस्पर प्रेम नहीं है तो ये सब चेष्टाएँ व्यर्थ हैं; अन्यथा (और यदि दोनों का परस्पर प्रेम है तो) फिर प्रत्यक्ष काम का ही सेवन करो (इन चेष्टाओं का क्या प्रयोजन?)।]

व्याख्या—कोई युवक केलिवन की ओर जा रहा है। कोई युवती उसके शारीरिक सौन्दर्य की ओर आकर्षित हो गई है। वह बार-बार अपनी ग्रीवा पीछे की ओर घुमा कर नेत्रों की वक्र भंगिमा से उसकी ओर देखती है। भाव

यह है कि युवक के प्रति युवती में रतिभाव का प्रादुर्भाव हो गया है। किन्तु युवक को इस बात का ज्ञान नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि वह युवती से परिचित तक नहीं है। इस स्थिति को देखकर कोई पथिक युवती के प्रति कहता है कि उसका इस प्रकार बार-बार युवक की ओर देखना व्यर्थ है क्योंकि समागम तो हो नहीं सकता। इसका कारण यह है कि युवक युवती की ओर आकर्षित नहीं है। और यदि दोनों में परस्पर प्रेम है तो भी इन चेष्टाओं से क्या लाभ ? फिर तो समागम में बाधा ही नहीं है।

अत्र नायिकाया एव रतिर्न तु नायकस्य।

[यहाँ केवल नायिका की ही रति है, नायक की नहीं।]

एवमेकस्या अनेकविषया रतिराभास एव। एवमेकस्याऽप्यनेक-विषयारतिराभास एव। परन्त्वेष विशेषः, यस्य व्यवस्थिता बह्वचो नायिका भवन्ति तत्र न रसाभासस्तथा सति कृष्णस्य सकलोत्तम-नायकस्य बहुकामिनीविषयाया रतेराभासतापत्तेः। तस्मादव्यवस्थित-बहुकामिनीवैषयिकबहुनायकपरमेतत्, अत एव वैषयिकानां वेश्यानां च रसाभास इति प्राचीनमतम्।

[इसी प्रकार एक नायिका की अनेक नायकविषयक रति भी रसाभास ही है। ऐसे ही एक नायक की अनेक नायिकाविषयक रति में भी रसाभास ही होगा। परन्तु यहाँ (नायक के विषय में) इतना विशेष है कि जिस नायक की अनेक व्यवस्थित नायिकाएँ हों वहाँ रसाभास न होगा; अन्यथा सर्वश्रेष्ठ नायक श्रीकृष्ण की बहुनायिकाविषयक रति से रसाभास की आपत्ति हो सकती है। इसलिए इसका सम्बन्ध अव्यवस्थित बहुनायिका, विषयी तथा बहुनायक से ही है। इसीलिए विषयी और वेश्या की प्रीति में रसाभास ही होगा, यही प्राचीनों का मत है।]

एकस्या अनेकविषया रतिर्यथा—

सपत्कस्याऽद्य तारा भवति तरलिता यत्पुरो नेत्रतारा
दृष्टा केनाऽद्य काञ्ची यदभिमुखगता वेपते रत्नकाञ्ची।
उग्रः कस्याऽद्य तुष्टः सखि यदनुगमे कश्चिदुग्रोऽभिलाषः
स्नातं केनाऽद्य वेणीपयसि विलुलिता यत्कृते काऽपि वेणी॥ २१॥

[एक नायिका की अनेक नायकविषयक रति का उदाहरण—

हे सखी ! आज किसकी संपत्ति तारा-रूप से प्रकाशित होती है जिसके सामने नेत्रतारिका चंचल हो जाती है, आज किसने काञ्ची को देखा है जिस-

के सामने होते ही रत्नकांची (करधनी) कांपने लगती है, वह कौन है जिस पर शिव (उग्र, उन्नत) तुष्ट हैं और जिसका अनुगमन करने में उग्र अभिलाषा जागती है और वह कौन है जिसने आज वेणी (त्रिवेणी) में स्नान किया है जिसके लिए सुन्दर वेणी बिखर रही है ?]

व्याख्या—यह किसी वेश्या के प्रति उसकी सखी का कथन है। वेश्या अलंकृत होकर जनमण्डली के मध्य जा रही है। उस समय उसके सौन्दर्य का अवलोकन करती हुई सखी कहती है कि वह व्यक्ति कौन है जिसने अपनी समस्त सम्पत्ति को तुम्हें प्रसन्न करने के लिए तारा आभूषण में व्यय कर दिया है। ऐसा प्रतीत होता है मानो उसी को रिझाने के लिए तुम्हारे नेत्रों की पुतलियाँ चंचल हो गई हैं। ऐसा वह कौन पुण्यवान् है जिसने काञ्ची तीर्थ की यात्रा की है जिसके फल में उसे तुम्हारी काँपती हुई करधनी के दर्शन हो रहे हैं। कौन वह ऐसा व्यक्ति है जिस पर शिव प्रसन्न हैं और इस कारण से उस पर तुम्हारा अतिशय राग प्रकट हो रहा है। यहाँ एक अर्थ यह भी लेते हैं कि वह कौन है जिसके उग्र एवं उन्नत इन्द्रिय का संकेत पाकर तुम उस पर इस प्रकार मोहित हो कि उसके सहवास की अदमनीय अभिलाषा तुम्हारे अन्तःकरण में जाग उठी है। वह कौन भाग्यशाली है जिसने त्रिवेणी के जल में पुण्य स्नान किया है जिसके फलस्वरूप तुम्हारी वेणी बिखर कर उसे रिझा रही है ? इस श्लोक में तारा, काञ्चीतीर्थ, शिव तथा त्रिवेणीस्नान का फल नायिका-प्राप्ति बताया गया है।

अत्र किमो बाहुल्येन वेश्यात्वम् ।

[यहाँ चारों पदों में पृथक्-पृथक् 'कौन है' से वेश्यात्व प्रकट होता है।]

एकस्यानेकनायिकाविषया रतिर्यथा—

पञ्चेषुक्षितिपप्रतापलहरी प्रीतिस्त्वदीया पुनः
कासां वा स्तनकाञ्चनाञ्चलतटे काश्मीरपंकायते।
कासां मूर्धनि नैव नीरजदृशां सिन्दूररेखायते
कासां वा न च कर्णयोः प्रियसखे माणिक्यभूषायते ।।२२।।

[एक नायक की अनेक नायिकाविषयक रति का उदाहरण—

हे प्रियमित्र ! राजा कामदेव की प्रतापलहरी और तेरी प्रीति किन स्त्रियों के उन्नत स्तनों में केसर के समान नहीं आचरण करती ? किन कमलनयनियों के सिर में सिन्दूर-रेखा के समान नहीं विराजती ? अथवा किनके कानों में मणि के कर्णभूषण के समान नहीं लगती ?]

अत्राऽपि वैषयिकता प्राग्वदेव ।

[यहाँ भी पूर्ववत् ही विषयीपरक है (अर्थात् रतिभाव नायक में अनेक स्त्रियों के लिए है) ।]

यत्र रसा बहवः स रसशबलः । यत्र भावा बहवः स भावशबलः । तत्र रसशबलो दर्शितः । भावशबलो यथा—

[जहाँ अनेक रस होते हैं वहाँ रसशबलता तथा जहाँ अनेक भाव होते हैं वहाँ भावशबलता होती है । रसशबलता का वर्णन कर चुके हैं । अब भावशबलता का उदाहरण देते हैं—।]

व्याख्या—भावशबलता का लक्षण यहाँ सामान्य रूप में ही दिया गया है । यह तो स्पष्ट है ही कि जहाँ अनेक भाव होंगे वहाँ भावशबलता होगी किन्तु अनेक आचार्यों ने इस सम्बन्ध में विशेष यह कहा है कि जहाँ एक के पश्चात् एक, इस प्रकार शृंखलाबद्ध क्रम से अनेक भाव प्रकट हों अथवा अनेक भावों का एक साथ मिश्रण दिखाई पड़े वहाँ भावशबलता कही जाती है । भावशबलता में एक प्रकार का चमत्कार निहित रहता है और वह यह है कि आगे आने वाला भाव अपने से पिछले भाव को मर्दित करता हुआ प्रतीत हो । पंडितराज जगन्नाथ ने अधिकांश आचार्यों की इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है—

भावशबलत्वं भावानां बाध्यबाधकभावमापन्नानामुदासीनानां वा व्यामिश्रणम् ।

—अर्थात् जो परस्पर विरोधी होने के कारण एक-दूसरे के बाधक हों, अथवा जो उदासीन—अर्थात् न परस्पर बाधक हों और न परस्पर सहायक हों, ऐसे अनेक भावों के मिश्रण को भावशबलता कहते हैं ।

शबलत्व से क्या आशय है, इस विषय में कहते हैं—

एकचमत्कृतिजनकज्ञानगोचरत्वमिति यावत् ।

इसकी विवृति इस प्रकार से है कि मिश्रण वह है जिसमें यद्यपि भिन्न-भिन्न वाक्य से भिन्न-भिन्न वाक्य अभिव्यक्त होते हों तथापि उन सब वाक्यों को मिलाकर जो एक सम्पूर्ण पद्यरूप महावाक्य बने, उससे जो एक व्यंजना-वृत्ति के आश्रय से चमत्कारी ज्ञान हो, उसमें उन सब भावों का भासित हो जाना ।

रसशबलता का उदाहरण पहले दिया जा चुका है । इस सम्बन्ध में इस अध्याय का बारहवाँ श्लोक फिर से देख लें जिसमें अंगांगिभाव को प्राप्त न

होने वाले रसों का समावेश है और जिसमें कालभेद से पूर्व-पूर्व रसों का मर्दन है। अब भावशबलता का उदाहरण देते हैं—

प्रव्रज्यैव शुभाय मे श्रुतिपथं जायेत तस्या वच-
श्चक्राग्रे मम कः स्मरस्त्रिजगती शून्या विना राधया।
निर्मुक्तैव मनस्त्रपा मृगदृशो लावण्यमन्यादृशं
धिग्जन्म क्व गतासि किं विलपितैः क्वाऽसि प्रसन्ना भव ॥ २३ ॥

[मेरे लिए संन्यास ही शुभ है यदि उसी से मेरे कानों में राधा का वचन पड़ जाए, मेरे चक्र के सामने कामदेव भी क्या है ? राधा के बिना तीनों लोक शून्य हैं: मन लज्जा से रहित हो ही गया है, उस मृगनयनी का सौन्दर्य अप्रतिम है, कहाँ गई है, मेरे जन्म को धिक्कार है, विलाप करने से भी क्या होता है, तू कहाँ है, प्रसन्न हो।]

व्याख्या—यह कृष्ण की उक्ति है। प्रथम कथन से निर्वेद सूचित होता है। राधा के अभाव में जगत् में क्या शेष रह गया है, इस बात की व्यंजना यहाँ सिद्ध है। राधा का वचन श्रुतिपथ को प्राप्त हो, यह कहने से औत्सुक्य की सूचना है। मेरे चक्र के समक्ष कामदेव भी क्या है, इस उक्ति में अमर्ष है। राधा के बिना तीनों लोक शून्य हैं, यहाँ भ्रम की अभिव्यक्ति है। मति का भाव इस कथन में है कि मन लज्जा से रहित हो ही गया है। उस मृगनयनी राधा के लावण्य को अप्रतिम कहने से यहाँ स्मृति सूचित हुई। वह कहाँ है जिसके अभाव में मेरे जन्म को धिक्कार है, इस उक्ति में विषाद है। इसके बाद की सभी उक्तियों में दैन्य है। इस प्रकार आगामी भाव अपने से पिछले भाव का मर्दन कर रहा है।

निर्वेदौत्सुक्यामर्षभ्रममतिविषाददैन्यानां भावानां सांकर्यादेष भावशबल इति।

[यहाँ निर्वेद, औत्सुक्य, अमर्ष, भ्रम, मति, विषाद एवं दैन्य भावों का संकर होने से भावशबलता है।]

अथ रसभावालंकाराणामभिव्यक्तिः। रसस्त्रिविधः—अभिमुखो-विमुखः परमुखश्चेति। व्यक्तैर्भावविभावाऽनुभावैर्यस्याभिव्यक्तिः सोऽभिमुखः। भावविभावाऽनुभावानामनुक्तत्वात्कष्टावगमो विमुखः। परमुखोऽपि द्विविधः—अलंकारमुखो भावमुखश्च। अलंकारमुखेऽलङ्कारो मुख्यो मनोविश्रामहेतुत्वाद्रसो गौणः। भावमुखे भावो मुख्यो मनोविश्रामहेतुत्वाद्रसो गौणः।

[अत्र रसभाव अलंकारों की अभिव्यक्ति का वर्णन करते हैं। रस तीन प्रकार का है—अभिमुख, विमुख और परमुख। स्पष्ट रूप से व्यक्त भाव, विभाव और अनुभावों से जिसकी अभिव्यक्ति हो वह अभिमुख कहलाता है। भाव, विभाव और अनुभावों के अनुक्त होने से जिसकी क्लिष्टानुभूति हो वह विमुख है। परमुख रस भी दो प्रकार का है—अलंकारमुख और भावमुख। अलंकारमुख में मन के विश्राम (तुष्टि) का कारण होने से अलंकार प्रधान तथा रस गौण होता है। भावमुख में मन के विश्राम का हेतु भाव होने से वह मुख्य तथा रस गौण होता है।]

व्याख्या—रस के लौकिक-अलौकिक आदि भेदों के पश्चात् यहाँ उनका एक और दृष्टि से विभाजन करते हैं। रस के तीन प्रकार कहे हैं—अभिमुख, विमुख और परमुख। अभिमुख रस वह है जिसकी अभिव्यक्ति स्पष्ट रूप से व्यक्त भाव, विभाव और अनुभाव से होती है। इस संदर्भ में अभिमुख का अर्थ है निकटस्थ। अर्थात् जिस रस की अभिव्यक्ति विभावादि के स्पष्ट रहने से शीघ्र ही हो जाए वह अभिमुख रस है। भानुदत्त ने इस प्रसंग में यद्यपि अभिमुख रस का उदाहरण नहीं दिया है तथापि उनका मन्तव्य स्पष्ट है। आगे चलकर उन्होंने कहा है कि अभिमुख का वर्णन यथास्थान कर दिया है। इस का आशय यह है कि छठे और सातवें अध्यायों में जो रस-विवेचन प्रस्तुत किया गया है वहाँ के प्रसंगों से अभिमुख रस को समझा जा सकता है। परमुख में रस की अनुभूति प्रत्यक्ष नहीं बल्कि क्लिष्ट-रूप में होती है क्योंकि उसमें भाव, विभाव और अनुभाव अनुक्त होते हैं। इसे आगे उदाहरण से समझेंगे। परमुख भी दो प्रकार का है—अलंकारमुख और भावमुख। अलंकारमुख में अलंकार प्रधान और रस गौण होता है। इसी प्रकार भावमुख में भाव प्रधान होता है और रस गौण। इनके उदाहरण भी आगे दिए गए हैं। भानुदत्त की यह व्यवस्था किस प्रकार ध्वनिवादियों से प्रभावित है इसका उल्लेख हमने इस ग्रन्थ की भूमिका में किया है। इसे वहाँ से समझ लें।

अत्र प्राचीनसम्मतिः—

अलंकारे च रुचिरे मनोविश्रान्तिकारिणि।
अलंकारस्य मुख्यत्वं गौणत्वं रसभावयोः ॥ २४ ॥

[यहाँ प्राचीन सम्मति प्रस्तुत करते हैं—

जहाँ चमत्कारपूर्ण तथा मन को विश्रान्ति देने वाला अलंकार हो वहाँ अलंकार ही मुख्य होता है तथा रस और भाव गौण होते हैं।]

इति । अभिमुखाः स्वस्वप्रकरण उदाहृता एव । विमुखो यथा—

[अभिमुख का वर्णन यथास्थान कर दिया है। विमुख का उदाहरण देते हैं—

मैथिली लक्ष्मणो रामः सुग्रीवः पवनात्मजः ।
लंकापुरं परित्यज्य पारं वारिनिधेर्ययुः ।। २५ ।।

[सीता, लक्ष्मण, राम, सुग्रीव और हनुमान—ये लंकापुरी को छोड़कर समुद्र पार गए ।]

अत्र संकटमखिलं समुत्तीर्यैते समागता इत्यद्भुतो रसः कष्टादवगम्यते ।

[यहाँ इतने बड़े संकट को पार करके ये आए, इस अद्भुत रस की अवधारणा क्लिष्ट है ।]

व्याख्या—इस उदाहरण में विभावादि अनुक्त हैं। केवल एक कथन ही प्रस्तुत किया गया है। प्रसंग से ही यह जाना जा सकता है कि राम, लक्ष्मण इत्यादि बड़े संकटों को झेलते हुए सीता को मुक्त कराने के लिए लंका पहुँचे और अंततः सफल होकर वापिस लौट आए। यहाँ अद्भुत-रस है किन्तु उपर्युक्त कारणों से इसकी अभिव्यक्ति प्रत्यक्ष न होकर क्लिष्ट है।

अलंकारमुखो यथा—

एषा न लेखा भ्रमतामलीनां भाति प्रभाते नवकैरविण्याः ।
आलिंगतः किन्तु तुषारभानोः कांतिः कलंकस्य वपुर्विलग्ना ।। २६ ।।

[अलंकारमुख का उदाहरण—

नवविकसित कुमुदिनी के चारों ओर प्रभात के समय यह भ्रमरों की पंक्ति नहीं घूम रही है अपितु (रात्रि में) चन्द्रमा के द्वारा आलिंगन किए जाने पर उसके कलंक की कान्ति शरीर में लग गई है ।]

अत्रापह्नुतेरलंकारस्य मुख्यता ।

[यहाँ अपह्नुति अलंकार मुख्य है ।]

व्याख्या—अपह्नुति अलंकार के विषय में पहले समझ लें। मम्मट के अनुसार—

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत्साध्यते सा त्वपह्नुतिः ।

—अर्थात् प्रकृत (अर्थात् उपमेय) का निषेध करके जो अन्य (अर्थात् उपमान) की सिद्धि की जाती है वह अपह्नुति (अलंकार कहलाता) है।

इसकी विवृत्ति इस प्रकार है—

उपमेयमसत्यं कृत्वोपमानं सत्यतया यत् स्थाप्यते सा तु अपह्नुतिः।
—अर्थात् उपमेय को असत्य सिद्ध करके उपमान को ही सत्यरूप से जो स्थापित किया जाता है वह तो अपह्नुति होती है।

शाब्दी और आर्थी—ये दो इसके भेद किए गए हैं। शब्दतः प्रकृत का निषेध किए जाने पर शाब्दी अपह्नुति और जहाँ निषेध शब्दतः न करके अर्थतः आक्षिप्त होता है वह आर्थी अपह्नुति होती है।

उपर्युक्त उदाहरण में प्रकृत अर्थात् उपमेय है कुमुदिनी के चारों ओर भ्रमरों का घूमना। यहाँ इसी का निषेध किया गया है और उपमान अर्थात् चन्द्रमा के कलंक को सत्यरूप में स्थापित किया गया है। कुमुदिनी और चन्द्रमा का संबंध स्थायी रूप में प्रसिद्ध है। चन्द्रमा को कुमुदिनीपति भी इसीलिए कहा गया है। यहाँ भाव यह है कि यह कुमुदिनी के चारों ओर भ्रमरों की पंक्ति नहीं घूम रही है बल्कि रात्रि के समय चन्द्रमा ने जो कुमुदिनी को आलिंगन-बद्ध किया था उसी कारण उसके कलंक अर्थात् काले धब्बे का चिह्न उसके शरीर पर पड़ गया है। इसमें 'एषा न लेखा' कह कर शब्दतः उपमेय का निषेध होने से यह शाब्दी अपह्नुति है। यहाँ मनोविश्राम और चमत्कार का मुख्य हेतु अलंकार है और श्रृंगार-रस गौण है। अतः यह परमुख-रस के अलंकारमुख का उदाहरण है।

भावमुखो यथा—

सप्ताम्भोनिधिनीरहीरपटलालंकारिणीं मेदिनीं
दातुं विप्रकुलाय योजितवतः संकल्पवाक्योद्यमम्।
नाभीनीररुहात्सरोरुहभुवा तत्कालमाविष्कृते
हस्ताम्भोरुहि भार्गवस्य किमपि क्रीडास्मितं पातु वः॥ २७॥

[सात समुद्रों के जलरूप हीरकसमूह के आभूषणों से युक्त पृथ्वी को ब्राह्मणों को दान देने के लिए संकल्पमन्त्रों का उच्चारण करने की तैयारी करते ही ब्रह्मा के द्वारा (नारायणावतार में) अपने नाभिकमल से तत्काल हस्तकमल प्रसारित कर दिए जाने पर भार्गव का अलौकिक क्रीड़ास्मित तुम्हारी रक्षा करे।]

अत्राद्भुतभावस्य मुख्यता, दानवीररसो गौणः।

[यहाँ अद्भुत भाव की प्रधानता है और दानवीर-रस गौण है।]

व्याख्या—यहाँ वर्णन इस प्रकार है कि भार्गव पृथ्वी को दान करना चाहते हैं। पृथ्वी के लिए कहा गया है कि वह सात समुद्रों के जलरूप हीरक-

समूह के आभूषणों से युक्त है। अर्थात्, जैसा कि लोक में प्रसिद्ध है, पृथ्वी भर में सात समुद्र हैं। ये समुद्र ही मानो जलरूप में हीरों के समूह हैं। जिस प्रकार गले में पड़े हुए हीरों के हार से रमणीमुख अतिशय शोभा को प्राप्त होता है वैसे ही यह पृथ्वी समुद्रों के जलरूप हीरकसमूह के आभूषणों से शोभित है। ऐसी पृथ्वी को भार्गव ब्राह्मणों को दान देने के लिए इच्छा करते हैं। यहाँ कल्पना की गई है कि उस पृथ्वी को दान में प्राप्त करने की इच्छा से ब्रह्मा ने अपना हाथ फैलाया है। किस प्रकार? नारायणावतार में नाभि से कमल उत्पन्न किए जाने पर। यह देखकर भार्गव के मुख पर अलौकिक क्रीड़ास्मित उत्पन्न हो गया। यहाँ पृथ्वी को दान करने का संकल्प ही है, अभी उसे दान नहीं किया। इसलिए अपरिपूर्ण मनोविकार होने से यहाँ भाव ही है, रसनिष्पत्ति नहीं हुई है। इसी के लिए कहते हैं कि यहाँ अद्भुत भाव मुख्य है और दानवीर-रस गौण है।

विद्वद्वारिधराः स्नेहं तथा वर्षत सन्ततम्।
लभते विपुलां वृद्धिं यथा रसतरंगिणी ॥ २८ ॥

[विद्वान्‌रूपी मेघ निरन्तर ऐसे स्नेह की वर्षा करें जिससे यह 'रसतरंगिणी' अतिशय वृद्धि को प्राप्त होती रहे।]

व्याख्या—मेघों द्वारा जलवर्षण से नदी पुष्ट होकर अतिशय वृद्धि को प्राप्त होती है। यहाँ भानुदत्त कामना करते हैं कि विद्वान्‌रूपी मेघों से इस 'रसतरंगिणी' नामक ग्रन्थ को अतिशय वृद्धि स्नेहवर्षा के कारण प्राप्त हो। अर्थात् विद्वान् लोग बड़े स्नेह से इस 'रसतरंगिणी' नामक ग्रन्थ को अपनाएँ जिससे यह ग्रन्थ अतिशय लोकप्रियता और प्रसिद्धि को प्राप्त हो। यहाँ मेघ विद्वान्, वर्षा स्नेह और तरंगिणी 'रसतरंगिणी' नामक ग्रन्थ है।

अवगाहस्व वाग्देवि दिव्यां रसतरंगिणीम्।
अस्मत्पद्येन पद्मेन रचय श्रुतिभूषणम् ॥ २६ ॥

[हे वाग्देवी! इस दिव्य रसतरंगिणी में अवगाहन करो और हमारे पद्य-रूप कमलों से कर्णभूषण की रचना करो।]

यावद्भानोः सुता काऽपि कालिन्दी भुवि वर्तते।
तावत्तिष्ठतु मे भानोरेषा रसतरंगिणी ॥ ३० ॥

[जब तक सूर्य की पुत्री अनुपम कालिन्दी पृथ्वी पर विद्यमान है तब तक मेरी यह रसतरंगिणी भी स्थित रहे।]

व्याख्या—यहाँ प्रकारान्तर से 'रसतरंगिणी' नामक ग्रन्थ के अमरत्व की

कामना की गई है। यमुना को सूर्य की पुत्री कहा गया है। यह यमुना जब तक पृथ्वी पर बहे तब तक भानुकृत 'रसतरंगिणी' नामक ग्रन्थ भी लोक में प्रसिद्ध रहे। सूर्य अर्थात् भानु की पुत्री यमुना और भानुकविकृत 'रसतरंगिणी'। अर्थात् यमुना का जनक है सूर्य अर्थात् भानु और 'रसतरंगिणी' का कर्ता है भानु-कवि। जिस प्रकार पृथ्वी पर भानुसुता यमुना सदैव प्रवाहित रहेगी इसी प्रकार भानुकृत यह 'रसतरंगिणी' भी लोक में सदैव प्रसिद्धरूप में अमर रहेगी।

इति श्रीभानुदत्तमिश्रविरचितायां रसतरंगिण्यां प्रकीर्णक नामाष्टमस्तरंगः।

[भानुदत्त मिश्र द्वारा विरचित 'रसतरंगिणी' की प्रकीर्णक नामक अष्टम तरंग समाप्त हुई।]

समाप्तोऽयं ग्रन्थः।

रसतरङ्गिणीस्थोदाहरणश्लोकानामकाराद्यनुक्रमणिका।

प्रमाणत्वेनोद्धृतानां ग्रन्थानां नामानि ।

		पृष्ठस्य	पङ्क्तौ
कुमारसंभवम्	···	१०	२६
कादम्बरी	···	१०	२६
रघुवंशम्	···	१०	२६
रसरत्नदीपिका	···	१०	३१
शृङ्गारतिलकम्	···	५६	२२
अयोध्यावर्णनम्	···	७७	२९
रसमञ्जरी	···	११३	४

अशुद्धशोधनम्

पृष्ठ/पंक्ति	मुद्रित	शुद्ध
२०/८	वक्तिः	वक्ति
३२/२०	वीभत्सस्य	बीभत्सस्य
३९/१३	चानुभवः	चानुभावः
४७/१८	वदन वैवर्ण्य	वदनवैवर्ण्यं
४७/२६	वक्रकुहरे	वक्त्रकुहरे
५८/२४	वक्रं	वक्त्रं
६१/११	अगाकृष्टचा	अंगाकृष्टचा
६६/१	निःसहता	निःसहता
८३/२२	न्यासस्तृतीय	न्यासैस्तृतीय
८६/६	दधुर्भूरूहाः	दधुर्भूरुहाः
९१/३१	वक्र	वक्त्र
९४/२३	वक्रारविन्दे	वक्त्रारविन्दे
९७/१३	कूर	क्रूरं
११०/२८	विष्णुवर्णाः	विष्णुर्वर्णाः
११३/२६	सदव	सदैव
११८/२	पुन	पुनः
१२५/२	प्रम	प्रेम
१२८/२	स्वनिष्ठ	स्वनिष्ठः
१३४/२५	स्पद्ध	स्पर्द्ध
१४४/३	भृत	भृतः
१६६/७	गिरिमय	गिरिमयं
१६८/१०	प्रविचलमिद	प्रविचलमिदं

संस्कृत साहित्य एवं भाषा-विज्ञान के हमारे कतिपय अनमोल प्रकाशन

वाक्यपदीयम (ब्रह्मकाण्डम्) : संस्कृत, अंग्रेजी, हिन्दी-भाषा टीका सहित—टीकाकार डा० सत्यकाम वर्मा । 12.50

व्याकरण की दार्शनिक भूमिका : (भर्तृहरि की अमूल्य-निधि जिसे पाकर विचार जगत धन्य हो उठा)——डा० सत्यकाम वर्मा । 42.00

सैद्धान्तिक भाषा विज्ञान : लेखक—जोन लियोन्स अनुवादक—डा० सत्यकाम वर्मा । 38.00

हिन्दी ध्वनिकी और ध्वनिमी : लखक—रमेशचन्द्र महरोत्रा (हिन्दी के उच्चारण, अर्थात् उसकी ध्वनियों और ध्वनि-गुणों की व्याख्या पर एक अनुपम पुस्तक) 18.50

प्राकृत प्रवेशिका : लेखक—आल्फ्रेड सी० वूलनर अनुवादक—बनारसी दास जैन 18.50

भारतीय साहित्य और संस्कृति : लेखक डा० हरिदत्त शास्त्री 6.00

भारतीय प्राचीन लिपिमाला : लेखक—रायबहादुर पं गौरीशंकर हीराचन्द ओझा 75.00

Rg-Bhasya-Sangraha, Edited by Dr. Dev Raj Chanana. 16.00

Hemachandra's Dvyasraya Kavya, A Literary and Cultural Study *by* Dr. Satya Pal Narang. 30.00

Some Aspects of Literary Criticism in Sanskrit *by* Dr. A. Sankaran. 25.00

A History of Sanskrit Literature *by* Arthur A. Macdonell. 10.00

Essays on Sanskrit Literature (Bearing on Ancient Sanskrit Literature and Indian Culture) *by* Sadhu Ram. 10.00

Bhasa's Balacaritam (with introduction in English and Hindi, Hindi Translation, Pada index, Sanskrit and Prakrit word indices, Metrical Analysis etc.) *by* Dr. S.R. Sehgal with a foreword by Dr. V. Raghavan 12.50

रु० २२.००